श्रीः।।
सं. ग्र.
३८
तन्त्रामोद एवं शिवताण्डव
डॉ. महाप्रभुलालगोस्वामी

।। श्रीः ।।
काशी संस्कृत ग्रंथमाला २३८

# तन्त्रामोद एवं शिवताण्डव

आचार्यचक्रपाणिकृत

शिवलहरी - व्याख्यासहित

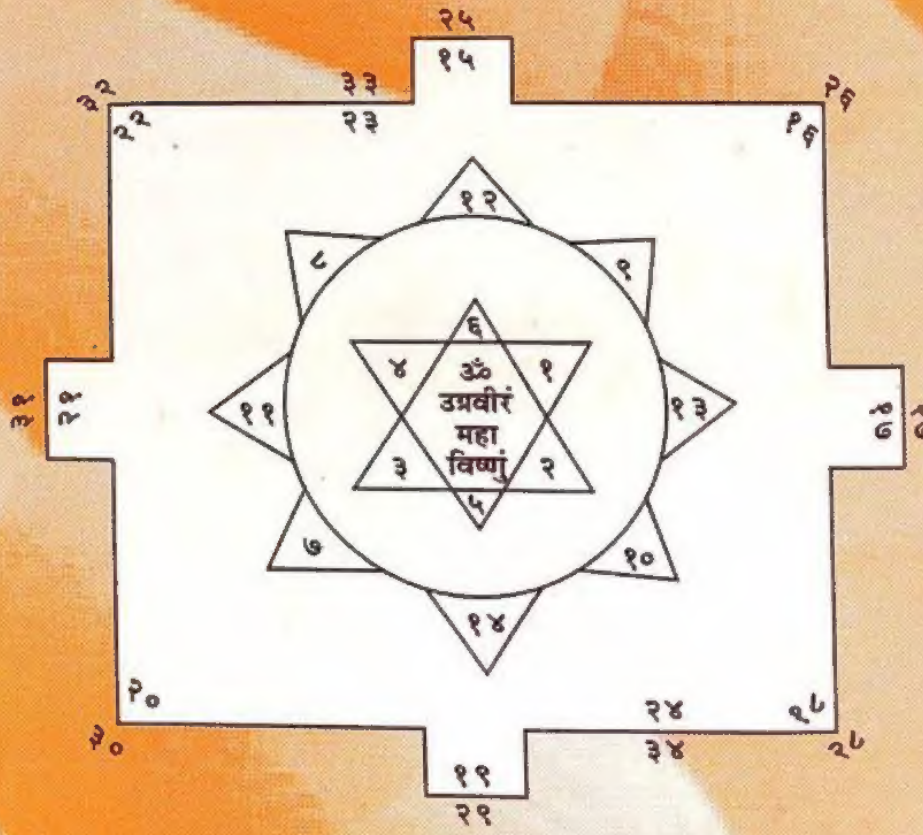


डॉ. महाप्रभुलालगोस्वामी

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

२३८

# तन्त्रामोद

एवं

# शिवताण्डव

आचार्यचक्रपाणिकृत

## शिवलहरी-व्याख्यासहित


डॉ० महाप्रभुलालगोस्वामी

भूतपूर्वसंकायाध्यक्ष, दर्शनविभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय
राष्ट्रपतिसम्मानित, एम० ए०, पी-एच्०-डी०, डी० लिट्०,
स्वर्णपदकप्राप्त - न्यायव्याकरणसाहित्यवेदान्ताचार्य, मीमांसाशास्त्री



चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक
पोस्ट बाक्स नं० ११३९
के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन ( गोलघर समीप मैदागिन )
वाराणसी-२२१००१ ( भारत )

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
मुद्रक : श्रीगोकुल मुद्रणालय, वाराणसी
संस्करण : प्रथम वि० संवत् २०५०
मूल्य : रु० १५०-००

© चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
इस ग्रन्थ के परिष्कृत तथा परिवर्धित मूल पाठ
एवं टीका, परिशिष्ट आदि के सर्वाधिकार
प्रकाशक के अधीन हैं।

फोन : ३३३४४५

अन्य प्राप्तिस्थान
**चौखम्भा संस्कृत भवन**
पोस्ट बाक्स नं० ११६०
चौक ( चित्रा सिनेमा के सामने )
वाराणसी-२२१००१ ( भारत )
फोन : ३२०४१४

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

238

# TANTRĀMOD

and

# ŚIVATĀNDAVA

with

Acārya Cakrapāṇī

ŚIVALAHARĪ ANNOTATIONS

Dr. MAHĀPRABHULĀL GASWĀMĪ

Ex-Din, Faculty of Philosophy, Sampurnānand Sanskrit Vishwavidyālaya, President Awardeded M.A., Ph-D., D. Lit., Gold Medalist, Nyāya-Vyākaraṇa-Sāhitya Vedāntācārya and Śāstry in Mīmāṁsā Philosophy.

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

*Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature*

**Post Box No. 1139**

K. 37/116, Gopal Mandir Lane ( Near Golghar Maidagin )

VARANASI-221 001 ( INDIA )

© *Chaukhambha Sanskrit Sansthan, Varanasi*

**Phone : 333445**

**First Edition : 1993**

*Also can be had of*

**CHAUKHAMBHA SANSKRIT BHAWAN**

**Post Box No. 1160**

**Chowk ( Opposite Chitra Cinema )**

**VARANASI–221001**

**Phone : 320414**

# प्रस्तावना

सामान्यरूप से सभी शास्त्रों को तन्त्र शब्द से कहा गया है। सांख्य दर्शन का दूसरा नाम कापिलतन्त्र या षष्टितन्त्र है, वेदान्त-दर्शन का नाम उत्तर-तन्त्र है, न्यायदर्शन का गोतमतन्त्र है, मीमांसादर्शन का नाम पूर्व-तन्त्र है। शङ्कराचार्य ने बौद्धक्षण-भङ्गवाद को वैनाशिकतन्त्र नाम से निर्देश किया है। प्रसिद्ध-दार्शनिक श्रीवाचस्पतिमिश्र की उपाधि 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' थी। बृहत्संहिता में ज्योतिषशास्त्र के विभाग विशेष को तन्त्र कहा है।[1] किन्तु उपासना विशेष के प्रतिपादक शास्त्रविशेष के अर्थ में तन्त्र शब्द का प्रयोग होता है। इस अर्थ में तन्त्र शब्द विशेष प्रसिद्ध है। इसी अर्थ में आगम शब्द भी प्रयुक्त होता है एवं 'तन्त्र' आगम का विशेष विभाग-स्वरूप गृहीत होता है। तन्त्रसार तन्त्रसमुच्चय, तन्त्रालोक आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम भी इससे निर्दिष्ट होता है।

वाराही तन्त्र में आगम, तन्त्र, यामल, डामर आदि के लक्षण के निर्देश के प्रसङ्ग में इसके आलोच्य विषय का आभास मिलता है।

"सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां तथार्चनम्।
साधनञ्चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥
षट्कर्मसाधनञ्चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद्विदुर्बुधाः॥

पाञ्चरात्र तन्त्र के आलोच्य विषयों का दशभाग में विभक्त किया है।[2] मतङ्गपरमेश्वरीतन्त्र से विद्या, क्रिया, योग और चर्यानाम से चार भाग में विभक्त किया है। टीकाकार रामकण्ठ के द्वारा योग और चर्या स्थल में उपास्या और सिद्धि यह व्यवहार किया गया है।

---

१. बृहत्संहिता १।६।, २. अहिर्बुध्नसंहिता अ० १०।

यह विभाग ही इस सम्बन्ध में कुछ आभास प्रदान करता है। वस्तुतः तन्त्र का आलोच्य विषय दर्शन और क्रिया है। इस प्रकार दो श्रेणी कही गई है—योगतन्त्र और क्रियातन्त्र है। तन्त्रोक्त उपासना की आलोचना करने पर मूलमन्त्र, बीजमन्त्र, मुद्रा, आसन, देवता का प्रतीक स्वरूप, वर्ण रेखात्मक यन्त्र, पञ्चमकार का व्यवहार, कार्य की सिद्धि के लिए मारण, उच्चाटन वशीकरण आदि छ कर्मों का आलम्बन एवं योगानुष्ठान है। कालक्रम में तन्त्रोपासना को पूर्णाङ्ग करने के लिए दश संस्कार, श्राद्ध, प्रायश्चित्त आदि वैदिक क्रियाकलापों का तान्त्रिक भेद कल्पित किया गया है।

प्राचीन काल से ही यह भूतल के अनेक स्थानों में विविध रूपों से चल रहा है। भारत में तान्त्रिक अनुष्ठान के साथ दार्शनिकता का समावेश करने की चेष्टा हुई थी। आदिवासियों के मध्य में तान्त्रिक आचार का प्राचीनतम रूप उपलब्ध है। तन्त्र के छ कर्मों के और कौलाचार के अनुरूप क्रिया, उपासना में मद्यादिका व्यवहार मन्त्र शक्ति में विश्वास, ये प्राचीन जातियों में देखा जाता है। प्राचीन धर्मों के ये ही अङ्ग हैं। दूसरे को वश में करने के लिए विभिन्न क्रियाओं का अनुष्ठान भी प्राचीन काल में विशेष रूप से प्रचलित था। इस प्रकार की क्रिया को Sympathetic या imitative magie नाम से कहा है। मोम या उसी प्रकार के द्रव्य के द्वारा व्यक्ति विशेष की प्रतिकृति प्रस्तुत कर, इसको अभिमन्त्रित कर एवं शत्रु के अङ्ग आदि का या प्राण का विनाश करने के लिए नख आदि के द्वारा प्रतिकृति को आहत कर या अग्नि में पिघलाने की प्रथा सेमेटिक जाति के मध्य में प्रचलित थी[1], इरानियों में भी यह प्रथा थी।

उपासना के अङ्ग रूप में इन्द्रिय पर तन्त्र कार्यावली का उदाहरण विभिन्न देशों में भी मिलता है। ग्रीस और रोम में 'पान' पूजा में इस प्रकार के कार्यों का उल्लेख मिलता है। प्रशान्त-महासागर के किसी-किसी द्वीप में आज तक प्रकाश्य रूप में स्त्री

---

1. Sematic magie its origin and developnenl, Thompson पृ० २४२–४३

मन्त्रादि कार्य धर्मानुष्ठान के अङ्ग रूप में विवेचित होता है।[1] यह इन्द्रिय परतन्त्रता या लिङ्ग-पूजा का चिह्न परवर्ती युग में अनेक देशों में विभिन्न धर्मानुष्ठान के मध्य में देखा जाता है।[2] ओयाल साहब के मत में सभी धर्मों में गौण या मुख्य रूप में लिङ्ग-पूजा का प्रभाव परिलक्षित होता है। नायक नायिका के प्रेम और रति सुख भोग का विस्तृत वर्णन रूपक की कल्पना कर भगवान् की उपासना का विवरण सूफी वैष्णव एवं ग्रीष्टान सम्प्रदाय के बीच में प्रचलित था। अपने को स्त्री के रूप में कल्पना कर भगवान् की उपासना की प्रथा तन्त्र में और ग्रीष्टान सम्प्रदाय विशेष में अज्ञात नही थी। धर्मोत्कर्ष के लाभ के लिए मादक द्रव्य का व्यवहार भी आदिवासियों में मिलता है।[3]

सम्पूर्ण विश्व में अभिचार कार्य में आपाततः निरर्थक शब्द-समष्टि का अलौकिक शक्ति में विश्वास का अतिशय देखा जाता है। वस्तुतः जो शब्द दुर्बोध्य है, वही अधिक फलोत्पादक माना जाता है।

भारत की तान्त्रिकता:—

भारत में तान्त्रिक आचार कितने दिनों से प्रवर्तित हुआ है—यह कहना कठिन है, किन्तु, अनुसन्धान करने से यह अवगत होता है कि विभिन्न अनार्य जातियों में तान्त्रिक आचारों के अनुरूप आचार अतिशय प्राचीन है। अनार्यों से ही आर्यों ने इस विषय में विशेष प्रेरणा ग्रहण की है और इसको वैदिक संस्कृति के अनुसार नियमबद्ध किया है।[4] कतिपय तान्त्रिक अनुष्ठानों की सूचना प्रागैतिहासिक युग में भी भारत में मिलती है। कतिपय लिङ्ग-मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं।

श्यामशास्त्री के मत में ख्रीष्ट के जन्म से हजार वर्ष पूर्व से

---

१. Journal of the Antropological Society, Bombay
पृ० ५८५

२. Sexworship and Synbolism of Primitive Races, Brown
पृ० २६–२८

३. " " " पृ० २३

४. दिव्यवाणी पत्रिका १३६६ औष पृ ६४५

ही भारत में तान्त्रिक अनुष्ठान मिलता है।[1] ईसा से पूर्व छठी और सातवीं शताब्दी के कतिपय मुद्राओं में जो दुर्बोध्य चिह्न मिलता है, उनके सिद्धान्त में तान्त्रिक यन्त्र को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं है।

वैदिक साहित्य के प्राचीनतम भाग में भी तन्त्र का पूर्व स्वरूप निश्चित रूप से मिलता है। वस्तुतः तान्त्रिक सिद्धान्त के अनुसार सभी तान्त्रिक अनुष्ठान वेद से ही उत्पन्न हुआ है।[2] वैदिक मन्त्रों में ही तान्त्रिक बीज मन्त्र आदि अनुस्यूत है। सामान्य धारणा यह है कि तन्त्रमत अथर्ववेद के सौभाग्य काण्ड से गृहीत हुआ है, कतिपय तन्त्र ग्रन्थों में इसका स्पष्ट निर्देश मिलता है। काली-कुलार्णव-तन्त्र में लिखा है—'अथात आथर्वसंहितायां देव्युवाच'। रुद्रयामल के सतरह पटल में देवी को अथर्ववेदशाखिनी कहा गया है। दामोदर कृत यन्त्र-चिन्तामणि की भूमिका में ग्रन्थ की प्रशंसा के प्रसङ्ग में अथर्ववेद का सारभूत कहा गया है।[3] कौलाचार में भी वैदिकत्व ही प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ में[4] कुल शास्त्र को 'वेदात्मक' कहकर निर्देश किया गया है। कुलाचार की मूलभूत कतिपय श्रुतियों का निर्देश किया गया है।[5] श्यामशास्त्री ने यह प्रदर्शित किया है कि तान्त्रिक यन्त्र और चक्र का वर्णन तैत्तिरीय आरण्यक आदि वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध है।[6] सौन्दर्यलहरी के बत्तीसवें श्लोक की टीका में लक्ष्मीधर ने श्रीविद्या का वैदिकत्व प्रतिपादन के लिए तैत्तिरीय ब्राह्मण और आरण्यक से अनेक श्रुतियों का उल्लेख किया है।

निरपेक्ष भाव से देखने पर वेद में तान्त्रिकता का आभास स्पष्ट अनुभूत होता है। ऐतरेय आरण्यक में[7] तान्त्रिक मन्त्र के अनुरूप एक मन्त्र है। सायणाचार्य की दृष्टि में यह मन्त्र अभिचार कर्म में प्रयुक्त होता है।

---

१. Indian Antiluary १९०६ पृ० २९८

२ मीमांसादर्शन तन्त्रवार्तिक के प्रथम भाग की भूमिका देखें।

३. कुलार्णवतन्त्र २।१०, ४. कुलार्णवतन्त्र २।८५

५. २।१४०–४१

६. Indian Antivuary १९०६ पृ० २६२–२६७

७. ४।२६

धर्मार्थ का इन्द्रिय के उपभोग के लिए निदर्शन भी वेद के अनेक अंश में परिलक्षित होता है। शतपथब्राह्मण, बृहदारण्यकोपनिषद् आदि ग्रन्थों में स्त्री-सङ्ग-प्रभृति का आध्यात्मिक भाव प्रदर्शन करने की चेष्टा की गई है। वामदेव्य उपासना का सुस्पष्ट निर्देश है कि स्त्रियों का परिहार नहीं करें। मादक द्रव्यों के व्यवहार का उल्लेख भी वेद में मिलता है। सौत्रामणि याग में सरस्वती को अश्विनीकुमारों को सुरा प्रदान कराने का विधान है। वाजपेय यज्ञ में भी ऐसी विधि देखी जाती है। वैदिक साहित्य में सोमरस का बहुत व्यवहार है, जिसमें मादकता गुण विशेष रूप में पाया जाता है।

तान्त्रिक अनुष्ठान में पशु-बलि के समान ही वैदिक यज्ञ में भी पशु-बलि का विधान है। इस उपलक्ष्य में नर, अश्व, वृष, मेष और छाग के बलिदान की विधि है।

तान्त्रिक षट् कर्मों का भी सामान्य परिचय वैदिक युग में प्राप्त होता है। अथर्ववेद का अधिक अंश इन्हीं विवरणों से परिपूर्ण है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में १८५, १८९ सूक्तों में सपत्नी-विनाशन और पति-वशीकरण की चर्चा है। तैत्तिरीयसंहिता में[1] सांग्रहणी नामकी इष्टि का विवरण मिलता है। इस सांग्रहणी इष्टि और तान्त्रिक वशीकरण में कोई विशेष भेद नहीं है। तैत्तिरीयब्राह्मण[2] में देखा जाता है कि प्रजापति की दुहिता सीता ने सोम को वशीभूत करने के लिए आभिचारिक क्रियाओं का आश्रयण किया था।

बौद्ध और जैन के प्रादुर्भाव के समय में तान्त्रिक आचार प्रचलित था। तन्त्र शब्द का उल्लेख न होने पर भी तान्त्रिक आचार के अनुरूप आचार का उल्लेख प्राचीन बौद्ध और जैन साहित्य में अनेक स्थलों में मिलता है। डॉ० श्री वेणीमाधव बड़ुआ ने A History of prebudhistic Indian Philosophy के पृ० १९६–१९७, ३३७ एवं डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य ने calcutta Review १९२७ पृ० ३५३ में और बड़ौदा से प्रकाशित साधनमाला ग्रन्थ की भूमिका 'A Peep into later Buddhism ( Annals of the Bhandarkar Research Institute–Vol x ) आदि ग्रन्थों में और प्रबन्धों में इस विषय को विस्तृत

---

१. २।३।९।१, २. २।३।१०

आलोचना की गई है। इनके अतिरिक्त तेविज्ज सूक्त से अवगत होता है कि एकदल श्रमण और ब्राह्मण शरीर की रक्षा और अनिष्ट के परिहार के लिए मन्त्रादि शिक्षा देते हैं। कोई-कोई बाद में विविध उन्नति या अवनति के साधन के लिए मन्त्रादि की शिक्षा देते थे। ब्रह्मजाल सूक्त में भी तन्त्राचार के समान अनेक आचारों का उल्लेख मिलता है।

## तन्त्र ग्रन्थ की प्राचीनता

तान्त्रिक आचार्य के अनुरूप आचार बहुत प्राचीन काल से प्रचलित होने पर भी प्राप्य तन्त्र ग्रन्थ बहुत प्राचीन नहीं है। वस्तुतः बहुत प्राचीन किसी भी ग्रन्थ में तन्त्र शब्द का उल्लेख भी नहीं मिलता है। वैदिक साहित्य में 'तन्त्र' शब्द का व्यवहार होने पर भी यह प्रयोग शास्त्र विशेष के अर्थ में नहीं है। तान्त्रिक उपनिषद् ग्रन्थ वैदिक युग में रचित हुआ कि नहीं—इसमें सन्देह ही होगा, क्योंकि उनके भाव और भाषा वैदिक युग को प्रतीत नहीं होती है। दूसरी बात यह है कि किसी-किसी तन्त्र ग्रन्थ में आधुनिक अनेक विषयों का निर्देश मिलता है। गोपीनाथ राव ने Elements of Hindu Iconography के प्रथम अंश की भूमिका में लिखा है कि वैष्णव और शैव आगम का अनेक ग्रन्थों में सप्तम से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी के अनेक आचार्यों का और उनके विषय का उल्लेख मिलता है। तारा की उपासना एवं तारोपासना के प्रति प्राप्त ग्रन्थ ई० के छठी और सातवीं शताब्दी के पहले के नहीं हो सकते। हीरानंद शास्त्री ने इसी विषय तो बड़े अच्छे ढंग से कहा है—[1]

अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक की जयरथ टीका में एक श्लोक उद्धृत है, उससे यह अवगत होता है कि कुलाचार मीननाथ या मत्स्येन्द्रनाथ के द्वारा पृथिवी में अवतीर्ण किया गया है।[2] षोडश-नित्यातन्त्र में कहा गया है कि—"तन्त्रं मदुक्तम् भुवने नवनाथैर-

---

१. Orgin and cult of Tara—Memoir Archaeological Survey. No—20

२. भैरव्या भैरवात्प्राप्तं योगं व्याप्य ततः प्रिये। कामरूपे महापीठ-यच्छन्देन महात्मना। तत्साकाशात्तु सिद्धेन मीनाख्येन वरानने।

कल्पयत्' इससे भी अवगत होता है कि यह पूर्व में नाथ सम्प्रदाय सम्प्रदाय कर्तृक कुलाचार तन्त्र है। ईशा की नवम शताब्दी के पूर्व नाथ सम्प्रदाय का आविर्भाव नहीं हुआ था। यह Wssiijuw आदि पण्डितों का मत है। अतः कौलतन्त्र इससे पूर्व का नहीं है, यह मानना होगा। कतिपय तन्त्र ग्रन्थों में अत्याधुनिक विषयों का भी उल्लेख मिलता है। बोगिनी तन्त्र के १३–१४ में कूचविहार राजवंश के प्रतिष्ठाता विष्णु सिंह और वेणु सिंह का वर्णन मिलता है। विश्व-सारतन्त्र में वैष्णवकुल चुड़ामणि नित्यानंदपाद का जन्मवृत्तान्त लिखा गया है।[1] मेरुतन्त्र में अंग्रेजों का उल्लेख है।[2] किसी-किसी ग्रन्थ में विशेष रूप से शाबरतन्त्र में विभिन्न प्रदेशों की भाषाओं का मन्त्र मिलता है। इससे भी इन ग्रन्थों को आधुनिकता सिद्ध हो रही है। आधुनिक ग्रन्थ औपौरुषेय था। शिव आदि देवों से प्रणीत कहकर प्रचलित किया गया है। स्वभावतः इससे सभी के मन में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। प्राचीनकाल में ऐसा सन्देह नहीं होता था—ऐसी बात नहीं है, किन्तु सिद्ध वैष्णवाचार्य यामुनाचार्य ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि एक दल ने इस वर्त्तमान काल में भी आगम के नाम से आगम विरुद्ध अर्थों को तैयार किया है—अद्यत्वेऽपि दृश्यन्ते केचिदागमैकच्छलाः। अनागमिकमेवार्थं व्याचक्षाणा विचक्षणाः। ( आगम प्रमाण पृ० ४ )

इनसे अतिरिक्त एक सम्प्रदाय अन्य सम्प्रदाय के दोषोद्घाटन के समय उसकी अर्वाचीनता को प्रतिपादन करते हुए उनकी त्रुटियों का उल्लेख करता है। पाञ्चरात्र प्रमाण ग्रन्थ में वेदोत्तम ने स्पष्ट ही कहा है—"केनचिदर्वाक्तनेन क्षेत्रज्ञेन महेश्वरसमाननाम्ना त्रयी-मार्गबहिष्कृतेयमङ्गप्रक्रिया विरचिता। तन्नामसमान्येन केचित् भ्रान्ताः। महेश्वरोपदिष्टमार्गमवलम्बितवन्तः" अर्थात् महेश्वर के नाम से अर्वाचीन एक व्यक्ति वेद विरुद्ध तन्त्र मार्ग का प्रचार करता है। नाम में सादृश्य होने के कारण कोई-कोई उसको महादेव प्रणीत मानकर उस मार्ग का अवलम्बन करने लगते हैं। यामुनाचार्य ने तन्त्रप्रमाण्य ग्रन्थ में पाञ्चरात्र विरोधियों के मत का उपस्थापन करते हुए कहा है कि—वासुदेवाभिधानेन केनचिद्

---

१. महानिर्वाण तन्त्र भूमिका पृ० ११

२. इंरेजा नवषट्पञ्चो–१३–१४, मेरुतन्त्र

विप्रसुनूना प्रणीतं प्रस्तुतं तन्त्रमिति निश्चिनुमो वयम् अर्थात् वासुदेव नाम से एक प्रवक्ता व्यक्ति तन्त्रशास्त्र का प्रणयन करता है। पाञ्चरात्रमत के स्वादन प्रसङ्ग में किसी पुराण की भी कथा उपलब्ध होती है जैसे—कूर्मपुराण के मत में सात्वद्वंशीय अंशु-नामक व्यक्ति ने कुम्भगोलादि जाति के लिए एक शास्त्र लिखा है, उसके नाम के अनुसार सात्वत् नाम से प्रचलित है। वस्तुतः ठगने के लिए ही हो था अन्य कारण कतिपय तन्त्र ग्रन्थ विशेष प्राचीन नहीं है। वरन् आधुनिक व्यक्तियों के द्वारा हो रचित है। तन्त्र ग्रन्थों में इसका प्रमाण उपलब्ध है। देवता के द्वारा व्यक्ति विशेष को प्राप्त होकर कतिपय ग्रन्थ पृथिवी पर आये इसका भी उल्लेख मिलता है या कोई-कोई ग्रन्थ व्यक्ति विशेष की रचना के रूप में निर्दिष्ट होते है। नेपाल में श्रीमदुत्तर तन्त्र शिवकर्तृक पार्वती को निर्देश कर कहे जाने पर भी वह ग्रन्थ श्रीकण्ठनाथ से अवतीर्ण है। महाकौलज्ञाननिर्णयग्रन्थ श्रीमत्स्येन्द्रनाथ से प्रचलित है। ब्रह्म-यामल के अन्तर्गत योगविजयस्तवराज स्वर्ग से पिप्लादमुनि के नामका प्रवाद यह है कि काश्मीर शैव दर्शन का मूल ग्रन्थ महादेव निर्मित वसुगुप्त को स्वप्न में प्राप्त हुआ है। नेपाल में पूर्वाम्नाय-तन्त्र रत्नदेव के द्वारा रचित है यह उल्लेख है। इसी प्रकार ज्ञान-लक्ष्मी या जयाख्यसंहिता चन्द्रदत्त की रचना है।

यह सत्य है कि कतिपय तन्त्र ग्रन्थ के अत्याधुनिक होने पर भी तन्त्रशास्त्र को या तन्त्र ग्रन्थ मात्र को आधुनिक नहीं माना जा सकता। तन्त्र ग्रन्थों में अनेक ग्रन्थ बहुत प्राचीन है—इसमें सन्देह नहीं है। तन्त्र की भावधारा भी बहुत प्राचीनकाल से अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है—इसमें सन्देह नहीं। अनेक पुराणों में तन्त्र की निन्दा एवं तन्त्रोत्पत्ति का विवरण मिलता है। अतः उन पुराणों की अपेक्षा तन्त्र शास्त्र की प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं रहता। तन्त्र विरोधी सम्प्रदाय मनुसंहिता आदि में कतिपय वचन तन्त्र निन्दा के रूप में व्याख्यात है। पाञ्चरात्र और पाशुपत सम्प्रदाय का उल्लेख अनेक धर्मशास्त्रों में मिलता है। महाभारत और पुराण में भी इसका उल्लेख है। कतिपय तन्त्र-ग्रन्थों का समय निश्चित रूप से स्थिर किया जा सकता है। महामहोपध्याय हरदत्त शास्त्री ने कतिपय तन्त्र शास्त्रों के ग्रन्थों में गुप्त जी का उल्लेख देखा है। नेपाल की लाईब्रेरी में उसका विस्तृत विवरण भी ग्रन्थ तालिका

में लिपिबद्ध किया है। बौद्ध तन्त्रों का पूर्व रूप बौद्ध-धारणि आदि अतिशय प्राचीन है। विख्यात चीन परिव्राजक फाहियान ने धारणि से युक्त सुरङ्ग सूत्र का पाठ करते है। बील महोदय के मत में ये ग्रन्थ ई० की पहली शताब्दी से बाद का नहीं हो सकता है, क्योंकि पञ्चम शताब्दी में इस चीन यात्री ने अतिशय श्रद्धा और सम्मान के साथ इसका परिचय दिया है। इयूयान चोशोत्तर के मत में मन्त्रयान सम्प्रदाय का धारणि और विद्याधर पीटक ई० की पहली या दूसरी शताब्दी में महाषाङ्गिक के समय से चल रहा है। तारानाथ के मत में बसुबन्धु के भाई असंग ने बौद्धों में तन्त्र का प्रचार किया। इनके ग्रन्थों को उन्होंने लिखा है। शरबुद्धकपालतन्त्र, लुइया, थोगिनी, संचरजा, डम्बल और पद्म वज्र है, वज्रतन्त्र कृष्णाचार्य, सम्पुट-तिलक, ललितवज्र कृष्णयमारितन्त्र, गम्भीरवज्र, महामाया एवं पीतो नामक व्यक्ति ने कालचक्र तन्त्र को प्रस्तुत किया था। डा० विनयतोष भट्टाचार्य के मत में सरह आदि बहुत प्राचीन काल के थे। ई० के सातवी और आठवीं शताब्दी में ये उत्पन्न हुए हैं। इसके अतिरिक ई० की सप्तम शताब्दी के हस्तलिखित जापान के हरिऊजिबिहार में रक्षित ग्रन्थों में पाँच तन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध हैं—बौद्ध, शमन, अमोघ, वज्र ७४६ से ७७१ शताब्दी में चीन में थे। उन्होंने चीन भाषा में सतहतर ग्रन्थों का अनुवाद किया। उनमें उसनीशचक्रवर्तीतन्त्र, गरुडगर्वतन्त्र, वज्रकुमारतन्त्र आदि कतिपय तन्त्र ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। अतीशदीपङ्कर चार प्रकार के तन्त्र के पारदर्शी थे—ऐसा उल्लेख मिलता है। ई० के नव शताब्दी के प्रारम्भ में ही तन्त्रोपासना एवं कतिपय तन्त्र ग्रन्थ कंबोज में प्रवृत हुआ। ( द्रष्टव्य ) P. C. Bagchi—Indian Histordical quaterly V. page–754 To 758. ये सभी ग्रन्थ बहुत पूर्व काल में भारत में वर्त्तमान थे, यह अनुमान किया जा सकता है। लिखित विवरण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तन्त्र ग्रन्थों में कतिपय अतिशय प्राचीन है। कालक्रम में पुराणादि का मत अनेक स्थानों में संस्कृत और परिवर्धित नहीं हुआ—ऐसी बात नहीं। किन्तु कुछ तन्त्र अपेक्षाकृत आधुनिक युग में लिखे गये हैं—इसमें सन्देह नहीं।

तन्त्र ग्रन्थ या तान्त्रिक आचार्य कितना भी प्राचीन हो फिर भी इसकी प्रमाणिकता के विषय में बहुत प्राचीन काल से ही विभिन्न

मतों का परिचय मिलता है। तान्त्रिक आचार्यों ने इसकी प्रमाणिकता के लिए इसका वैदिकत्व एवं अपौरुषेयत्व के प्रतिपादन के लिए बहुत प्रयास किया। इसकी प्रमाणिकता के लिए अनेक ग्रन्थ लिखे गये। इनमें यामुनाचार्य कृत तन्त्रप्रमाण वेदोत्तम के पाञ्चरात्र-प्रामाण्य, वेदान्तदेशिक कृत पाञ्चरात्ररक्षा एवं भट्टोजिदीक्षित कृत तन्त्राधिकारिनिर्णय विशेष रूप से उल्लेख योग्य है, इनको छोड़कर अन्य ग्रन्थों में भास्करराय, लक्ष्मीधर आदि की विवेचना प्रसिद्ध है। किन्तु इनमें एक वैशिष्ट्य है कि अपने सम्प्रदाय के प्रमाणको स्थापित करने के लिए दूसरे सम्प्रदाय की अप्रामाणिकता भी दिखायी गयी है। यथा पाञ्चरात्र ग्रन्थों में शाक्तों की निन्दा, शाक्त ग्रन्थों में पाञ्चरात्र की निन्दा देखने को मिलती है। एक सम्प्रदाय के ग्रन्थ में उसके अन्तर्गत उपसम्प्रदाय और शाखाओं की निन्दा प्रचुर रूप से देखने को मिलती है। कौलमार्गविलम्बी समयमार्ग का और समयमार्गविलम्बी कौलमार्ग का पश्चाचारी कुलाचारियों का और कुलाचारी पश्चाचारियों का जमकर निन्दा करते है। इस प्रकार का निन्दाक्रम प्राचीन ग्रन्थो में मिलता है। प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रन्थों में जहाँ तान्त्रिक आचार के समान आचार का उल्लेख है वही निन्दनीय अंश का भी प्रतिपादन करने की चेष्टा की गयी है। बौद्ध ग्रन्थ में अनेक स्थलों में यह दुष्कृत या सुकृत नाम से कहा जाता है। कतिपय धर्मशास्त्र के वचनों को जो परवर्ती व्याख्याताओं ने तन्त्र-निन्दा के रूप में व्याख्या करते हैं यह तो स्पष्ट ही हैं। पुराण में भी किसी-किसी ग्रन्थ की स्पष्ट निन्दा मिलती है। पुराणादि ग्रन्थों में तन्त्र निन्दा के स्थल में ही तन्त्र शास्त्र को अवैदिक और वेद बाह्य कहा गया हैं--ऐसी बात नहीं है, वरन् विभिन्न उपासना पद्धति के उल्लेख प्रसङ्ग में भी तन्त्रोपासना और वैदिकोपासना का स्वतन्त्र रूप से उल्लेख मिलता है। इससे यह अवगत होता है कि पुराणादि के मत में तन्त्रोपासना वैदिक उपासना के अन्तर्भूत नहीं है। गुप्त युग में लिखित नेपाल की लाइब्रेरी में निःश्वासतन्त्रसंहिता-नामकेतन्त्र ग्रन्थ में तन्त्रशास्त्र के अवैदिकत्व की प्रथम सूचना मिलती है। सौन्दर्य-लहरी की टीका में लक्ष्मीधर में कौलमार्ग को अवैदक कहा है। भैरव डामर के मत में आपाततः सुगम रूप में प्रतीयमान तन्त्र दुष्टों की प्रतारणा के लिए रचित हुआ था। ( दुष्टानां मोहनार्थाय सुगमं तन्त्रं विनिर्मितम्

भैरव डामर उ० भा० ) किसी-किसी तन्त्र में वेद के प्रति विरुद्ध भाव भी देखने को मिलता है। याज्ञवल्क्यस्मृति के टीकाकार अलर्क ने एक वचन उद्धृत किया है उसमें तन्त्रदीक्षा में दीक्षित व्यक्ति को वैदिक स्वाध्याय में निषिद्ध किया--"दीक्षितस्य च वेदोक्तम् स्वाध्यायकर्मातिगर्हितम्" ( याज्ञ० व० सं० पृ० ११ ) नेपाल की लाइब्रेरी में काकचण्डीश्वरी मत के नाम के तन्त्र ग्रन्थ के मत में स्थविरत्व प्राप्त वेद की सहायता से सिद्धि लाभ नहीं होता ( वेदानां च वैयर्थ्ये न सिद्धिस्तेन जायते। ( कुलार्णव तन्त्र में ११।८५ ) वेद की अपेक्षा तन्त्र का गौरव प्रदर्शन के प्रसङ्ग में वेद को गणिका और तन्त्र को कुलवधू के रूप में तुलना की गयी है--वेद-स्मृति-पुराणानि सामान्य-गणिका इव। या तु शाम्भवी विद्या गोप्या कुलवधूरिव ॥ किसी किसी पुराण के मत में जन साधारण को प्रताडित करने के लिए अथवा वेद-वहिष्कृत पतित व्यक्तियों के लिए तन्त्रशास्त्र का प्रणयन हुआ है। वाराह, लिङ्ग कूर्म, पद्म, ब्रह्मवैवर्त आदि अनेक पुराणों में यह विवरण मिलता है, कापालं पाञ्चरात्रञ्च यामलञ्च वाममार्हतम्। एवंविधानि चान्यानि मोह-नार्थानि तानि तु। कूर्म १२।२५ कूर्मपुराण के अनुसारपाञ्चरात्र और पाशुपत-सिद्धान्त मतावलम्बियों के साथ वार्तालाप भी नहीं करना चाहिये। पाखण्डिनो विकर्मस्थान् धर्माचार्यं तथैव च। पाञ्चरात्रान् पाशुपतान् वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ कूर्मपुराण १५ वाँ अध्याय।

वीरमित्रोदय में उद्धृत साम्बोपपुराण के मत में श्रुति-भ्रष्ट और श्रुति-प्रोक्त क्रियाओं के करने में असमर्थ व्यक्ति के लिए तन्त्र-शास्त्र की रचना है। श्रुतिभ्रष्टः श्रुतिप्रोक्तप्रायश्चित्ते भयं गतः। क्रमेण श्रुतिसिद्धार्थं मनुष्यास्तु तन्त्रमाश्रयेत् ( वीरमित्रोदय प्रथम खण्ड पृ० २५ ) अपरार्क कृत स्मृति वाक्य के अनुसार कापालिक पाशुपत और शैव को देखते ही सूर्य दर्शन रूप प्रायश्चित करना चाहिये और स्पर्श करने पर स्नान। कापालिकान् पाशुपतान् शैवांश्च सहकारुकैः। दृष्टाश्चेत् रविनीक्षेत् स्पृष्टाश्चेत् स्नानमाचारेत्। इस प्रकार की जो तन्त्रों की निन्दा उपलब्ध होती है--इससे वह अवगत होता है कि कतिपय तान्त्रिक आचार्य ने और नीतिशास्त्र के अनुसार सर्ववादिसम्मत के विरोधी होने के कारण यह कहा गया है। विशेषतः लोक तन्त्रोपासना की साधना को चरम मार्ग को ध्यान में न रखकर वरन् इन्द्रिय भोग को ही प्रकृष्टोपाय और सिद्धि

लाभ के द्वारा साध्य-साधन रूप समझ कर इसके उच्च आदर्श को भूल जाते है। तन्त्रानुष्ठान को कुलार्णव-तन्त्र में बहुत कठिन माना गया है। यह छुरे की धारा पर सोना और बाघ को काठ में लपेटना को तन्त्र की अपेक्षा सहज माना गया है, किन्तु काल-क्रम में इससे जीवन-यापन करने वाले व्यक्तियों ने इसे अतिशय सहज मानकर इसकी मर्यादा ध्वस्त कर दी। पल्लवराज महेन्द्र वर्म के द्वारा रचित मन्त्रविलाश नाटक में कपालिक के विषय में लिखा है कि पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षितव्यम्। ग्राह्यः स्वभाववलितो विकृतश्च वेशः। येनेदमोदृशमदृश्यत मोक्षमार्गो। दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणिः।नवमी शताब्दी में रचित राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी नाटिका में भी ऐसा ही कहा गया है—

रन्डा चन्डा दीक्खिया धम्मदारा मज्जं मांसं पिज्जत्रखज्जत्रअ मिवथा। भोज्यं चमखन्डं चमेज्जा च सेज्जा कोलोधम्मो कस्सनो भादि रम्मो।

( १।२३ कर्पूरमञ्जरी )।

जिस धर्म का अनुसरण करने से मद्य मांस का उपयोग चलता है वह कौल धर्म किसको रमणीय नहीं लगेगा। इसी प्रकार अनेक वचन उपलब्ध होते हैं। केवल उमानाथ महेश्वर सुरा और मद्यपान के द्वारा इस मार्ग को सुलभ कर दिया। जैनियों के भरटकवा त्रिंशिका नामक ग्रन्थ में परमशैव क्षेमेन्द्र को नरमाला में और माहवाचार्य के शंकर विजय के पञ्चदश अध्याय में तान्त्रिकों के अधः पतन की चरम सीमा का चित्र प्रदर्शित किया गया है। चैतन्य सम्प्रदाय के विभिन्न ग्रन्थों में शाक्तों का चरित्र काले अक्षरों से चित्रित किया गया है। वस्तुतः इसमें अतिरञ्जन भी हैं। अतः इनको असत्य मानकर उपेक्षा करना ही उचित है। प्राचीन बौद्ध तन्त्र ग्रन्थ में भी जातीयकथा का अभाव नहीं है।

न कष्टकल्पनां कुर्यान्नोपवासं न च क्रियाम्।
न चापि वन्दयेद्देवान् काष्ठपाषाणनिर्मितान्॥
पूजामस्यैव कायस्य कुर्यान्नित्यं समाहितः।

( अद्वयसिद्धिः )

सम्भोगार्थमिदं सर्वं त्रैधातुकमशेषतः।
निर्मितं वज्रनाथेन साधकानां हिताय च॥

अर्थात् वज्रनाथ ने साधक के कल्याण और उपभोग के लिए ही इन द्रव्यों की सृष्टि की है।

सुखेन प्राप्यते बोधि सुखं न स्त्रीवियोगतः।

( एकल्लवीरचण्डमहारोषणतन्त्र )

दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानैर्न सिद्धयति।
सर्वकामोपभोगैश्च सेवयंश्चाशु सिद्धयति॥

( तथागतगुह्यक )

ये सभी मत आपात दृष्टि से प्रिय लगने पर भी एक वितृष्णा का भाव उत्पन्न कर देते है। वस्तुतः अवस्था ऐसी हो गयी कि तन्त्रशास्त्र कामशास्त्र का रूपान्तर हो गया। तान्त्रिक आचार्य भी इनके समर्थन से विरक्त होने लगे किन्तु भास्कराचार्य तान्त्रिक चुड़ामणियों के सदागम वैदिक तन्त्र और अवैदिकतन्त्र इन दोनों भागों में विनक्त किया। इनके मत में ये सभी निन्दायें असदागम और अवैदिक तन्त्रों के लिए ही है सदागम तन्त्रों के लिए नहीं है। अन्यथा इतना प्रचार होने पर भी तान्त्रिकधारा का इतना विशिष्ट ग्रन्थ और विशिष्ट विद्वानों की कृति-परम्परा आज उपलब्ध नहीं होती। अतः तान्त्रिक इष्ट देवता का मन्त्र वैदिक गायत्री की अपेक्षा भी अधिक प्रशस्त है। भास्कररराय शंकराचार्य-कृत सौन्दर्यलहरी शिवविद्या सम्बन्धी ग्रन्थ आदि का विस्तृत प्रवचन इसका साक्ष्य बहन कर रहे है, अतः ब्राह्मण सम्प्रदाय के बहिर्भूत देवताओं की उपासना और असदाचार होने पर ब्राह्मण धर्म के मध्य में इसकी इतनी प्रतिष्ठा संभव नहीं थी। भास्कररराय ने तो यह कहा है कि पञ्चमकार आदि का अर्थ ही अवगत नहीं हुआ। तान्त्रिक अनुष्ठान वैदिक अनुष्ठान की अपेक्षा अधिक कष्ट साध्य है। आपाततः सुगम बोध का निर्देश कर इसके अनुष्ठान से अलग रहने को ही दुष्टों को प्रवाहित करने की दृष्टि से यह निन्दायें कही गयी है।

इस ग्रन्थ में इन विषयों का विस्कृत विवेचन और इसकी अङ्क-विद्या के द्वारा विभिन्न कार्यों की सिद्धि का सफल निर्देश दिया गया है। शिवताण्डव के कुछ अंश की लिपि निर्देश कर इस एक विशिष्ट मार्ग का निर्देश किया गया है। निकटतम भविष्य में ही

अनेक टीकाओं के साथ यह ग्रन्थ प्रकाश में आने की संभावना है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में मोहनदासगुप्त और उनके सुपुत्र राजेन्द्र-कुमार का विद्या प्रेम अतिशय प्रशंसनीय है। श्रीगणपतिजी ने भी बहुत कष्ट के साथ इसके शीघ्र प्रकाशन में पूर्ण सहयोग प्रदान किया है। अतः वे धन्यवादार्ह है। इसके अन्य भागों की प्रतीक्षा करें जिसमें विभिन्न तांत्रिक साधनाओं का विशिष्ट निरूपण किया जायेगा।

आषाढ शुक्ल पूर्णिमा
वि० सं० २०५०

महाप्रभुलालगोस्वामी

# विषय-सूची


| विषय | पृष्ठ |
|---|---|
| वेद एवं तन्त्र | १ |
| देवता का स्वरूप | ४ |
| वैदिक देवता का गुण और कर्म | ६ |
| ईश्वर का एकत्व | ९ |
| ईश्वर की कारुणिकता | १० |
| ईश्वर में करुणा मानने पर मीमांसकों की आपत्ति | ११ |
| शाक्त-धारा | १२ |
| तन्त्र और उसका विभाग | २६ |
| तन्त्र की अवतारणा | ३४ |
| तन्त्र और विज्ञान | ३५ |
| योग | ४२ |
| योग का फल और साधन | ४४ |
| योग और चरकसंहिता | ४८ |
| बौद्धों का चरक के अनुसार खण्डन | ५१ |
| तन्त्र और योग | ५२ |
| योग और कुण्डलिनी | ५७ |
| भारतीय दर्शन में योग | ६४ |
| योग भूमि में छः शत्रुओं का नाश | ६९ |
| योग और दशनियम | ७१ |
| योग और प्राणायाम आदि | ७२ |
| योग | ७६ |
| योग का भेद | ७८ |
| मन्त्रयोग | ७९ |
| हठयोग | ८० |
| राजयोग | ८१ |
| समाधि | ८२ |
| समाधि का छः भेद | ८९ |
| भारतीय दर्शन में योग | ९१ |
| प्रत्यभिज्ञादर्शन | ९७ |
| आगमशास्त्र का परिचय | ११० |
| मालिनी विजय | १११ |
| मालिनी विजय तन्त्र | १२० |
| स्पन्दशास्त्र | १२० |
| वैशेषिक शिव-तत्व-निरूपण | १३२ |
| सदाशिवतत्त्व का स्वरूप विश्लेषण | १३४ |
| ईश्वर तत्त्व | १३८ |
| शुद्धविद्या | १३९ |
| मायातत्त्व | १४० |
| परमेश्वर सिद्धि | १४२ |
| पंचकृत्य, विमर्श शक्ति, विश्व का कारण एवं माया तत्त्व निरूपण | १५१ |
| विमर्श शक्ति का निरूपण | १५७ |
| प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार विश्व कारण का निरूपण | १५९ |
| मायातत्त्व | १६६ |
| परमेश्वर एवं संवित् का स्वरूप विवेचन | १६८ |

| विषय | पृष्ठ |
|---|---|
| प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार आत्मा का स्वरूप | १८२ |
| चार्वाक मत | १८३ |
| बौद्धमत | १८६ |
| न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा का स्वरूप-निरूपण | १९० |
| प्रत्यभिज्ञा दर्शन में क्रिया शक्ति का स्वरूप निरूपण | २३१ |
| वाक्यपदीय के अनुसार काल शक्ति निरूपण | २४९ |
| वाक्यपदीप के अनुसार काल स्वरूप निरूपण | २६४ |
| वाक्यपदीप के अनुसार काल स्वरूप निरूपण-अनुवृत्त | २८८ |
| शिवताण्डव चक्रपाणिटीका-सहित द्वादश पटल | ३०९ |
| चक्रनिर्माण के लिए सामग्री निरूपण के लिए | ३०९ |
| विभिन्न प्रयोगों की दृष्टि से पत्र प्रकार वर्णन | ३०९ |
| लेखन द्रव्य | ३१० |
| भूतलचक्रवर्णन | ३१२ |
| मातृकावर्णवर्णन | ३१३ |
| भूचक्र | ३१३ |
| वर्णों का भूजलादि संज्ञा | ३१४ |
| ऋतु की दृष्टि से चक्र प्रयोग | ३१५ |
| निर्मित चक्र का प्रयोग वर्णन | ३१६ |
| वर्णसंख्या वर्णन | ३१८ |
| त्रिकोणादिवर्णन | ३१९ |
| संमोहनयन्त्र | ३२६ |
| भूतविद्रावणयन्त्र | ३२७ |
| जगद्विजयदयन्त्र | ३२७ |
| त्रैलोक्यविजययन्त्र | ३२८ |
| आपद्धरयन्त्र | ३२९ |
| सर्ववशकरयन्त्र | ३२९ |
| आकर्षणयन्त्र | ३३० |
| निधिदर्शनयन्त्र | ३३१ |
| बालरक्षाकरयन्त्र | ३३२ |
| स्तम्भनयन्त्र | ३३२ |
| जगन्मोहनयन्त्र | ३३३ |
| महापदप्रदायकयन्त्र | ३३४ |
| मारणयन्त्र | ३३५ |
| दुष्टनाशनयन्त्र | ३३६ |
| मारीहरयन्त्र | ३३७ |
| दुर्चटयन्त्र | ३३८ |
| दुःखहरयन्त्र | ३३९ |
| सिद्धिकरयन्त्र | ३३९ |
| विद्याप्रदयन्त्र | ३४० |
| वनभयापहयन्त्र | ३४१ |
| विषहरयन्त्र | ३४२ |
| कीटभयहरयन्त्र | ३४३ |
| कूष्ठहरयन्त्र | ३४४ |
| लूताविषहरयन्त्र | ३४५ |
| ज्वरहरयंत्र | ३४६ |
| कुष्ठहरयंत्र | ३४६ |
| चिन्ताहरयंत्र | ३४७ |
| मोक्षकरयंत्र | ३४८ |
| बन्दिमोक्षकरयंत्र | ३४९ |
| दारिद्र्यशमनयंत्र | ३५० |
| विद्वेषणयंत्र | ३५१ |
| वन्ध्यापुत्रप्रद | ३५२ |
| प० वन्ध्यायुत्रप्रद | ३५२ |

| विषय | पृष्ठ |
|---|---|
| प० वन्ध्यापुत्रप्रद | ३५२ |
| इति वन्ध्यापुत्रप्रदयंत्र | ३५२ |
| क्षत्रमर्दनयंत्र | ३५३ |
| क्षत्रमर्दनयंत्र | ३५३ |
| क्षत्रमर्दनयंत्र | ३५३ |
| कन्याप्रदयंत्र | ३५३ |
| स्वामिवश्यकरयंत्र | ३५४ |
| युद्धजयकरयंत्र | ३५५ |
| गजभयहरयंत्र | ३५६ |
| कृत्याभयहरयंत्र | ३५७ |
| नवग्रहभयहरयंत्र | ३५७ |
| उच्चाटनकरयंत्र | ३५८ |
| ज्वरकरयंत्र | ३५९ |
| छर्दिकरयंत्र | ३५९ |
| शिरःपीडाकरयंत्र | ३५९ |
| गुह्यपीडाकरयंत्र | ३५९ |
| ज्वरापहरणयंत्र | ३५९ |
| बलकरयंत्र | ३६० |
| सर्वरोगहर | ३६० |
| छर्दिहर | ३६० |
| शिरःपीडाहरयंत्र | ३६० |
| गुह्यापीडाहरयंत्र | ३६१ |
| शूलहरयंत्र | ३६२ |
| आकर्षणयंत्र | ३६३ |
| पशुरक्षाकरयंत्र | ३६४ |
| महिमदयंत्र | ३६४ |
| जलस्तम्भकरयंत्र | ३६५ |
| क्षेत्ररक्षाकरयंत्र | ३६६ |
| चौरनाशनयंत्र | ३६७ |
| कूटदुर्गहरयंत्र | ३६७ |
| व्याघ्रविद्रावणयंत्र | ३६८ |
| सर्वविघ्नहरयंत्र | ३६९ |

| विषय | पृष्ठ |
|---|---|
| सिद्धिदं पारदं च यंत्र | ३७० |
| योगसिद्धिदयंत्र | ३७१ |
| सर्पहरयंत्र | ३७१ |
| ऋतुप्रतिबन्धकरोगहर | ३७२ |
| शोणितरोगहर | ३७२ |
| राजयक्ष्महर | ३७२ |
| अतीसारहर | ३७२ |
| गलगण्डहर | ३७२ |
| पूतनापीडाहर | ३७२ |
| ज्वरादिशान्तिकर | ३७२ |
| गुदरोगहर | ३७२ |
| प्रमेहहरम् यंत्र | ३७२ |
| वृष्टिकरं वृष्टिनिवारकं च यंत्र सपक्षानन्तर | ३७३ |
| दुर्भिक्षहरयंत्र | ३७४ |
| गुणत्रययंत्र | ३७५ |
| शत्रुराज्यहरं शत्रुलक्ष्मीहरं च यंत्र | ३७६ |
| काव्यकरं मेधाविवर्द्धनं च यंत्र | ३७७ |
| महामृत्युहर | ३७७ |
| अल्पमृत्युहर | ३७७ |
| अपमृत्युहर | ३७७ |
| दुःस्वप्ननाशन | ३७७ |
| बलकरयंत्र | ३७८ |
| प्रतिमाचालनकरमग्निस्तम्भकरं च यंत्र | ३७९ |
| कुलवर्द्धनयंत्र | ३८० |
| रथस्तम्भकरयंत्र | ३८१ |
| द्यूतविवादयोर्जयकर | ३८१ |
| द्यूतविवादयोर्जयकरयन्त्र | ३८१ |
| नृत्येन्द्रजालसिद्धिद | ३८२ |

| विषय | पृष्ठ | विषय | पृष्ठ |
|---|---|---|---|
| महासारस्वतप्रदयंत्र | ३८३ | खेचरीसिद्धिदयंत्र | ३८७ |
| कोपहरयंत्र | ३८४ | कामधेनुः | ३८७ |
| घोरशब्दयंत्र | ३८४ | कल्पद्रुमः | ३८७ |
| घडीति० यंत्र | ३८४ | चिन्तामणिः | ३८७ |
| पाटच्चरहरयंत्र | ३८४ | रोहिणीः | ३८७ |
| मृतकोत्थापकयंत्र | ३८५ | देववश्यकरयंत्र | ३८८ |
| धर्मदयंत्र | ३८६ | प० देववश्यकरयंत्र | ३८८ |
| अर्थदयंत्र | ३८६ | नरकच्छ | ३८९ |
| कामदयंत्र | ३८६ | ब्रह्मास्त्र यंत्र | ३८९ |
| मोक्षदयंत्र | ३८६ | नारसिहं नारायणं च यंत्र | ३९० |
| ज्ञानदयंत्र | ३८६ | रौद्राघोरयन्त्र | ३९१ |
| सबदयंत्र | ३८६ | शिवसाम्यप्रदयंत्र | ३९२ |

# तन्त्रामोद

एवं

# शिवताण्डव

॥ श्रीः ॥

# तन्त्रामोद

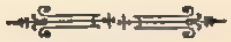

आर्य साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ वेद है। यह अपौरुषेय धारा अनवच्छिन्न परम्परा से प्रवाहित अदिति के अनन्त रूप को धारण कर रही है। काल और देश इसके बाह्य आवरणों के परिवर्तित रूप की प्राप्ति में सहायक अवश्य ही रहे हैं, किन्तु अन्तः सलिला के अक्षुण्ण सारस्वत प्रवाह की अभिव्यक्ति आज भी सुलभ एवं सुरक्षित है। बाह्य स्तर का आवेश मूलक अनेक खण्डन-मण्डन पूर्व-पर के सिद्धान्तों के थपेड़ों से आकम्पित एवं आन्दोलित हो रहे हैं—इसमें सन्देह का अवसर कहाँ है? किन्तु अन्तः दीप्ति का यह आवरण के आकार का स्फुरण मात्र है, आवरक की समाप्ति के साथ यह महाज्योतिः के साथ नित्य समन्वय समुपलब्ध है। मन्त्रमयी मूर्ति मनोमयी मूर्ति के साथ ऐक्य स्थापन करती हुई आज की भावनात्मक प्रतीकात्मिका भौतिक मूर्ति के रूप में जन मन की बाह्य अभिव्यक्ति ही तो है। मन-मनन और मन्त्र के द्वारा प्रतिष्ठा के बिना चित्त द्रुति रूपा सरस्वती का अवस्थान कहाँ हो सकता है?

यह श्रौत धारा अतीत सभ्यता और संस्कृति को आत्मसात् कर वर्तमान कलेवर में अभिव्यक्त हुई और यह वर्तमान से अनागत की ओर अग्रसर हुई; इस प्रवाहित धारा का प्रभव आज भी अलक्ष्य है, किन्तु इस आर्य भावना का प्रभाव आज भी जाग्रत और जीवन्त है। शाक्त भावना के इतिहास का अनुधावन करने पर गङ्गोत्री के हिमवाह के समान वैदिक साहित्य को हीं तान्त्रिक क्रियात्मक साधना का ध्रुव पद के रूप में मानना पड़ेगा। वेदोत्तर भावना की मूल ज्योतिः का दीर्घ-युगवाहित सुनियन्त्रित स्वरूप इसी में परिनिष्ठित एवं प्रतिष्ठित है। आदिमानव की चित दीप्ति का अनतिवर्तनीय रूप का सङ्केत इसी मूलधारा पर अवलम्बित है और प्राण के साथ सम्पृक्त सनातन और अच्छेद्य है। अध्यात्म प्रगति की उपयोगिता की 'इति श्री' सम्भव ही नहीं है।

इस सनातन साहित्य का परम प्रधान उपजीव्य क्रियात्मक देववाद है। इसमें क्रिया और भाव दोनों का समान स्थान है। क्रिया के द्वारा भाव की अभिव्यक्ति है, भाव ही धारक और पोषक है। क्रिया में चेतना बहिरावृत्त और भाव में अन्तरावृत्त है। धी, ध्यान; चित्तता; क्रिया का जीवन है। साधना और साध्य का सेतु ध्यान है। ध्यान-तन्मयता शक्ति की दीप्ति, आत्मा, विश्व और परमशक्ति के सायुज्य में पर्यवसित होती है। शक्ति का स्वरूप एवं विभूति ही अनुध्येय है और वह देवी देवता के रूप में प्रतिष्ठित है। निदिध्यासन धी भाव-प्रवणता भावात्मक देवता है। कर्म और प्रज्ञा ये दोनों ही धी के अर्थ हैं। विश्वभुवन रक्षक शक्ति ही धीर है, जो धी का स्वभाव है, यह अप्रज्ञा के मध्य में आविष्ट हो प्रज्ञा के उन्मेष की उपलब्धि है, विश्व की गोप्त्री शक्ति ही धीर है, कर्म और प्रज्ञा ये दैवत वैभव हैं। "इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः समाधीरः पाकम् अत्राविवेश[1]"।

देव या देवी यह यौगिक परिभाषिक शब्द है। वैदिक साहित्य के विश्लेषण की ओर दृष्टिपात करने पर निर्वचन ही अर्थ की प्रतीति में एकमात्र अवलम्बन है। 'दिव्' धातु से देव की निष्पत्ति है, **'सर्वं नाम धातुजमाह'** इस सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में आचार्यों ने स्वीकार किया है। किन्तु यहाँ प्रातिपादिक दिव् का व्यवहार है, धातुका नहीं। दीप्ति या आलोक अर्थ को कहने वाली 'दिव्' का निर्देश किया गया है। निरुक्त में देव का निर्वचन करते हुए लिखा गया है–'देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः स देवता[2]। प्रातिपदिक दिव् द्युलोक या आलोकमय आकाश का बोधक है आसमन्तात् काशते इति। आकाश शब्द भी चारो ओर परिव्याप्त दीप्ति अर्थ को लेकर प्रयुक्त है, और इसी आकाश के लिए प्रयुक्त 'दिवा' शब्द इसका प्रवृत्ति-निमित्त है। इस वैदिक विश्लेषण के आधार पर दिव्, दिवा, देव ये शब्द एक ही भावना का आयाम या प्रकाश है। इसी भावना को आलोक या चिन्मयभूमि कहा जा सकता है। इस देवता या देवी का स्वरूप प्रकाश ज्योतिः है। बाह्य आलोक ही अभ्यन्तर प्रकाश के रूप में बोध या जागना, चिति या विवेक है, दूसरे शब्दों में वेद है। इस बोध का फल प्रज्ञान, संज्ञान और संवित् है। अतः देवता साधक का आत्मज्ञान है। उषा

---

१. ऋग्वेद ( १।१६४।२१ )  २. निरु० ७।१५

की अरुण आभा से पृथिवी के जन-जन में चैतन्य और बोध के सञ्चार के साथ नव जागरण का सन्देश मिलता है। वेद में बुध का प्रयोग होने पर भी बोध शब्द प्रयुक्त नहीं है। बुध्न्य शब्द का बहुधा प्रयोग मिलता है "उपरि बुध्न्य एषाम्" ( ऋ. १।२४।७ ) ऋतस्य बुध्न ( ३।६१।७ ) संस्कृत में इसी भावना के प्रवाह में बुध का अर्थ सचेतन होता है। वेदि में अग्निशिखा साँप की फणा के समान जागती है, इसीलिये अग्नि के लिए 'अहिर्बुध्न्यः' प्रयोग किया गया है। हठयोग के वर्णन के प्रसङ्ग में मूलाधार में स्थित सर्परूपिणी कुण्डलिनी का वर्णन मिलता है। इस प्रकार यह स्थिर होता है कि अहिर्बुध्न्य शब्द का चरम सत्य चेतना का बोधक है। It is suggested that Aryan 'Budhu' meant the place of growth of ultimate Lose. यह संज्ञा परम अयन है और इसका फल पूर्ण प्रज्ञा या संवित् है ( ऋ. ८।५८।१ ) देवता की अपर ज्योतिर्मय अर्थ का बोधक वसु है, इससे निष्पन्न उषस्, उस्न, वासर, विवस्वत्, वसुमति वसिष्ठ है। अवेस्ता में Vanhus है, जो वहाँ दीप्ति का बोधक है। इसी आलोक अर्थ को लेकर क्लीवलिङ्ग वसु शब्द का धन के अर्थ में प्रयोग किया गया है। विवस्वान् यह परम देवता की संज्ञा है, जिसका प्रतीक सूर्य है।

अवेस्ता में वसिष्ठ = ज्योतिष्मत्तम के लिए Vahista स्वर्ग ( चिन्मयमूर्ति ) और Vahista परम पुरुष की संज्ञा मानी गई है। एक महान् आत्मा देवता है, और वह सूर्य है, इसी लिए ऋषि ने कहा है, जो क्रियाये हैं, स्थिर हैं, सभी का आत्मा सूर्य है, इसी ज्योतिः स्वरूप अखण्ड आदित्य की विभूति अन्य देवता हैं। इसी ज्यतिः को पक्षवान् दिव्य सुपर्ण कहा गया है। इन्द्र, वरुण आदि इसकी संज्ञामात्र है। अवेस्ता और वेद एक ही धारा का वहन कर रहा है।

आर्य हृदय में देवता के प्रति अभिनिवेश ज्योतिः के लिए ही अभिनिवेश है। वसिष्ठ ने आर्य का लक्षण करते हुए ज्योतिः जिनका अग्रगामी है—यह दिया है ॥ "तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः" ( ऋ. ७।३३।७ । ) इसी प्रकार ज्योतिः स्वरूप तीन वाक् को भी अग्रज्योतिः कहा गया है। ( ७।१०१।१ । ) वे ज्योतिः स्वरूप गुहामें सन्निहित है। निरुक्त में गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति" कहा गया है।

देवता के निरूपण प्रसङ्ग में ज्योतिः के साथ समन्वय प्राप्त होना है, साथ ही अखण्डिता व्यापिका एक शक्ति के साथ भी देवता का अभेद है। देवगण या आदित्य अदिति के पुत्र है। अदिति अखण्डिता शक्ति है। वह अनन्त स्वरूप है, जिसका प्रतीक आकाश या **व्योमन्** है, आकाश में आदित्य ज्योतिः ताप का विकिरण करती है, जिससे सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि है।

ऋक्संहिता में दिव् और व्योमन् शब्द का प्रयोग मिलता है, इनमें प्रथम शब्द में द्योतना या ज्योतिः की भावना है, दूसरे शब्द से व्याप्ति और तुङ्गता की ओर संकेत है। पद पाठ में वि+उमन् प्रयोग है। अव् धातु का उन्नीस अर्थ है, किन्तु प्रसाद, अधिक्षरण और संवरण इन अर्थों में इस धातु का विशेष व्यवहार है। व्योमन् शब्द उणादि सूत्र से निपातन के द्वारा सिद्ध है, अव् + मन् टिलोप अवतेष्टि-लोपश्च ( उणादि १।१४० ) व्येमन् संवरण का ऊम् के साथ सुस्पष्ट सम्बन्ध सूचित होता है। अधिदैवत अध्यात्म दृष्टि से वाक् या ऊम् का अविनाभूत परिस्पन्द है। 'यावद् ब्रह्म विष्ठितं भारती वाक्, ( ऋ. १०।११४।८ ) इतना सत्य है कि परं ब्रह्म के समान परम शब्द का व्योमन् के साथ प्रयोग उपलब्ध होता है। यह अक्षर परम व्योमन् गौरी वाक् है। इस प्रकार परम व्योमन् दक्ष का जन्मस्थान और अदिति की योनि है।

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह सत्य है कि दीप्ति एवं चेतना के रूप में देवता प्रत्यक्ष सिद्ध है। देवता की किसी भी विभूति की उपासना करें इसका पर्यवसान आदित्य द्योतना में होता है, देवता आदित्य या अदिति के पुत्र हैं, अतः देवत्व की प्राप्ति परम ज्योतिः की प्राप्ति है, दुर्गा के मध्यम चरित्र में उपलब्ध ज्योतिः स्वरूपा देवी के चरित्र की तुलना करें[1]।

**देवता का स्वरूप :—**

शक्ति की कोई भी उपासना ज्योतिः की उपासना से अतिरिक्त नहीं है। इतना सत्य है वैदिक साधना में मूर्ति की प्रधानता नहीं है। संहिता में देवता का अमर अर्थात् अमूर्त या चिन्मय स्वरूप स्पष्ट

---

१. अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम्।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा॥ ( दुर्गा २।१२ )

है। 'ये स्था निचेतारो अमुराः" (ऋ. १०।६१।२७) देवता के अमुर होने पर भी वह अरूप या निराकार नहीं है।

निरुक्त के सप्तम अध्याय में देवता के आकार के विषय में विचार किया गया है। देवता का आकार माना गया है। यह विचारणीय है कि देवता का आकार मनुष्य के समान है या नहीं ? सचेतन व्यक्तियों के समान उनकी स्तुति एवं आह्वान किया जाता है, मनुष्य के समान ही उनके अङ्ग, प्रत्यङ्ग और क्रियाकलापों का वर्णन मिलता है। अन्य पक्ष का कहना है कि, अग्नि, आदित्य, वायु आदि देवताओं का आकार मनुष्य के समान नहीं है, मन्त्रों की वर्णना के अनुसार तो इनका आकार सचेतन प्राणी के समान ही है। देवता का स्वरूप अपुरुष के समान है। अपुरुष विधवादियों के मत में सचेतन या अचेतन जो कुछ भी देखा जाता है—सभी देव स्वरूप हैं, अतः उनपर विग्रहवान् होने का आरोप समीचीन एवं प्रयोजनहीन है। पुरुष विधवादी के मत में इन सबकी अधिष्ठातृ चेतना पुरुषाकार है[1]। देवताओं का अधिभूत आकार और उसके स्वरूप के मध्य में एक भाव विग्रह माना गया है। किन्तु, उपासना के समय इसके विग्रह को मूर्त रूप देने की न तो आवश्यकता है न अनुभूति है। जैसे अग्नि की उपासना के समय प्रत्यक्ष अग्निका अवलम्बन करते हैं, अपुरुष विधिवादी का अनुभव विशुद्ध चैतन्य है और पुरुषविधि अग्नि के पुरुष विग्रह की भावना करते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष अग्नि की जगह अग्नि का अधिभूत विग्रह की स्थिति नहीं है। देवता को वस्तुतः अमूर या अमूर्त मानने पर भी यास्क ने दोनों दृष्टियों का समन्वय कर अध्यात्म चेतना के सम्पर्क में एक विशिष्ट ज्ञान की अवतारणा की है। जो इन्द्रिय ग्राह्य है, उसकी उद्‌बुद्ध एवं उदीप्त चेतना अरूप में उत्तीर्ण होती है, तब वहाँ रूप का निराकरण देखता है और ऐसी स्थिति में तात्त्विक दर्शन होता है, भाव वस्तु में अवतीर्ण होता है और वस्तु के मध्य भाव की स्फूर्ति देखता है। मानव की देवोपासना में पुरुष विधाता की छाप अपरिहार्य एवं अनिवार्य है। परम देवता को पुरुष शब्द से भी कहा गया है। पुरुष मनुष्य का ही आकार है। पुरुष सूक्त के अधार पर पुरुषमेध यज्ञ का वर्णन जो शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध है, उसका द्रष्टा पुरुष नारायण

---

१. निरुक्त ७।७।

और देवता आदित्य है। इस प्रसङ्ग में दो प्रकार के देवता का निर्देश मिलता है ( १ ) कर्म-देव ( २ ) आजान-देव। उत्कृष्ट कर्म से देवत्व की प्राप्ति करने वाला **कर्म देवता** है और सृष्टि की आदि में उत्पन्न आजानदेव है। यह कर्मदेव से श्रेष्ठ है। 'ये शतं कर्मदेवानाम् आनन्दाः स एक आजानदेवानाम् आनन्दः ( बृ. ४।३।२ ) सूर्य आदि आजानदेव हैं। अन्यत्र कर्मदेव का गुणगान भी मिलता है। ये शतम् आजानजानां देवानाम् आनन्दः स एको देवानाम् आनन्दः। ( तै. उ. २।८ )। पुरुषसूक्त का द्रष्टा नारायण और देवता आदित्य है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म का दो रूप वर्णित है, मूर्त एवं अमूर्त; जो मूर्त है वह मर्त्य स्थावर एवं सत् है, जो अमूर्त है वह अमृत जङ्गम एवं त्यत् है। मूर्त का सार अधिदैवत दृष्टि से तपन या आदित्य है और अध्यात्म दृष्टि से चक्षुः है, इसी प्रकार अमूर्त का सार अक्षि पुरुष और मूर्त का सार आदित्य मण्डलस्थ पुरुष है। इस पुरुष का रूप विद्युत् रेखा, कमल एवं अग्नि-शिखा के समान है। अमूर्त की मूर्ति प्रत्यक्षदृष्ट आदित्य है। विश्लेषण से यह अवगत है कि आर्य देवोपासक थे, किन्तु मूर्ति या देवायतन नहीं थे। देवता को न मानने वाले के प्रति इनकी घृणा थी, अतः, अदेववादी वेद में श्रद्धास्पद नहीं थे।

**वैदिक देवता का गुण और कर्म :—**

अजर और अमृत यह देवता का प्रधान लक्षण है। मनुष्य के लिए भी परम पुरुषार्थ विजर और विमृत्यु होना है। जरा और मृत्यु प्रकृति का परिणाम है, देवता इससे परे है, वह सत् या सत्य स्वरूप है। उसकी सत्यता से ब्रह्माण्ड के भूत भौतिक पदार्थ सत् है, इसीलिए वह सत्पति है। इस सत्य सत्ता में कालगति न होने से काल से अपरिच्छिन्न है, इसी की सूचना पतञ्जलि ने 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" ( यो. सू. १।१।२६ ) अनादि है, अतः काल से अवच्छिन्न न होने से वह सभी में श्रेष्ठ है। वह किसी के कारण नहीं अपि स्व से स्व का धारण-पोषण करता है, अतः स्वधावान् है। जरा, व्याधि और मृत्यु के जय के लिए सङ्कल्प लेकर बुद्ध ने घर का त्याग किया था, जरा के जय से जीवन के उल्लास का परिचय है। सूर्य की उपासना के मूल में विष्णु के परमपद से मृत्यु या अमृत चेतना

का उत्स है। ( ऋ. १।१०४।६ ) जिसकी महिमा से युवा अकुमार अर्थात् नित्यतरुण रहता है। ( ऋ. १।१५५।६ ) ऋग्वेद में स्थाणु और जङ्गम में एक होकर रहने से असुर संज्ञा देव की मानी गई है, "महद् देवानाम् असुरत्वमेकम् ( ऋ. ३।५५ ) प्रचेताः शब्द से देवता का व्यवहार करते हुए उसको चिन्मय अर्थात् उसकी आभा सर्वत्र परिव्याप्त है—इसकी सूचना दी गई है। हमलोगों की दृष्टि अचिति या अविवेक से आच्छन्न है—इसीलिए हमलोग नचिकेता है, और देवता चिकित्वान है, सब देखते हैं और जानते हैं।

वेद में देवबहुत्व की अनायास ही प्रतीति होती है, किन्तु गुण और कर्म का विचार करने पर बहुत्व एकत्व की भावना पर स्थिर है। वृहदारण्यक उपनिषद् में देवता की संख्या की दृष्टि से शाकल्य के साथ याज्ञवल्क्य का विचार उपलब्ध होता है। याज्ञवल्क्य से शाकल्य ने जिज्ञासा की है कि देवता कितने हैं ? उत्तर में कहा तीन सौ, तीन हजार, और तीन। क्रमशः संख्या को कम करते हुए कहा देवता एक है। यह प्राण है, जिसको तत्त्ववेत्ता ब्रह्म या त्यत् कहते हैं। यह प्राण ब्रह्म ही विभिन्न लोक में अर्थात् मनो ज्योति में आलोकित चेतना की विभिन्न भूमि में अभिव्यक्त होता है—शरीर, पुरुष, आदित्य पुरुष या छाया पुरुष। ये सभी अधिष्ठात्री देवता हैं। हृदय की प्रतिष्ठा पञ्चवृत्ति प्राण में है और प्राण की प्रतिष्ठा **नेतिनेति** के द्वारा सूचित असङ्ग आत्मा में है, ये विज्ञान, आनन्द, ब्रह्म है। ( बृ. उ. ३।९ ) इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने एक देववाद ( Monotheism ) देववाद पराक् ( Objective ) दृष्टि से इष्टज्ञेय है और ज्ञान के इष्ट होने पर प्रत्यक् ( Subjective ) अनुभव स्वरूप है। इसीको याज्ञवल्क्य ने **त्यत्** कहा है। इसी लिए दुर्गा सप्तशती के दशम अध्याय में—

"एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः॥ ( १० )

गीता में भी एकदेववाद का समर्थन विभूति के रूप किया गया है। बौद्धों ने महाशून्य में हजारों देवों और देवियों की भीड़ कर दी है।

ईश्वर की सर्वात्मकता का प्रदर्शन करते हुए वेद में लिखा गया है—तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो, तुम कुमार हो, तुम कुमारी हो,

दण्डधारी विचरणशील वृद्ध, तुम अनन्त मूर्ति में प्रकाशमान हो अर्थात् नानामूर्ति में जन्म ग्रहण करते हो।

त्वं स्त्री त्वं पुमनासि
त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि
त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः। (अथ. सं. १०।८।१७-२६)

देवता की प्रकाशरूपता का विवरण प्रस्तुत करते हुए वेद में लिखा गया है कि सूर्यरश्मि के समान स्वयं प्रकाश चैतन्य पदार्थ है। यह स्वप्रकाश चैतन्य ही भूत भौतिक रूप जगत् में सर्वत्र परिव्याप्त है। यह स्वप्रकाश चैतन्य ही परमात्मा है, जो ब्रह्माण्ड में तिर्यक् भाव से परिव्याप्त है। यह जागतिक वस्तुओं के अधोभाग में अवस्थित है? या उपरिभाग में अवस्थित है? मन्त्र में 'स्वित्' शब्द का दो बार प्रयोग होने से इन दो विकल्पों की सूचना है।

स्वयं प्रकाश चैतन्य सभी वस्तुओं के मध्य में वस्त्र के वृहत् तन्तु के समान परिव्याप्त है। किसी वस्तु के अधोभाग में भी चिद्वस्तु विद्यमान है और ऊपर के भाग में भी चिद्वस्तु की अवस्थिति है, यह चैतन्य केवल मध्य भाग में ही है ऐसी बात नहीं है। मृत्तिका जिस प्रकार घट में सर्वत्र अनुस्यूत है उसी प्रकार उपादान की उपादेय में सर्वत्र परिव्याप्ति है। अतः, चैतन्य उपादान एवं उपादेय में सर्वत्र परिव्याप्त है।

सभी भूतभौतिक पदार्थ वितत सूर्य की रश्मि के समान स्वप्रकाश चैतन्य तेज का धारक है। चिदेकरस वस्तु का सद्रूप ही सार है। चित् को सद्रूप न मानने पर बन्ध्या पुत्र के समान यह असत् होगा, अतः, चिदेकरस वस्तु का सार सद्रूप है। सभी जगत् में इसी की परिव्याप्ति के कारण सद्रूप में भासमान है। जिस वस्तु का अस्तित्व है, उसकी महानता के विषय में क्या कहना है? इस मन्त्र में "स्वधा" शब्द कहा गया है, यह स्वधा ही पारमेश्वरी शक्ति है। यह शक्ति और परमात्मा दोनों ही जगत् के कारण है।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषा-
मधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमा न आसनत्
स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥ ( ऋ. ८।७।१७६ )

भारतवर्ष में विभिन्न उपासक सम्प्रदाय विभिन्न रूप में उपासना में रत हैं। कोई पिता रूप में, कोइ बन्धु रूप में, कोई सम्प्रदाय सखा, कोई सम्प्रदाय माता के रूप में, कोई माता-पिता उभय रूप में उपासना करता है, किन्तु विभिन्न रूप में उपासना करने पर भी विरोध की सम्भावना नहीं है, ये विभिन्न उपासनाएँ भारत की देन है। उपासकों में परस्पर विभेद की दृष्टि से सम्प्रदाय के द्वारा अपप्रयास करने पर भी इसकी अखण्डता एकता सुस्पष्ट है। स्वार्थ प्रणोदित नीच व्यक्ति सम्प्रदाय के आधार पर विच्छेद और विद्वेष करने का प्रयास तो करते ही हैं। वेद धारा के द्वारा प्लावित पवित्रीकृत भारत ईश्वर की धारणा के लिए अन्यत्र मधुकरी करने की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता है। भारतीय ईश्वरत्व सङ्कुचित रूप में अवस्थित नहीं है। उतैषां पिता उत वा पुत्र एषामु उतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ॥ ( अथ. १०।२३।४-२९। )

**ईश्वर का एकत्व :—**

देवी, देवताओं के एकत्व की चर्चा से सामान्य लोगों की यह धारणा है कि ईश्वर का बहुत्व माना गया है। ईश्वर सृष्ट जीव, मनुष्य और देवता की अनेकता ईश्वर के अनेकत्व का कारण नहीं है, देव-देवियाँ ही जब अनेक नहीं हैं, तब ईश्वर के अनेकत्व का प्रश्न ही कहाँ उठता है। ईश्वर के समान कोई नहीं है, अतः ईश्वर सर्वातिशायी एक है।—वाजसनेयी यजुः संहिता में कहा हैं—

"न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः"। (यजु. ३२ अ.)

महीधर ने अपने भाष्य में कहा है "यस्य पुरुषस्य प्रतिभा प्रतिमानम्—उपमानं किञ्चिद्वस्तु नास्ति, अत एव नाम प्रसिद्धं महद् यशः यस्यास्ति सर्वातिरिक्तयशाः इत्यर्थः ( १।३२।३ ) जिस प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि है, उसी प्रमाण से इसका एकत्व भी सिद्ध है। एकत्व की सिद्धि के विना ईश्वर की सिद्धि ही सम्भव नहीं है। किसी एक कार्य की विरुद्ध इच्छा-सम्पन्न दो ईश्वर के रहने पर किसी की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। यदि किसी भी ईश्वर की इच्छा प्रतिहत होगी तो वह अनीश्वर होगा। दो में एक के अनुसार कार्य होगा, अतः, जिसके अनुसार कार्य नही होगा वह अनीश्वर हो जायगा। ( न्या. सू. ४।१।२१ )

पातञ्जल सूत्र के व्यासभाष्य में कहा है—"तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम्, न तावद् ऐश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते। यदेवातिशयि स्यात् त देव तत्स्यात्। तस्माद् यत्र काष्ठा प्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वर इति·····तस्माद् यस्य साम्यातिशयैर्विनिर्मुक्तमैश्वर्यं स एवेश्वरः ( पा. सू. व्या. भा. १।२४ )

वाचस्पति ने कहा है कि अनेक ईश्वर मानने पर कोई दोष नहीं है, क्योंकि, ईश्वर में रागद्वेष न होने के कारण ये विरुद्ध इच्छा सम्पन्न नहीं हो सकते हैं। इस विषय में यह विचारणीय है कि विरुद्ध इच्छा न होने पर एक ईश्वर की इच्छा से ही कार्य हो सकता है, अतः अन्य ईश्वर को मानने की आवश्यकता ही नहीं है। इस प्रसङ्ग में यह कहा जा सकता है कि कोई भी ईश्वर नहीं होगा, क्योंकि, परिषद् सभ्यों के द्वारा एकमत होकर कार्य करने पर उस कार्य में किसी एक का कर्तृत्व नहीं रहता है, ऐसी स्थिति में परिषद् के सभ्य के समान एक भी ईश्वर नहीं रहेगा। अनेक ईश्वर के रहने पर भी वे एक साथ कार्य नहीं करते हैं, क्रमिक रूप में सभी ईश्वर कार्य करते हैं—यह कथन भी ठीक नहीं है। ईश्वर का ऐश्वर्य नित्य है, नित्य ईशना रहने पर क्रमिक कार्य की सम्भावना ही नहीं हो सकती है। नित्य ईशना आज कार्य करेगी और दूसरे दिन कार्य नहीं करेगी—यह सम्भव नहीं है। ईशना रहने पर कार्य न करने पर ईशना ही नहीं रहेगी। अतः पूर्वोक्त वैदिक निर्णय के अनुसार ईश्वर एक ही है।

**ईश्वर की कारुणिकता :—**

न्यायसूत्र में वात्स्यायन ने कहा है कि वेद-शास्त्र का प्रामाण्य आप्त प्रमाण मूलक है। आप्त के प्रामाण्य का क्या कारण है? इस जिज्ञासा के उत्तर में कहा गया है कि आप्त व्यक्ति जिस विषय का उपदेश करता है, उस विषय का उसे साक्षात्कार रहता है। सुदृढ़ प्रमाण के द्वारा वह आप्तकर्तृकत्व निश्चित होता है। आप्तपुरुषों की प्राणियों के प्रति दया होने के कारण एवं साक्षात्कार किये गये यथार्थ वस्तुओं के प्रतिपादन करने की इच्छा भी उनमें रहती है—इन तीन विशेषणों से विशिष्ट पुरुष ही आप्त होता है। वाचस्पति मिश्र ने इन्द्रिय की पटुता को भी चतुर्थ विशेषण के रूप में सन्निविष्ट किया है। शरीर भुवन आदि का निर्माता पुरुष सभी

वस्तुओं के तत्त्व का ज्ञाता सर्वज्ञ होता है। स्वभावतः वह क्लेश कर्म विपाक एवं आशय-वासना से रहित होता है। ऐसे ईश्वर अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश से रहित होता है, अर्थात् इन पाँच प्रकार के क्लेशों से वह रहित है, पाप पुण्य कर्म नहीं रहते हैं। कर्म का फल जन्म आयु और भोग एवं भोगानुकूल वासना संस्कार भी नहीं रहते हैं, साथ वह अतिशय कारुणिक है। सामान्य प्राणी अनेक दुःखों से सन्तप्त रहते हैं, अपने हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के उपाय को वे नहीं जानते हैं, इस कारण से वे करुणा से परिव्याप्त रहते हैं। राग और द्वेष से परिपूर्ण व्यक्ति को अन्य की अज्ञता और दुःख को देखकर करुणा नहीं होती है। रागद्वेषशून्य व्यक्ति को अज्ञ और, दुःखी को देखकर सन्ताप होना स्वाभाविक है। ईश्वर प्राणियों की हित प्राप्ति और अहित परिहार के साधनों को जानता है, अतः, उपदेश किये विना नहीं रह सकता है। और अयथार्थ उपदेश भी नहीं कर सकता है। इसलिये परम कारुणिक परमेश्वर पृथिवी आदि की सृष्टि कर उनके हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के उपायों का भी उपदेश करता है। सन्ततियों के प्रति माता, पिता, सखा, बन्धु के रूप में परमेश्वर की करुणा स्वभाविक है। साहित्य दर्पण में इसी दृष्टि से कहा हैं—स्थायि-वत्सलता स्नेहः पुत्रास्त्वालम्बनं मतम्" ( सा. द. ३।२५१ ) स्नेह ही वत्सल्यरस का स्थायिभाव है। ईश्वर का कारुण्य और उनके उपासकों के प्रति उपास्य का स्नेह वात्सल्य पूर्वोक्त ऋग्वेद के मन्त्रों से ही सुस्पष्ट है। पिता, माता के रूप में अराध्य होने के कारण ही उनमें निरतिशय कारुण्य मानना उचित है।

**ईश्वर में करुणा मानने पर मीमांसकों की आपत्ति :—**

मीमांसक ईश्वर को नहीं मानते हैं, अतः, करुणा का प्रश्न ही नहीं उठता है। ईश्वर आप्तकाम है, अतः, उसके लिए प्राप्त करने योग्य कोई वस्तु नहीं है, सभी वस्तु प्राप्त रहने के कारण प्राप्तव्य किसी वस्तु की अभिलाषा सम्भव नहीं है। लीला और क्रीडा ईश्वर का स्वभाव होने से लीला विस्तार के लिए सृष्टि यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि लीला से अप्राप्त किसी सुख के लाभ की सम्भावना न होने से क्रीड़ा भी सङ्गत नहीं है। करुणा के कारण सृष्टि विस्तार भी समीचीन नहीं है। करुणा के कारण जगत् की सृष्टि मानने पर

दुःखमय सृष्टि नहीं होती यह मानने पर की स्वेच्छा प्रेरित सृष्टि नहीं है, प्राणियों के धर्म और अधर्म की अपेक्षा कर सृष्टि होने से इनका अधर्म ही दुःखबहुल सृष्टि का कारण है। यह सत्य है कि अधर्म दुःख का साधन है, किन्तु, अचेतन अधर्म ईश्वर से अधिष्ठित हुए विना दुःख का साधन नहीं हो सकता है। कारुणिक ईश्वर को दुःख का अधिष्ठाता होना उचित नहीं है। जीव को संसार से वैराग्य उत्पन्न होने के लिए दुःख का अनुभव भी आवश्यक है। अधर्म का अधिष्ठाता होने पर ईश्वर का कारुण्य समाप्त नहीं होता है। प्रत्युत दुःखमय सृष्टि से ईश्वर का कारुण्य ही समर्थित होता है। यह व्याख्या तो पङ्क में पैर डालकर पुनः उनके धोकर साफ करने के समान है। कारुणिक ईश्वर की जीव के लिए दुःख की उत्पत्ति से विमुख रहना ही उचित है। अधर्म का अष्ठाता न होने पर दुःख की अत्यन्तिक निवृत्ति रूप अपवर्ग अनायास ही सुलभ होगा।

इन आपत्तियों के समाधान में आचार्यों ने कहा है कि, ईश्वर की अतिशयित महिमा रहने पर भी अनित्य धर्म और अधर्म ईश्वर की महिमा से कभी भी नित्य नहीं हो सकते हैं। धर्म और फल की उत्पत्ति कराये विना विनष्ट नहीं होते हैं। धर्म का सुख की उत्पत्ति-सामर्थ्य-सम्पन्न और अधर्म दुःख की उत्पत्तिसामर्थ्य सम्पन्न है, ईश्वर इनको अन्यथा नहीं कर सकता है और फल प्रदान के विना विनिष्ट भी नहीं हो सकता है। फल प्रदान से पूर्व अधर्म का विनाश ईश्वर नहीं कर सकता है। अतः कारुणिक होने से इनका विरोध नहीं है। जीव के कर्मों की अपेक्षा के विना ही जगत् की सृष्टि मानी जाय तो जीव का शरीर लाभ आदि आकस्मिक हो जायेगा। ईश्वर का कार्य कर्म-निरपेक्ष मानने पर ही कारुण्य के मानने में आपत्ति हो सकती है। गौडपाद ने भी कहा है 'देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा' ( आ. प्र. ६ )

**शाक्त धारा :—**

शक्ति साधना की विस्तृत अलोचना तन्त्र शास्त्र से उपलब्ध है। आदि मानव की आदि देवता शक्ति ही है। आर्यों के मध्य आरम्भ से ही शक्ति की साधना प्रचलित है। मातृत्व का निर्देश ऋग्वेद में देवमाताओं के रूप में अदिति से उपलब्ध है। ब्रह्ममयी अखण्डात्मिका महाशक्ति-स्वरूप-अदिति की अराधना ही शक्तिधारा का मूल उत्स है

यह श्रौत रूप अदिति ही काली, दुर्गा आदि ज्योतिः रूप सर्वदेव स्वरूपिणी शक्ति है। दुर्गा के पञ्चम अध्याय की देव स्तुति श्रौत अदिति का ही विवरण है। इस अखण्डित अबन्धना सर्वव्यापिनी आद्याशक्ति का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है—

अदितिद्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥

( ऋ. १।६६।१० )

तन्त्र में उपलब्ध अनेक धारणाओं की सूचना वेद में मिलती है। शाक्त तन्त्र के वर्णित आचारों का मूल तत्त्व अथर्ववेद में उपलब्ध होता है। शाक्त धर्म सनातन होने पर भी बौद्धों एवं तिब्बत की अनेक परम्परायें इसमें अपना विसर्जन कर चुकी है। रात्रिसूक्त और देवीसूक्त में महा शक्ति भावमयी मूर्ति का स्पष्ट निर्देश मिलता है। अदिति और वाक् एक हो गई, वाक् और सरस्वती एक हो गई। वैदिक रणदेवी सरस्वती में दुर्गा का अभास मिलता है। मूल वैदिक सोम है, वह पार्वती उमा के रूप में पर्वत पुत्री के रूप में उपलब्ध है। सोऽहं और साऽहं के रूप में अद्वैतवाद ही तन्त्रावलम्बित चिन्मयी भावमूर्ति का मूलाधार है। इस चिन्मय तत्त्व जिसे संवित् शब्द से अन्तःज्ञान के लिये प्रयोग हुआ है, इसी वैदिक संवित् तत्त्व का विश्लेषण और साधना तन्त्र शास्त्र है।

वेद के मन्त्रों के साथ क्रिया काण्ड का योग अतिशय गम्भीर है। यह स्पष्ट एवं सत्य है कि ज्ञान और कर्म के साथ वैदिक युग में किसी प्रकार का भेद नहीं था। तन्त्र के विस्तार एवं अनेक क्रियाकाण्डों के मधुर-मिश्रण के साथ ही कर्म और ज्ञान के मध्य एक दीवाल खड़ी हो गई। गीता में द्रव्य यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान की श्रेष्ठता एवं सभी को ज्ञान में परिसमाप्ति का यही रहस्य है। आत्मा का लोकोत्तर चिन्मय भूमि में अवतीर्ण करना ही प्रधान लक्ष्य है। यह चिन्मयभूमि ही कर्मकाण्ड का स्वर्ग जिसकी प्राचीन संज्ञा स्वः अर्थात् ज्योतिर्मय अनुभव है। स्वर्ग और मोक्ष ये दो परस्पर विरुद्ध भावनायें नहीं है। तन्त्र इसी मन्त्र की विपुल या समन्वय भूमि है—जहाँ अन्तः प्रकाश स्वरूप संवित्, है। जिसकी मूलभूमि देववाद है, इसकी प्रतिष्ठा श्रद्धा पर है, जो मानवचित्त की मौलिक वृत्ति है। जिसका मूलाधार आवेश है। इसी के साथ मानव

चित्र की एक वृत्ति है, जिसे ऊह या तर्क कहा जाता है, तर्क के मूल में जिज्ञासा है, और इसकी परिणति आत्मवाद में है। देवता भी अतीन्द्रिय ज्योतिर्मय है और आत्मा भी अतीन्द्रिय ज्योतिर्मय है। आत्मवीर्य के बल से चेतना की चरमभूमि में आगमन सत्य है। एक तर्क और जिज्ञासा को आधार बनाकर चलते हैं और अन्य हृदय के आवेग बोधिग्राह्य के द्वारा स्वरूप संवित् का प्रकाश प्राप्त करते हैं। इनकी प्राप्ति का साधन श्रद्धा है। वेद हो या तन्त्र इन दोनों की अपौरुषेयता शास्त्र में वर्णित है। वैदिक हो या तान्त्रिक एक देववाद जो अखण्ड और निर्गुण निराकार है यहाँ पर्यवसान करते हैं, बहुदेववाद का इसके साथ किसी प्रकार का विरोध नहीं है। अखण्डदर्शी के लिए अखण्ड सत्ता में ईश्वर और जगत् का विरोध सर्वथा अखण्ड चेतना की आत्मदृष्टि या विश्वात्मिका संवित् में विश्रान्ति लाभ करता है। एकदेववादी शङ्कर और अभिनव बहुदेववादी भी हैं। एकदेववाद और बहुदेववाद निर्विवाद संवित् या ज्योति में पर्यवसित है। "संविदेव ही भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्" परा और अपरा विद्या शब्द वैखरी हैं चेतना या संवित् के स्वोत्तरण में देवता एक उपलक्षणमात्र है। चिति शक्ति के द्वारा जडशक्ति को अधीन करने की चेष्टा ही तन्त्र, मन्त्र, विज्ञान है। जड के अनुभव को सूक्ष्म चैतन्य की भूमि में उत्तीर्ण करना एवं उसको वश में लाने की चेष्टा करना ही एक मात्र लक्ष्य है। ज्ञान, इच्छा, क्रिया इनमें ज्ञान संवित् या प्रकाश है, इच्छा शक्ति मन के ऊपर अवस्थित सङ्कल्प है और जड के ऊपर क्रिया शक्ति है, इनको चित् की सूक्ष्म शक्ति की सहायता से जडशक्ति को प्रभावित कर सकते हैं—या नहीं इसी के लिए ऊह और श्रद्धा का विकास चल रहा है। अध्यात्म चेतना शक्ति की व्याप्ति से व्यक्ति में अलौकिक शक्ति का आविर्भाव होता है यह शक्ति का आविर्भाव सर्वत्र अनुस्यूत रहता है।

पूर्वोक्त विवरण से श्रद्धा और आवेश के आधार पर क्रिया का सम्पादन भी आर्यभावना या तान्त्रिक उपासना है। उपास्य सगुण ब्रह्म की उपासना के द्वारा चित्त की एकाग्रता के सम्पादन करने के लिए ही श्रीशङ्कराचार्य ने प्रपञ्चसार नामक आगम ग्रन्थ किया है, जिसकी पद्मपादाचार्य ने व्याख्या की है। इसी प्रपञ्चसार को

मूलाधार मानकर आचार्य लक्षणदेशिक ने **शारदातिलक** नामक संग्रह ग्रन्थ की रचना की है। इसकी व्याख्या राघवभट्ट ने इसे परममान्य मानकर किया है, ऐसा आपाततः प्रतीत होता है कि उपासना को ये लोग नहीं मानते हैं। यद्यपि कतिपय आचार्यों ने इस ग्रन्थ को आचार्य शङ्कर की रचना नहीं मानते हैं। किन्तु अमलानन्द ने प्रपञ्चसार को भगवत्पाद की रचना मानी है। वेद एवं ब्रह्मसूत्र भी उपासना के विचार से परिपूर्ण है। अतः अद्वैतवाद उपासना का विरोधी नहीं है। यदि उपासना अद्वैतवाद का विरोधी होता तो आगमाचार्य अद्वैतवाद प्रतिपादन व्यर्थ हो जाता।

वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्॥

त्रिपुरारहस्य में इसी आशय की अभिव्यक्ति है—

न सृष्टिर्नापि संहारो न स्थितिर्नापि च क्रमः।
चिदानन्दघनं चेत्थमात्मतत्त्वं प्रकाशते॥
( त्रिपुरार० ज्ञा० का० ता० दी० १४।६० )

कल्पतरुकार की पूर्व उक्ति से उपासना का रहस्य स्पष्ट हो रहा है। मैंने त्रिपुरारहस्य का भी वचन उद्धृत किया है—उससे आत्माद्वैत की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति हो रही है। वस्तुतः आगमशास्त्र ब्रह्मकाण्ड नहीं है वरन् उपासनाकाण्ड है। प्रसङ्ग प्राप्त ब्रह्मचर्चा उपासना काण्ड में होने पर भी उपास्य ब्रह्म सगुण ही है और वही मुख्यतः इसका प्रधान प्रतिप्राद्य है। किन्तु सगुणशास्त्र का प्रतिपादक शास्त्र निर्गुणशास्त्र का विरोधी नहीं होता है। सगुण तत्त्व के बोध के विना निर्गुण तत्त्व का बोध नहीं हो सकता है।

आगमशास्त्र को स्मृति प्रस्थान के अन्तर्गत माना है श्रुति प्रस्थान के अन्तर्गत नहीं माना है, अतः, आगमशास्त्र का मूल श्रुति प्रस्थान ही है, श्रुति विरोधी आगमशास्त्र प्रमाण नहीं है। शारदातिलक के टीकाकार राघवभट्ट ने कहा है अन्य स्मृतिशास्त्र श्रुतिमूलक होने से उसके अर्थ के प्रतिपादक के रूप में उनका प्रमाण्य सुप्रसिद्ध है, इस आगमस्मृति का प्रमाण्य कैसे वेदमूलक माना गया है—यह शङ्का कर समाधान में कहा है। उपक्रम और उपसंहार अपनी लीलारूपी अनिर्वाच्य अनादि अविद्या की सहायता से परमानन्द-स्वरूप नित्य शुद्ध बुद्ध स्वभाव पर ब्रह्म में ही सम्पूर्ण विश्व की

सृष्टि की है। उपासना काण्ड ही कियात्मक रूप में आगम शास्त्रात्मक है।[1] अप्पयदीक्षित भट्टोजीदीक्षित आदि प्राचीन आचार्यों ने भी आगमशास्त्र के अधिकारी के निरूपण में यही कहा है। श्री राघवभट्ट ने आगमशास्त्र वेदप्रतिपाद्य विषय की ही अलोचना करता है, इस विषय का विस्तृत निरूपण शारदातिलक की टीका में ही उपक्रम से किया गया है।

इस प्रसङ्ग में यह विचारणीय है कि ऐसी स्थिति मैं आगम शास्त्र की क्या आवश्यकता है? श्रौतसाधनों से ही जीव स्वर्ग या मोक्ष को प्राप्त कर लेगा। यह प्रश्न उत्थापित कर राघवभट्ट ने कहा है कि उपक्रम उपसंहार आदि के द्वारा श्रुतियों की आलोचना करने पर यही सिद्ध होता है कि परमानन्दस्वरूप नित्य शुद्ध बुद्ध स्वभाव पर ब्रह्म अपनी लीला से अनादि अनिर्वचनीय अविद्या की सहायता से समस्त जगत् की सृष्टि करता है। ब्रह्म के जगत् स्रष्टा होने पर भी राघव भट्ट के अनुसार अविधा को न मानने पर असङ्ग ब्रह्म में जगत् की कारणता नहीं हो सकती हैं। असङ्ग चैतन्य कारण नहीं हो सकता है इसका प्रतिपादन आगमशास्त्र में ही किया गया है। भर्तृहरि ने भी धातु-समीक्षा प्रकरण में कहा है कि शुद्ध ब्रह्म को प्रपञ्च का हेतु मानने पर प्रपञ्च ब्रह्म के समान ही परमार्थ सत्य होता, प्रपञ्च की पारमार्थिक सत्ता मानने पर उसकी निवृत्ति सम्भव नही हो सकती थी[2] अतः माया ही ज्ञानज्ञेयादिरूप प्रपञ्च का साधन है। इतना ही नहीं शारदातिलक की टीका में राघव भट्ट ने आध्यात्मविवेक के पद्यों के आगम वाक्य को उद्धत कर अद्वैतवाद का ही समर्थन न किया है। स्वयम् प्रकाश निरंजन सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, अग्नि के स्फुलिङ्ग के समान अनादि है।

---

१. अन्येषां तु स्मृतिशास्त्रादीनां तन्मूलकत्वेन तदर्थप्रतिपादकत्वेन च प्रामाण्यमिति सुप्रसिद्धतरम्, अस्यास्त्वागमस्मृतेः कथं तन्मूलकत्वम्? ..... अनेकजन्मसिद्धस्ततो यान्ति परां गतिमिति वचनादत एतदुपासनाकाण्डमेवागमशास्त्रात्मकं गरीय इति सिद्धम्। पदार्थादर्श पृ. १–२

२. धातुसमीक्षायां ब्रह्मवित्प्रकाण्डैर्भर्तृहरिभिरभिहितम् :—

शुद्धतत्त्वं प्रपञ्चस्य न हेतुरनिवृत्तितः।
ज्ञानज्ञेयादिरूपस्य मायैव जननी ततः॥

शारदा १ म पटल ३१ पृ. चित्सुखी टीका पृ. ६०

अविद्यारूप उपाधि के कारण ब्रह्म का अंश जीवसमूह अनादि कर्मों के अनुसार सुख-दुःख पुण्य-पाप आदि से युक्त होता है।[1]

शैवागम के परमाचार्य अप्पय दीक्षित ने "रत्नत्रयपरीक्षा" शास्त्र के उपसंहार में कहा है कि [2]शैवभाष्यरूप समुद्रमन्थन कर मैंने तीन रत्न प्राप्त किया है—ये तीन-शिव, गौरी और हरि हैं। शैवागम, शाक्तागम और वैष्णवागम का मुख्य प्रतिपाद्य वस्तु का प्रदर्शन इस "रत्नत्रयपरीक्षा" में किया गया है। आरम्भ में ही ग्रन्थकार अप्पयदीक्षित ने कहा है, "दोषलेश रहित निरतिशय सुखस्वरूप नित्य एक ब्रह्म चैतन्य ही माया के कारण धर्म और धर्मिभाव में पृथक् दो स्वरूप लाभ करता है।[3] सभी कार्यों के अनुकूल सर्वविषयक अनुभूति ही धर्म के नाम से कही जाती है। गौरी एवं नारायण ही धर्म है एवं परमशिव ही धर्मी है। इसी प्रकार त्रिविध आगम शास्त्रों का अद्वैत में ही पर्यवसान होता है। शाक्तागम के परमाचार्य भास्कर रायने भी चण्डी की गुप्तवती टीका में अप्पय दीक्षित का ही समर्थन किया है। पाञ्चरात्रागम के अन्तर्गत परमात्म संहिता में भी अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ही जीव और ब्रह्म का ऐक्य प्रदर्शन किया गया है, जीव और ब्रह्म का ऐक्य निगमागम श्रुतिशिद्ध है। देह का भेद प्रयुक्त ही जीव का बहुत्व भासमान होता है, जैसे एक मुख ही अनेक दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर अनेक वैसे ही जीव अनेक रूप में भास-

---

१. अस्ति ब्रह्म चिदानन्दं स्वयं ज्योतिर्निरञ्जनम्।
सर्वशक्तिः च सर्वज्ञं तदंशा जीवसंज्ञकाः॥
अनाद्यविद्योपहिता यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गकाः।
दीर्घाद्युपाधिसम्भिन्नास्ते कर्मभिरनादिभिः॥
सुख-दुःखप्रदैः पुण्यपापरूपैर्नियन्त्रिताः।
तत्तज्जातियुतं देहमायुर्भोगञ्च कर्मजम्॥(शा. ति. टी. ३१)

२. आमथ्य भाष्यदुग्धाद्धि मयाप्तं रत्नत्रयं ततः।
शम्भुगौरीहरिश्चेति तच्च सम्यक् परीक्षितम्॥ (रत्नप. अन्तिमपद)

३. नित्यं निर्दोषगन्धं निरतिशयसुखं ब्रह्म चैतन्यमेकं
धर्म्मोधर्मीति रूपद्वयमयति पृथक् भूतमायावशेन।
धर्मस्तत्रानुभूतिः सकल विषयिणी सर्वकार्यानुकूला
शक्तिश्चेच्छादिरूपा भवति गुणगणश्चाश्रयस्त्वेक एव॥ (र.प.१श्लोक)

मान होता है. इसी प्रकार एक ही ब्रह्म देह रूप उपाधि के कारण अनेक जीवरूप में भासमान होता है।[1]

कुमारिल भट्ट के तंत्रवार्तिक से यह अवगत होता है कि जैमिति ने छान्दोग्यानुवादादि ग्रन्थों की रचना की थी। किन्तु यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। मीमांसा शास्त्र के संकर्षण काण्ड की रचना जो चार अध्यायों में थी वह भी जैमिनि ने की थी। उसमें उपासना तत्त्व का विश्लेषण था। इसी संकर्षण काण्ड का दूसरा नाम—देवताकाण्ड था। प्रपञ्च हृदय में चार अध्याय के इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में वर्णित विषय देवता तत्त्व का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में विधि, अर्थवाद, नामधेय देवता का विशेषत्व आदि वर्णित हैं। तृतीय अध्याय में एक ही साथ में अनेक शरीर को धारण कर सकते हैं। अनेक स्थान में व्यक्त हो सकते हैं और अपनी इच्छानुसार तिरोहित हो सकते हैं, चतुर्थ अध्याय में सत्कर्म के फलस्वरूप देवत्व लाभ अपवर्ग या क्रममुक्ति का निर्देशन है। देवता तत्त्व का प्रतिपादन होने के कारण ही यह उपासना काण्ड के नाम से विख्यात है यही तन्त्र का मूलाधार है।

महामुनि बोधायन ईसा से पूर्व का माना गया है। उन्होने द्वादशलक्षणी मीमांसा का चार अध्यायात्मक संकर्षण काण्ड एवं उत्तर मीमांसा के ऊपर कृतकोटिभाष्य नामक विशाल भाष्य की रचना की थी। वृत्तिकार उपवर्ष ने बीस अध्याय के ऊपर वृत्ति की रचना की थी। अनन्तर देवस्वामी ने उत्तर काण्ड के चार अध्यायों को छोड़कर सोलह अध्याय पर भाष्य की रचना की।

आचार्य शंकर ने भी असमुद्र हिमाचल भारत के सभी देवी देवताओं की स्तुति कर उनकी पूजा और प्रतिष्ठा के साथ विग्रहवती पंचदेवता की उपासना के साथ उनकी प्रतिष्ठा की। अतः दोनों का कार्य विरुद्ध है। वस्तुतः शंकर के विषय में पंचदेव की उपासना को

---

१. परक्षेत्रज्ञयोरैक्यमात्मनोः श्रुतिचोदितम्।
क्षेत्रज्ञस्य बहुत्वं हि देहभेदात् प्रतीयते॥
एकस्यैव तु बिम्बस्य दर्पणेषु यथा भिदा
भूतपञ्चक-सङ्घातः क्षेत्रं तत्र व्यवस्थितः॥
जीवो यस्तं विदुः प्राज्ञाः क्षेत्रज्ञं परसंज्ञितम्॥
(नृसिंहाश्रम. अद्वैतदीपिका १ प. सू. १।१।५)

वेद विरुद्ध व्यवहार सिद्ध करना भी आपात रमणीय है, क्योंकि कृष्ण अजुर्वेद के मैत्रायणी शाखामें रुद्र महादेव, गौरी, गणेश, ब्रह्मा विष्णु एवं सूर्य की उपासना के लिए उनकी गायत्री पठित है। अग्निचयन की विजय कहकर उस चित् अग्नि में पूजा के लिए महादेव शिव का आवाहन करने के लिए मंत्र में कहा गया है। तन्त्र में भी इन्हीं की उपासना है। केवल मन्त्रों में भेद है।

देवानां च ऋषीणां चासुराणां च पूर्वजम्।
महादेवं सहस्राक्षं शिवमावाहयाम्यहम्॥

शिव के सम्बन्ध में श्रुति कहती है—

तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रूद्रः प्रचोदयात्। शक्ति के सम्बन्ध में कहा गया है "उदगाङ्नो चयाय विद्महे गिरिसुताय धीमहि तन्नो गौरी प्रचोदयात्।

गणपति के सम्बन्ध में कहा है—

तत् कराटाय विद्महे हस्तिमुखाय धीमहि तन्नो दन्ती प्रचादयात्।

विष्णु के सम्बन्ध में कहा गया है—

तत्केशवाय विद्महे नारायणाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।

सूर्य के सम्बन्ध में कथित है—

तद्भास्कराय विद्महे प्रभाकराय धीमहि तन्नो भानुः प्रचोदयात्।

कार्तिकेय के सम्बन्ध में कथित है—

तत्कुमाराय विद्महे कार्तिकेयाय च धीमहि तन्नो स्कन्दः प्रचोदयात्।

ब्रह्मा के विषय में—

तच्चतुर्मुखाय विद्महे पद्मासनाय धीमहि तन्नो ब्रह्मा प्रचोदयात्। ( वलिन प्रकाशित मैत्रायणी संहिता अग्नि चिति प्रकरण ११६-१२० )

अतः पञ्चदेवो की उपासना अश्रौत नहीं है। अतः इस अंश में दोनों आगम और निगमकारों का सिद्धान्त-विरोध नहीं है। कर्मवाद के सम्बन्ध में भी पारमार्थिक दृष्टि से विरोध नहीं है। अशुद्ध चित्त कामना वशीकृत जीव ज्ञान मार्ग का पथिक नहीं हो सकता, वह कर्म मार्ग का ही अधिकारी है। चित्त शुद्धि के लिए

यज्ञदान कर्म अवश्य ही अनुष्ठेय है। यह ज्ञान मार्गी भी मानते हैं। तन्त्र और दर्शन में 'यजति चोदना द्रव्यदेवतादिक्रियं समुदाये कृतार्थत्वात।' ( ४।२।२७ ) यह कहा गया है।

कल्पसूत्रकार कात्यायन ने भी यज्ञं व्याख्यस्यामः द्रव्यं देवता त्यागः ( १।१।१।२ ) यही कहा है। इसी विषय को श्रुति भी कहती है यस्यै देवतायै हविर्गृहीतनस्गात तां ध्यायेद् वषट् करिष्यन्।

( ऐतरेयब्राह्मण २।१।८ ) इत्यादि वेद वचन से देवता का ध्यान कर हविः का त्याग करना चाहिए। यह भी दोनों पक्ष में स्मरणीय हैं। शवर स्वामी ने मीमांसा दर्शन के ( ९।१।९ ) देवताधिकरण भाष्य में कहा है वह प्रौढ़िवाद मात्र है। क्योंकि खण्डदेव ने अपने भाट्ट कौस्तुभ में इस विषय का सिद्धान्त तन्त्र के अनुसार उपस्थापित किया है। छठे अध्याय प्रथम पाद के पञ्चम सूत्र के तिर्यगधिकरण भाष्य में न देवानां देवतान्तराभावाद् इस वचन से सामञ्जस्य भी तन्त्र का होता है। वहां टीका में कुमारिल भट्ट ने कहा है येषां शब्द एव देवता तेषां अप्युक्तो ग्रन्थः अर्थात् जिसके मन में विग्रहवान् देव नहीं हैं अपितु शब्दमयी देवता है उस मत में यह युक्ति संगत नहीं होती हैं। अतः यदि यह माना जाय कि देवता का विग्रहवत्त्वापलाप सामञ्जस्य की दृष्टि से शास्त्रीय सिद्धान्त नहीं है। अन्यथा संकर्षकाण्ड की देवतात्व आलोचना व्यर्थ हो जायगी। इसीलिए तन्त्र के अनुसार देवता का पाँच विग्रह प्रदर्शित किया गया है।

विग्रहो हविषां भोग ऐश्वर्यं च प्रसन्नता।
फलप्रदानमित्येतद पञ्चकं विग्रहादिकम्॥

अर्थात् इच्छानुसार शरीर धारण कर यज्ञ में प्रदत्त वस्तु का भक्षण, सभी पर प्रभुत्व, समर्पित की प्राप्ति से तृप्ति, फलदातृत्व ये पञ्चविग्रहादि कहे गये हैं। अतः कर्मप्रतिपादनपरक आगम शास्त्र में कर्म का प्राधान्य स्वाभाविक है। इस विषय में विस्तृत विश्लेषण आगे प्रस्तुत करने जा रहा हूं एवं इस प्रसङ्ग में इतना ही कहना उचित होगा कि कर्म और ज्ञान के प्राचीर में शास्त्र विशेष का तात्पर्य न होने के कारण यह परवर्ती काल की देन है। आर्यभावना दीप्ति की उपासना है और मुक्ति और स्वर्ग चिन्मय भूमि प्रस्तुत करती है।

वैदिक धारा का अन्वेषण करने पर दो धारायें सम्मुख उपस्थित होती है एक ऋषिधारा और दूसरी तान्त्रिकों की तन्त्रधारा। वैदिक ऋषियों ने अनेक प्रसङ्ग में अदेव एवं देवनिद् के प्रति अतिशय कटाक्ष किया है। यद्यपि इसका सामान्य अर्थ वेदनिन्दक होता है, किन्तु नास्तिक के रूप में चार्वाक आदि का ग्रहण नहीं है, वरन् सम्प्रदाय-वाद के वाद की भूमि पर किसी सिद्धान्त के प्रवर्तक का ग्रहण किया है। दार्शनिक या तान्त्रिक चिन्ताधारा वैदिक हो या अवैदिक, इतना सत्य है कि आत्म दर्शन मनन का ही फल है, अतः दर्शन को तर्क प्रस्थान कहा गया है और इसी की धारा पर प्रवहमान दार्शनिक चिन्ता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि एक बौद्ध धारा ( Rationalist ) और दूसरी ब्राह्मण ( Intuitionist ) धारा है। यही मुनिधारा या तन्त्रधारा है, यह तार्किक आघात-प्रतिघात में अपनी धारा की रक्षा के लिए लक्ष्य से बहुत दूर हो जाती है। यही मुनिधारा दार्शनिक इतिहास की पृष्ठभूमि है। इसका आयतन इतना विशाल है कि सहस्रधाराओं में प्रवाहित इस धारा के लिए मुनिमतद्वैध के कारण श्रुतिद्वैध आभासित होने लगा है। इस धारामें ही कर्म, भक्ति और ज्ञान एवं ईश्वरवाद अनीश्वर-वाद, आत्मवाद, निरात्मवाद तक अवस्थित हुआ है। योग भूमि पर मुनियों की आगन्तुक सवज्ञता का तारतम्य तथा उनके मौन की व्याख्या में तार्किक समीक्षा आचार के लिए प्रतिष्ठित ज्ञान को पाश्चात्त्य दार्शनिकों के विद्याविलासात्मक फिलोसफी के समान इसके अध्ययन को मनन तक ही सीमित कर दिया तथा आचार से उपक्रम पर प्रस्तुत ज्ञान को इच्छा कृति के रूप में आचार, और प्रचार से शून्य कर दिया। यह है मनन के आधार पर प्रस्तुत मनि-धारा जिससे निरतिशय सर्वज्ञ से उपलब्ध ऋषिधारा सर्वथा म्लान क्षीण हतप्रभ हो प्रवहमान होने लगी। वेद मीमांसा तो दूर वेद भवन पर प्रतिष्ठित तर्कात्मक घात-प्रतिघात के अध्ययन में ही जीवन की इति श्री होने लगी। भारत की देवी अखण्डिता या अदिति एक थोथे विचार का विषय या देव जननी मात्र रह गई और पौराणिक गाथाओं में उनका सत्य स्वरूप विस्मृत होने लगा।

यह सत्य है कि मन्त्रभूमि की व्याख्या ही ब्राह्मण है। प्राचीनतम वेदका विभाग मन्त्र और ब्राह्मण ही है, आरण्यक और उपनिषद् ब्राह्मण के ही अन्तर्गत है। मन्त्र और ब्राह्मण की अपेक्षा उपनिषद्

की भाषा और भाव की सरलता से इसका अतिशय प्रचार हुआ। मन्त्र की व्याख्या ब्राह्मण को मानने पर भी उसे कर्ममीमांसा माना जा सकता है, वेदार्थमीमांसा नहीं। मन्त्र के साथ ज्ञान के फल क्रिया का योग असाधारण है। क्रिया का सुश्रृंखल और सुस्पष्ट रूप का निदर्शन ही ब्राह्मण है। व्याख्या में मन्त्र के रहस्यार्थ का आविष्कार आवश्यक होने से मीमांसा के द्वारा रहस्यार्थ का आविष्कार किया गया है।

इस प्रसङ्ग में यह स्पष्ट करना आवश्यक है; ज्ञान और कर्म के मध्य में एक प्राचीर की रचना परवर्ती काल की देन है जिसे तन्त्र धारा से बलाधान हुआ। वैदिक युग एक अदिति ( अखण्ड ) दीप्ति की उपासना होने से यह प्राचीर नहीं था। द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञ की चर्चा गीता में उपलब्ध है, वहाँ भी समस्त कर्मों की परिसमाप्ति ज्ञान में ही की गई है। आत्मा चेतना को लोकोत्तर चिन्मयभूमि में अवतीर्ण करना ही ज्ञान और कर्म का समान लक्ष्य है। इस चिन्मय भूमि का ही नाम स्वर्ग है, जिसकी प्राचीन-संज्ञा 'स्वः' = दीप्तिमय अनुभव। ज्ञानयज्ञ से जिस भूमि पर उत्तीर्ण करना चाहते हैं, वहीं तान्त्रिक अपनी साधना से भी उत्तीर्ण करना चाहते है। स्वर्ग और मोक्ष ये दोनों परस्पर विरुद्ध भावना नहीं वरन् एक ही की दो संज्ञा है। शुक्लयजुर्वेद के संहिता भाग के अवसान में ईशोपनिषद् अन्तर्मुक्त है, यजुर्वेद को कर्मवेद माना गया है। इस उपनिषद् का कर्म के अवसान में सन्निवेश अतिशय अर्थपूर्ण है। उदार एवं उदात्त दृष्टि के साथ विराट् समन्वय की चेष्टा ही इसकी अतुलनीय देन है। कर्म के शेष में सार्वभौम ज्ञान की दीप्ति में ही कर्म का अवसान तत्त्व ज्ञान है जो तन्त्र की दिशा प्रशस्त करती है।

ज्ञान की धारा के प्रदीपको योगी याज्ञवल्क्य ने अपनी प्रियतमा मैत्रेयी को गृहस्थ कर्म के शेष में उद्दीप्त किया--आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च"। याज्ञवल्क्य के इस उपदेश में भारतीय जनता का जीवन प्रवाह आशा आकाङ्क्षा का पर्यवसान परिलक्षित होता है। 'एतावदरे खल्वमृतम्'। आत्मा का श्रवण मनन और निदिध्यासन ही मोक्ष का एकमात्र साधन है। इस उपदेश के व्याख्यान में ही भारतीय दर्शन की असंख्य धाराएँ प्रवाहित हैं। आत्मतत्त्व का अपरोक्षावभासन ही मोक्ष है, और इसी आत्मतत्त्व की चिन्मय भूमि में अवतीर्ण होना स्वर्ग है। इस आत्म-

तत्त्व के निदिध्यासन या उपासना में प्रवृत्त होकर समस्त जगत्प्रपञ्च को आत्मव्यतिरिक्त प्रतीति ही सुलभ रहती है। इस अवस्था का अवलम्बन कर ही कर्ममीमांसा एवं तन्त्र की साधना की प्रवृत्ति मानी जा सकती है, कुमारिल का मङ्गलाचरण भी इस समन्वय भावना का परिचायक है—

विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे।
श्रेयः प्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्द्धधारिणे॥

सम्पूर्ण विश्व को चिन्मय मान कर गुरुदीक्षापूर्वक साधना ही आगम है।

शुक्लयजुर्वेद का प्रवर्तक आचार्य याज्ञवल्क्य ही ज्ञानधारा एवं तन्त्रधारा का भी प्रवर्तक है जिसकी प्राप्ति सविता से होती है। अतः ज्ञानवासना और कर्मवासना दोनों चरम में तन्त्र से प्राप्त हो या मन्त्र से भूमि एक ही है। मन्त्र का मीमांसा से सम्बन्ध है। मननात्मक मन् विस्तार और ज्ञानार्थक तन् धातु से मन्त्र और तन्त्र निष्पन्न है। मन्त्र शब्द दीप्त्यात्मक देवाविष्ट मनन का स्वतः विच्छुरण है और तन्त्र संविद् बोध करने की प्रचेष्टा ही है। मन्त्र के रहस्य को स्वतः सिद्ध मानकर उसके प्रतिपाद्य कर्मचोदना और ज्ञान प्रेरणा को सुसम्बद्ध रूप देने की चेष्टा से तन्त्र का आविर्भाव है। ज्ञान के लिए वेदार्थ की आदि मीमांसा मन्त्र है, जिसमें कर्ममीमांसा एवं ब्रह्ममीमांसा भी प्राप्त होती है। मीमांसा की धारा अक्षुण्ण प्रवाहित होने पर भी इसे सुसम्बद्ध रूप दार्शनिकों ने दिया है। कालक्रम में दर्शन के मतवाद को एक विशिष्ट आकार तार्किक बुद्धि की देन है। वैदिक साहित्य में अध्यात्मसाधना का जो स्वरूप प्राप्त होता है, उसके मूल में शब्द मूर्ति देववाद है। देववाद की भित्ति श्रद्धा है और श्रद्धा मानव चित्त की मौलिकवृत्ति अतीन्द्रिय पदार्थ है। इसी के सान्निध्य में एक अन्यवृत्ति भी प्राचीनकाल से वर्तमान है, जिसकी ऊह या बाद की तर्क संज्ञा हो गई है। तर्क की दृष्टि प्रत्यक्वृत्त है और उसके मूल में जिज्ञासा है। साधना के परिणामस्वरूप आत्मवाद है। देवता और आत्मा दोनों ही अतीन्द्रिय है। आत्मदर्शन या देवदर्शन दोनों ही अतिप्राकृत है। आत्मवाद संशय को निमित्त रूप से मानता है। देववादी या आत्मवादी दोनों ही सार्वभौम को ही आधार करता है। तन्त्र भाषा में एक आवेगकल्पित विप्र है और एक

पौरुषदृप्त नर है। एक के पास प्राप्ति का साधन श्रद्धा है और एक के पास तर्क या बुद्धि है।

जिस वाणी की सङ्गति के साधन में तन्त्र की समस्त शक्ति नियोजित रहती है वही आगम है। समग्र तन्त्र की तान्त्रिक मीमांसा आज भी दुर्लभ है। पूर्व मीमांसा का उपजीव्य आगम भाग है, और तन्त्र का उपजीव्य साक्षात् शिव और शक्ति है यह सत्य है कि समस्त वेद और तन्त्र का प्रामाण्य स्वीकार किया गया है। किन्तु एकत्र कर्ममीमांसा, कर्मकाण्ड या साधन शास्त्र है साधना का उपकरण स्थूल द्रव्य अवश्य है, किन्तु उसका लक्ष्य स्वर्ग या अध्यात्म चेतना की भूमि है। द्रव्ययज्ञ या ज्ञानयज्ञ ही इसकी प्राप्ति का साधन है। किन्तु इस स्थूल के साथ सम्बद्ध, साधन का सूक्ष्मतम तत्त्व उपकरण है। मनोमय साधना की विवृति और श्रद्धा की आलोचना से तान्त्रिक शिव और शक्ति की परम्परा में ऋषि के अध्यात्मदर्शन की पूर्ण छवि सुलभ होती है।

इसमें विप्रतिपत्ति का अवसर ही कहा है कि वेदमन्त्रों की रक्षा करने का शुद्ध प्रयास कर्मकाण्ड में किया गया है, आत्मचिन्तन में नहीं।

आर्य समाजियों ने भी वेद की व्याख्या करने का असफल प्रयास किया था, क्योंकि, वह सम्प्रदाय में आबद्ध होने के कारण उसमें ऋषिधारा या आगम का पल्लवित रूप उपलब्ध नहीं हो सका, अतः मनन की भूमि पर तर्क प्रतिष्ठित यह व्याख्या नास्तिक से वहिर्भूत नहीं है। आगन्तुक सार्वज्ञ्य का आरोप कर प्रस्तुत वेदार्थ कभी अपौरुषेय निरतिशय सहज सर्वज्ञ की व्याख्या नहीं हो सकती है।

इसी क्रम में वेदव्याख्या के लिए वेदाङ्ग का भी अवसर प्राप्त होता है। इन वेदाङ्गों में निरुक्तकार का विशेष महत्त्व है। यद्यपि निरुक्त में आनुपूर्वी व्याख्या नहीं है तथापि अनेक मन्त्रों की व्याख्या उपलब्ध होती हैं। यह व्याख्या कर्मपरक होते हुए विद्युत्प्रकाश के समान अनेक रहस्यों का भी उद्घाटन करती है, इतना ही नहीं वेद विभिन्न धाराओं का उल्लेख भी उपलब्ध होता है। यास्क इन व्याख्याकारों में अन्तिम आचार्य हैं। इसके साथ ही मध्ययुग के शेष भाग में सायणाचार्य उपलब्ध होते है, जिनकी समग्र वेद की आनुपूर्वी व्याख्या मिलती है। किन्तु इनकी व्याख्या आकस्मिक नहीं है वरन्

प्राचीन धारा का क्रमानुवर्तन है, जो आज भी व्याख्यान क्रम में अनुवर्तित है। इस समय तान्त्रिक पल्लवन हो चुका था। सायण ने कर्मपरक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए भी अन्य धाराओं को भी उदात्त उदाररूप में परिगृहीत किया। इस प्रकार यह अवगत होता है कि वेदकाल से ही तन्त्र, निरुक्त मीमांसा आदि के क्रम में अविच्छिन्न अक्षुण्ण वेद की व्याख्या प्रवाहित हो रही है, किन्तु मध्य में विच्छेद होते हुए भी ब्राह्मण्यधारा और आगमधारा में विशेष भेद नहीं है। यास्क की परम्परा से वेद के रहस्यार्थ के उद्बोधन की परम्परा भी चलती रही है। देवतकाण्ड ने देवतत्त्व की आलोचना से निगूढ़ रहस्य की ओर इङ्गित करती है। जिसे मीमांसा ने मन्त्रमूर्ति के रूपमें प्रतिष्ठित किया और तन्त्र में दीक्षा के आधार पर देवतत्त्व को चेतनतत्त्व का ही रूप दिया है। अलौकिक अनुभव का फल होने से अध्यात्म व्यञ्जन से दूर रहना सम्भव ही नहीं है। कर्म के आधार पर मीमांसाशास्त्र पूर्व और उत्तर रूप में उपलब्ध है, जहाँ द्रव्ययज्ञ के विना भी चिन्मय भूमि में उत्तीर्ण होने की सम्भावना है। किन्तु वेदार्थ का शैथिल्य तर्कमार्गियों बोद्धों के कुतर्क की देन एवं प्रभाव है।

तर्क में एक आवेश होता है। वह एकाङ्गी होकर किसी विशेष व्याख्या में पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष का एक क्रम चलता है जो लक्ष्य से सहज ही दूर अवतीर्ण करा देता है। ज्ञान काण्ड की अवतारणा के साथ मन्त्रार्थ की उपेक्षा आरम्भ हो गई थी।

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि वेद सार्वभौम अखण्ड दीप्ति की साधना है और इसका उद्देश्य आचार और अविचार की भूमि पर प्रचार है। कर्म और ज्ञान की यात्रा का चरम लक्ष्य अमृतत्वलाभ है। इस अमृतत्व की प्राप्ति कर्म के द्वारा ही निगम और आगम से प्रतिपादित है।

ऋग्वेद में सोमका बहुधा उल्लेख मिलता है। एक मण्डल ही सोममन्त्रों का संग्रह है। वर्णन के आधार पर सभी यज्ञों में श्रेष्ठसोम याग है। इसका अनुष्ठान भी जटिलतम है। देवत्व प्राप्ति का तन्त्र और यह भी साधन है। अमृतत्वलाभ ज्योतिर्मय जीवन में उतीर्ण होना है। यदि यह कहा जा सकता है कि विश्वात्मक ज्योति से एकात्मता है। जिसमें सम्पूर्ण विश्व के साथ एकात्म होकर सबके कल्याण के लिए एकाङ्गी जीवन से निरपेक्ष सार्वजनिक जीवन के रूप में कर्तव्य

पथ पर आरूढ़ होना और आरूढ़ करने की भावना सन्निहित है। एक खण्ड सत्य के आधार पर एक गोष्ठी के कल्याण की भावना की प्रेरणा नहीं है। इस प्रकार यह जटिल कर्मरूप है और दूसरी ओर सरलज्ञान रूप है। वेद में कहा है:—जिसने औषधि स्वरूप सोम का पान किया या मानस सोमका पान किया, किन्तु जो सोम को ब्रह्म जानते हैं, उस रसको कोई नहीं पा सकता है। योग और तन्त्र की साधना में अग्निषोमतत्त्व एवं अमृतस्यन्दन की विवृति एवं प्रयोग का अध्ययन एवं अनुशीलन करे तो इसके रहस्य का उद्घाटन सम्भव है।

वेद एवं तन्त्र के व्याख्यान से पूर्व श्रुति का अर्थज्ञान अपेक्षित है—ऋष् गतौ धातु से सर्वधातुभ्यइन् ( उ. सू. ५५७ ) इन् इगुपधात् कित् ( उ. सू. ५५९ ) से कित् कर 'ऋषि' शब्द निष्पन्न होता है। वेद की प्राप्ति के लिए तप का अनुष्ठान करने वाले पुरुष को स्वयम्भु वेद पुरुष ने प्राप्त किया अजान् ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् त ऋषयोऽभवत् ( तै. आ. २।९।१ ) अतीन्द्रिय वेद का परमेश्वर के अनुग्रहण प्रथम दर्शन के कारण ही ऋषि कहे गये।

युग के अन्त में अन्तर्हित इतिहास के साथ वेद को महर्षियों ने तपके द्वारा स्वयम्भु के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया।

तपोवन में महर्षि कल्प जीवन परायण मुनिगण त्रैगुण्य विषयक ज्ञान के निस्त्रैगुण्य होते हुए भी जीवों के प्रति महाकरुणा से सदा आर्द्रचित्त आत्म अनुग्रह की इच्छा के विना भी ज्ञान-कल्पतरु दुःख त्रयनाशक ज्ञान विज्ञान फल के मीमांसा को योग समृद्धि से अविष्कृत किया। यह वही समय था जब परमकरुणामयी शक्ति वृद्धा माता के समान करुणा की पात्र बन गई थी। आपातमधुर पर्यन्त परिताप-फलक शरीर को ही सर्वस्व मानने वाली सन्तान कल्याण राशि सम्पादक माता की सेवा से विमुख थी। लोक प्रतिष्ठा की अभिलाषा से सेवा भले ही किसी ने की, किन्तु यह सेवा नहीं इस सेवाभास से जननी की रक्षा नहीं, वरन् क्षय मार्ग की प्रशस्ति थी। इस प्रकार तन्त्र और वेद अनादि हैं।

तन्त्र और उसका विभाग :—

तन्त्रशास्त्र से विहित साधना शक्ति की साधना है। काशिका में "तिवुत्रतथसिसुसरकसेषु च" ( ६।२।९ ) इस पाणिनि सूत्र की व्याख्या में कहा है, विस्तारार्थक तन् धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय कर तन्त्र

शब्द निष्पन्न होता है। अर्थात् तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्। ज्ञान का विस्तार होने के कारण ही इसे तन्त्र कहा जाता है। कामिकागमों के अनुसार यह शास्त्र तत्त्व एवं मन्त्र समेत विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत कर जीव का त्राण करता है, इसीलिए इसे तन्त्र कहा जाता है।

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते। ( पृ. ५५ )

यद्यपि तन्त्र शब्द के अनेक अर्थ कोष आदि में कहे गये हैं, किन्तु उसका विवरण अप्रस्तुत होने से उपेक्षाकर शिव आदि से कथित तन्त्र का ही विश्लेषण प्रस्तुत है। तन्त्रशास्त्र का अपर पर्याय साधना शास्त्र या कर्म शास्त्र है। इसका प्रणेता कोई नहीं है, वरन् इसका अनुस्मरणकर्ता ही है। तन्त्रशास्त्र का प्रधान रूप से, आगम, यामल और तन्त्र ये तीन विभाग किये जा सकते हैं[1]।

आगम--सृष्टि, प्रलय, देवताओं की विधिपूर्वक अर्चना, मन्त्रों की साधना, पुरश्चरण, षट्कर्मसाधन एवं चतुर्विध ज्ञान योग इन सात लक्षणों से समन्वित शास्त्र को आगम कहा जाता है।

"सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम्।
साधनञ्चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥

कुलार्णव तन्त्र के अनुसार जिस शास्त्र में आचार का वर्णन हो, एवं यथाविधि दिव्य गति की प्राप्ति का साधन निरूपित हो, और महान् आत्मतत्त्व का वर्णन हो--उसको आगम कहा जाता है[2]

रुद्रयामल तन्त्र में आगम की व्याख्या करते हुए कहा गया है--शिवमुख से आगत गिरिजामुख में गत वासुदेव सम्मत होने से आगम कहा जाता है। आगतम्, गतम्, मतम् इन पदों के प्रथम तीन अक्षरों के आधार पर ही आगम[3] संज्ञा है। आगम के साथ ही निगम का भी

---

१. षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद्विदुर्बुधाः। ( भा. त. भू. पृ. २ )
तन्त्रशास्त्रन्तु प्रधानतस्त्रिधा विभक्तम्--आगम-यामल-तन्त्रभेदतः।
( मातृ. भू. पृ. २ )

२. आचारकथनाद्दिव्यगति-प्राप्ति-विधानतः।
महात्मतत्त्वकथनादागमः कथितः, प्रिये॥ ( कु. त. पृ. १६ )

३. आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतञ्च गिरिजामुखे।
मतं श्रीवासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते॥ ( रु. या. पृ. २ )

निर्देश मिलता है, अतः, निगम की अर्थावगति भी प्रसङ्ग प्राप्त है, जिसका विचार पूर्व पृष्ठों में प्रस्तुत है।

निगमः—गिरिजा के मुख से निर्गत शिवकर्ण में गत वासुदेव सम्मत है, अतः, यह निगम है[1]। पूर्ववत् आदि तीन अक्षरों से **निगम** संज्ञा है। इस प्रकार स्वरूप और व्यवहार से निगम और आगम में भेद नहीं है। भास्कर राय ने कामिकादि अट्ठाइस आगम को वेद सम्मत और कपाल भैरव आदि को वेदविरुद्ध माना है। परमेश्वर के मुख से उत्पन्न होने से उनकी आज्ञा के अनुरूप है, अतः, वेदानुयायी आगम निगम है। "तेषु वैदिकानि निगमपदवाच्यानि परमेश्वरस्य मुखोद्भूतत्वादाज्ञारूपाणि।" निगम और उड्डीश श्रेणी के तन्त्र की कहने वाली देवी है। ( ल. स. ११८ )

सम्प्रदाय के भेद से आगम अनेक हैं—शक्तिसङ्गमतन्त्र में शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर, वैष्णव, महावीर, पाशुपत, वीरवैष्णव, वीरशैव, चान्द्र, स्वायम्भुव, ग्यारह शाबर, ग्यारह घोर मायाकापालिक, वीर, बौद्ध, जैन, दश प्रकार के चीन, सौ प्रकार के बौद्ध, दश प्रकार के पाशुपत, अट्ठारह प्रकार के कौल आगम की चर्चा है।

इतना सत्य है कि शक्तिसङ्गम के प्रचार के समय विभिन्न सम्प्रदाय के अनेक आगम प्रचलित थे। शाक्तानन्दतरङ्गिणी के अनुसार सदागम ही आगम हैं। "सदागम एव आगमशब्दस्य मुख्यत्वात्"। ( शा. त. उ. २ ) आगम संहिता में शिव ने आज के तान्त्रिक साधना की स्पष्ट निन्दा की है—हे देवेशि ? कलियुग के मनुष्य राजस एवं तामस मनोवृत्ति के होते हैं। निषिद्ध आचारण परायण संसार को मोहग्रस्त करते हैं, स्वयं वर्णाश्रमाचार का परित्याग कर मांस, रक्त एवं सुरा आदि हमलोगों को अर्पित करते हैं—निश्चित ही ये भूत, प्रेत पिचाश एवं ब्रह्मराक्षस होते हैं[2]। अतः इसमें

---

१. निर्गतो गिरिजावक्त्रात् गतश्च गिरिशश्रुतिम्।
मतश्च वासुदेवस्य निगमः परिकथ्यते॥ ( आ. द्वै. व. ८ )

२. कलौ प्रायेण देवेशि ? राजसास्तामसास्तथा।
निषिद्धाचरणाः सन्तो मोहयन्त्यपरान् बहून्॥
आवाभ्यां पिशितं रक्तं सुराञ्चैव सुरेश्वरि ?
वर्णाश्रमोचितं धर्ममविचार्य्यार्पयन्ति ये।
भूतप्रेतपिशाचास्ते भवन्ति ब्रह्मराक्षसाः॥
( आ. संहिता प्र. शा. त. उ. २ )

सन्देह नहीं कि वर्णाश्रम-धर्मसम्मत आचार अनुष्ठान आदि जिसमें विहित नहीं हैं--वे असदागम हैं। कतिपय आचार्यों ने तन्त्रशास्त्र के अनुसार ही विहित और अविहित आचार के आधार पर सत् और असत् की कल्पना करते हैं। शिव ने स्वयं कूर्मपुराण में कहा है--मोहकारक वेदवादविरुद्ध शास्त्रों की सृष्टि मैंने की है, उन लोक-मोहन वाम, पाशुपत, सोम, लाकुल, वेदबाह्य होने से असेव्य हैं[1]। पाञ्चरात्रागम वेदविरुद्ध नहीं है।

कतिपय स्थलों में, तन्त्र, यामल और डामर के भेद से तीन विभाग माना गया है। तन्त्र सात्त्विक है, यामल राजस और डामर तामस है।

गान्धर्वतन्त्र के अनुसार पूर्वोक्त विभाग की उपेक्षा कर कहा है--मैंने तामस राजस और सात्त्विक के भेद से तीन तन्त्रों की रचना की है, बुद्धिमान् व्यक्ति इसका विभाजन कर लें। तामस तन्त्र नरक का साधन है, राजस स्वर्ग और सात्त्विक मोक्ष प्रद है[2]।

वाराहीतन्त्र के अनुसार जिस तन्त्र में सृष्टि, ज्योतिष, नित्यकृत्य का उपदेश, क्रम, सूत्र, वर्णभेद, जातिभेद और युगधर्म--इन आठ विषयों का निर्देश रहता है, उसको यामल का जाता है।

"सृष्टिश्च ज्योतिषाख्यानं नित्यकृत्यप्रदीपनम्।
क्रमसूत्रं वर्णभेदो जातिभेदस्तथैव च।
युगधर्मश्च संख्यातो यामलस्याष्टलक्षणम्॥ ( वि० को० )

रुद्र, स्कन्द, ब्रह्म, विष्णु, यम, वायु, कुवेर और इन्द्र के भेद से आठ यामल है। ये यामल स्वच्छन्द, क्रोध, उन्मत्त, उग्र, कपाली, झङ्कार, शेखर और विजय--इन आठ व्यक्तियों से प्रणीत हैं। सेतु-बन्ध आदि के अनुसार ब्रह्म, विष्णु, रुद्र, लक्ष्मी, उमा, स्कन्द, गणेश और जयद्रथ को यामल माना है[3]।

अमरवाराहीतन्त्र के अनुसार छ प्रकार के अमरों का उल्लेख मिलता है साथ ही श्लोकों की संख्या कामी निर्देश दिया गया है--योग अमर, २,३५३३ श्लोक, शिवअमर, ११००६ श्लोक, दुर्गाअमर ११५०३ श्लोक, सारस्वत अमर ९९०५ ब्रह्मअमर, ६१९५ और गान्धर्व अमर ६००६० श्लोक। वाचस्पत्यम्

---

१. कू. पुः ६७।१४६--४७
२. ग० त० १।२८-३०। ३. से० ब० १।१५।

पञ्चाम्नायः—तन्त्रों का अन्य दृष्टि से पाँच आम्नाय के रूप में विभाग उपलब्ध होता है—आम्नाय शब्द का वेद और तन्त्र दोनों अर्थ होता है। कुलार्णवतन्त्र के अनुसार शिव के पाँच मुखों से पाँच आम्नायों की उत्पत्ति होती है पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर एवं ऊर्द्ध्व ये पाँच आम्नाय मोक्ष साधन हैं।

"मम पञ्चमुखेभ्यश्च पञ्चाम्नायाः समुद्गताः।
पूर्वश्च पश्चिश्चैव दक्षिणश्चोत्तरस्तथा।
उर्ध्वम्नायाश्च पञ्चैते मोक्षमार्गाः प्रकीर्तिताः। ( कू० त० ३।७ )

इन पाँच मुखों के नाम निम्नलिखित हैं—( १ ) सद्योजात, यह मुख शुद्ध स्फटिक के समान शुक्ल वर्ण है। ( २ ) कामदेव, यह मुख पीतवर्ण सौम्य और मनोहर है। ( ३ ) अघोर—यह कृष्णवर्ण और भयङ्कर है। ( ४ ) तत्पुरुष—यह रक्तवर्ण दिव्य और मनोहर है। ( ५ ) ईशान—यह श्यामल सर्व देवशिवात्मक है[1]।

पूर्वाम्नाय और दक्षिणम्नाय कथित कर्म पशुभाव के साधकों के उपयोगी हैं। पश्चिम्नाय के कर्म पशु एवं वीर भाव के साधक के उपयोगी हैं। उत्तराम्नाय में कथित कर्म दिव्य और वीर भाव के साधक के उपयोगी हैं और ऊर्ध्वाम्नाय के द्वारा कथित कर्म दिव्य भाव के साधक के उपयोगी हैं[2]। पूर्वोक्त पाँच मुखों से उत्पन्न तन्त्रों की संख्या २८ है। सद्योजात से कामिकादि ५ आगम या संहिता, वामदेव से दीप्त्यादि पाँच संहिता, अघोरमुख से विजयादि ५ संहितायें, तत्पुरुष मुख से रोरवादि ५ संहितायें, ईशानमुख से प्रोत-गीतादि आठ संहिताएँ उत्पन्न हुई हैं। शक्तिसङ्गम एवं समयाचार तन्त्र के अनुसार छ आम्नाय हैं।

श्रीविद्या एवं इसके भेद, तारा, त्रिपुरा, भुवनेशी, और अन्नपूर्णा पूर्वाम्नाय है। वगलामुखी, वालभैरवी ( वशिनी ) त्वरिता, धनदा, महिषघ्नी और महालक्ष्मी दक्षिणाम्नाय में वर्णित है। कालिका और उसका भेद, तारा और उसका भेद, मातङ्गी, भैरवी, छिन्ना, धूमावती,—ये उत्तराम्नाय में वर्णित हैं। कलियुग में ये शीघ्र फल

---

१. विभाव्य मुखपद्मं हि शिवस्य वरवर्णिनि ?
सद्योजातं वामदेवमघोरञ्च ततः परम्।
श्यामलञ्च तथेशानं सर्वदेवशिवात्मकम्। ( निर्वाणतन्त्र )

२. निरुत्तरतन्त्र

प्रद मानी जाती हैं। उर्ध्वाम्नाय के द्वारा एवं प्रसादनन्त्र और अधः आम्नाय में वागीश्वरी आदि देवताओं का वर्णन है। देव्यागम के अनुसार पूर्वाम्नाय में मन्त्रादि के साथ श्री भुनेश्वरी, ललिता, पद्म शूलिनी, सरस्वती, त्वरिता, नित्या, वज्र प्रस्तारिणी, अन्नपूर्णा, महा-लक्ष्मी, लक्ष्मी, वाग्वादिनी का मन्त्र, पूजा और अनुष्ठान आदि का वर्णन है।

दक्षिणाम्नाय में प्रसाद सदाशिव, महाप्रसादमन्त्र, दक्षिणामूर्ति, वटुक मञ्जुघोष, भैरव, मृतसञ्जीवनीविद्या और मृत्युञ्जय। पश्चिमा-म्नाय में गोपाल, कृष्ण, नारायण, वासुदेव' नृसिंह, वामन, वराह, रामचन्द्र, विष्णु हरिहर, गणेश, अग्नि, यम, सूर्य, विधु, विभिन्न ग्रह, गरुड, दिक्पाल, हनुमान् एवं अन्य देवगण। उत्तराम्नाय में दक्षिण-कालिका, महाकाली, गुह्यकाली, श्मशानकाली, भद्रकाली, एकजटा, उग्रतारा, तारिणी, कात्यायनी, छिन्नमस्ता, नीलसरस्वती, दुर्गा, जयदुर्गा, नवदुर्गा, वाशुली, धूमावती, विशालाक्षी, गौरी, वगलामुखी, प्रत्यङ्गिरा, मातङ्गी, और महिषमर्दिनी का वर्णन है। ऊर्ध्वाम्नाय में त्रिपुर सुन्दरी, त्रिपुरेशी भैरवी, त्रिपुर भैरवी, श्मशान भैरवी, भुवनेश्वरी, भुवनेश्वरी भैरवी, षट्कूट भैरवी, अन्नपूर्णा भैरवी, पञ्चमी, षोडशी, मालिनी और बलाबना का वर्णन है। अधः आम्नाय में देवता का स्थान, आसन, यन्त्र, माला, नैवेद्य, वलिदान, साधना, पुर-श्चरण और मन्त्रसिद्धि का वर्णन है।

सम्प्रदाय के अनुसार भी तन्त्रों का विभाग है, शाक्त का चार सम्प्रदाय है। केरल, काश्मीर, गौड और विलास। सम्मोहनतन्त्रमत से अङ्ग से मालव तक केरल श्रेणी का, मद्र से नेपाल तक काश्मीर श्रेणी का, श्रीहट्ट से समुद्र पर्यन्त गौडतन्त्र और विलास श्रेणी का तन्त्र सर्वत्र प्रचलित है। ब्रह्मयामल के अनुसार दक्षिण वाम एवं मध्यम स्रोत ये तीन विभाग हैं। सत्त्वगुण–प्रधान दक्षिण, शुद्ध है, रजोगुण प्रधान वाम, मिश्र है, तमोगुण प्रधान मध्यम अशुद्ध है।

दक्षिण स्रोततन्त्र––योगिनी-जाल, योगिनी-हृदय, मन्त्रमालिनी, अधोरेशी, अधोरेश्वरी, क्रीडाघोरेश्वरी, लाकिनीकल्प, मारिचि, महामारिचि, और उग्रविद्यागण है।

मध्यमस्रोतः––विजय, निःश्वास, स्वायम्भुव, वातुल, वीरभद्र, रौरव, माकुट और वीरेश। ब्रह्मयामल के अनुसार चन्द्रज्ञान, बिम्ब प्रोद्गीत, ललित, सिद्ध, सन्तान, सवोद्गीत, किरण और पारमेश्वर

तन्त्र उच्च श्रेणी के है। अधिकारी की दृष्टि से तन्त्र का भेद है। राघव भट्ट एवं सेतुबन्ध आदि में महामाया आदि चौसठ तन्त्रों को वेदतुल्य माना है। क्योंकि वेद के उपासनाकाण्ड में अन्तर्भुक्त होने से आगमशास्त्रात्मक उपासनाकाण्ड ही तन्त्र है[1] इसका विश्लेषण पूर्व में प्रदर्शित है।

मेरुतन्त्र के अनुसार वेदाङ्ग के रूप में तन्त्र की गणना है। प्रणव के विना वेद नहीं है, अतः वेदपरक मन्त्र होने से आगम वेदाङ्ग है।

"न वेदप्रणवं त्यक्त्वा मन्त्रो वेदसमुत्थितः।
तस्माद् वेदपरो मन्त्रो वेदाङ्गश्चागमः स्मृतः॥

निरुत्तर तन्त्र के अनुसार आगम या तन्त्र पञ्चम वेद है, एवं मनु के अनुसार वैदिकी और तान्त्रिकी दो श्रुतियाँ है।

आगमः पञ्चमो वेदः कौलस्तु पञ्चमाश्रमः। (निरु. त. ६४)
श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च। (मनु. २।१)

किन्तु पूर्व विवेचन से यह सिद्ध है कि वैदिक और अवैदिक दो प्रकार के तन्त्र हैं। किन्तु साधन मार्ग होने से एवं सङ्कर्षण काण्ड के अन्तर्गत न होने से सभी का प्रामाण्य न होने से वेदमार्गी सभी तन्त्रों का अवलम्बन नहीं करते हैं। भले ही लौकिक अभीष्ट की सिद्धि उनसे होती है।

वैदिक और तान्त्रिक दोनों में ही क्रियापूर्वक उपासना का विधान है, तान्त्रिक गायत्री का जप कर सूर्य को अर्घ्य देना होता है, और परमाक्षरी वैदिक गायत्री का जप करना होता है।

गायत्रीं तान्त्रिकीं जप्त्वा सूर्यार्घ्यं च तान्त्रिकम्।
प्रजपेद् वैदिकीं नित्यां गायत्रीं परमाक्षरीम्॥ (गा. न. व. ४)

अनुष्ठान का भेद :—वैदिक और तान्त्रिक अनुष्ठान भिन्न है। वेदानुसारी अनुष्ठान भिन्न होता है और तन्त्रानुसारी अनुष्ठान भिन्न होता है। आचमन सन्ध्या आदि सभी कर्म पुराण एवं स्मृति के अनुरूप तथा तन्त्र के अनुसार भी होते हैं।

शिव ने कहा है कि—नित्यनैमित्तिक कर्मों में जो विधान है, उनका निरूपण ब्रह्मा के रूप में वेद में निरूपण किया है। संस्कारों में एवं अन्य कर्मों में जिन मन्त्रों का प्रयोग प्रणव-घटित रूप में दिया

---

१. तत्र सर्वासु श्रुतिषु काण्डत्रयं कर्मोपासनाब्रह्मभेदेन।
.....उपासनाकाण्डात्मकं गरीय इति सिद्धम्। (शा. ति. टी. १।७)

गया है, सत्य, द्वापर और त्रेता में वैसा ही रहेगा, किन्तु कलि में वे मन्त्रों के प्रयोग चलने पर भी प्रणव के स्थान पर 'ह्रीं' बीज देकर आरम्भ करना होगा।

"कलौ तु परमेशानि तैरेव मनुभिर्नवाः।
मायाद्यैः सर्वकर्माणि कुर्युः शङ्करशासनात्॥ ( महा. त. ९।१०)

इससे यह सिद्ध है प्रणव वैदिकबीजमन्त्र है, किन्तु तन्त्र में भी अनेक तान्त्रिकों ने इसे आत्मसात् कर लिया है, क्योंकि ज्ञानसङ्कलिनी तन्त्र में अ ऊ, म मिलकर ॐ प्रणव होता है। अकार सात्त्विक, ऊकार राजस, मकार तामस इस प्रकार मूल प्रकृति प्रणव है। अन्यत्र इसे कुण्डलिनी स्वरूप प्रणव शब्द ब्रह्म माना है।

"अकारः सात्त्विको ज्ञेयः ऊकारो राजसः स्मृतः।
मकारस्तामसः प्रोक्तस्त्रिभिः प्रकृतिरुच्यते॥

( ज्ञान स. त. विमलनन्द द्वारा उद्धृत )

"तद्विद्यमानबिन्दुरूपं चैतन्यं कुण्डलिस्वरूपं प्रणवाकारं प्राणिनां देहमध्यगं सत् वर्णात्मनाविर्भवति प्रकाशत इत्यन्वयः"

(प्रा. तो. का. ३)

इस प्रकार यह माना जा सकता है कि वेद और तन्त्रको लेकर सनातन की पूर्णता है। वेद प्रवाहित धर्मशास्त्र ही काल-क्रम में तन्त्र की अभिनव धारा में प्रवाहित हुआ है। अतः इनमें मौलिक विरोध नहीं है देवी ने भागवत में इसी विषय को अभिव्यक्त करते हुए कहा है—

"मैंने दो भुजाओं के द्वारा स्थावर राजस एवं तमोगुणात्मक सम्पूर्ण विश्व को धारण किया है। आगम और वेद ये ही दो बाहु हैं। अतः इनका लङ्घन करने से अधः पतित होता है[1]।" किन्तु इतना सत्य है कि वैदिककृत्य की अपेक्षा कलि में तान्त्रिककृत्य की प्रशस्ति है। इस विषय का समर्थन महानिर्वाणतन्त्र में मिलता है। देवी श्री आद्या ने 'सदाशिव को कहा था—भगवन्! सर्वभूताधिपति, सर्व-धर्मवेत्ता आपने पूर्व समय में कृपाकर अन्तर्यामी के रूप में ब्रह्मा के द्वारा सर्वधर्म वर्द्धक चारों वेदों का प्रकाश किया था, इनके द्वारा वर्णाश्रमादि नियम प्रतिष्ठित हुआ। उस समय पुण्यशील मनुष्य

---

१. दे. भा. पृ. १९८

वेदोक्त याग यज्ञों से देवता एवं पितरों को प्रसन्न करते थे स्वध्याय, ध्यान, तपस्या, दया और दान का अभ्यास करते थे, जितेन्द्रिय, महाबल, महावीर्य, महासत्त्व पराक्रम देवकल्प होते थे, सत्यधर्म परायण होते थे[1] किन्तु कलियुग में इतना बल न होने से तन्त्र-परायणता महानिर्वाण तन्त्र के द्वारा कही गई है।

शिव और शिवा ने दुर्बल मनुष्यों के लिए करुणा वश इसका प्रवर्तन किया है। अतः धर्म प्रवर्तन के रूप में ही इसका प्रयोग है। स्वात्माभिन्न संविन्मयी भैरवी के प्रश्न के उत्तर में वेद के सारभूत रूप में तन्त्र शास्त्र का प्रणयन माना है। करुणामयी भगवती और करुणापरायण शिवका उत्तर यह सिद्ध करता है कि जीवका कल्याण विधान हो तन्त्र का एक मात्र उद्देश्य है

**तन्त्र की अवतारणाः—**

शिव और शक्ति के प्रश्नोत्तर के व्याज से तन्त्र का आविर्भाव माना गया है। स्वच्छन्दतन्त्र में स्पष्ट ही निर्देश मिलता है कि सदा शिव ने स्वयं गुरु और शिष्य के रूप में अवस्थित हो तन्त्र की अवतारणा की है।

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयमेव सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत॥

( स्वच्छन्दतन्त्र १।१२ )

तन्त्र शास्त्र और तान्त्रिक साधना गुरु शिष्य परम्परा क्रम में चलती है। कर्ण परम्परा से उपदेश क्रम में तन्त्र पृथिवीं में सम्प्राप्त होता है। "कर्णोत्कर्णोपदेशेन सम्प्राप्तमवनीतलम्"। ग्रन्थ के अध्ययन मात्र से तन्त्र में ज्ञान सम्पन्न होने पर भी कृतार्थ नहीं हो सकता है, एकमात्र गुरु के उपदेश से ही कृतार्थ हो सकता है। "विद्वान् समर्थोऽपि पुस्तक वाचनादिना सम्पन्नज्ञानो न कृतार्थो भवितुमर्हति, किन्तु गुरूपदिष्टमार्गेणैवेति।" प० क० सू० १।२। किन्तु साधना जाति और वर्ण से निरपेक्ष है, गुरु सभी को शिष्य नहीं बनाता है, शास्त्र के अनुसार योग्य को ही शिष्य बनाया जाता है। सभी के लिये उन्मुक्त तन्त्र शास्त्र अधिकारी के विना उपदिष्ट

---

१. भगवन् सर्वभूतेश·····देवायतनगा मर्त्या देवकल्पा दृढ़व्रताः।
सत्यधर्मपराः सर्वे साधवः सत्यवादिनः॥ ( महा. त. १।१८-२२ )

नहीं होता है। दीक्षा के बाद भी पर शिष्य, नास्तिक, गुरुशुश्रुषा में आलसी और अनर्थप्रद व्यक्ति को तन्त्र का उपदेश नहीं दिया जाता है।

"न देयं परशिष्येभ्यो नास्तिकानां न चेश्वरि।
न शुश्रुषालसानां च नैवानर्थप्रदायिनाम्॥
(पा० नि० ६।४)

तन्त्र में अधिकारी का निरूपण करते हुए लिखा गया है कि संसार सागर से उद्धार के इच्छुक-न अतिशय तत्त्वज्ञ और न मूर्ख है--वे ही इस शास्त्र में अधिकारी है।

संसाराम्बुनिधेर्यः स्यात्तितीर्षुः कश्चिदुत्तमः।
नात्यन्ततज्ञो न मूर्खः सोऽस्मिन् शास्त्रेऽधिकारवान्॥
(तन्त्रा २।४)

इतना ही गान्धर्व तन्त्र में आस्तिक, शुचि, दान्त, द्वैतहीन-जितेन्द्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मवादी, ब्रह्मी, ब्रह्मपरायण, सर्वहिंसा विनिर्मुक्त सभी प्राणियों के हित में रत व्यक्ति ही अधिकारी होता है, इस तरह का जो व्यक्ति नहीं है वह भ्रमात्मक साधक है[1]। यह तर्कशास्त्र के समान लौकिक बुद्धिगम्य विचार शास्त्र नहीं है, वरन् यह शास्त्र गुरुगम्य है। सद्गुरु के उपदेश को छोड़कर इसके गम्भीर तत्त्व को अवगत नहीं किया जा सकता है। यह सिद्धि मूलक साधन नीति है, इसके ज्ञान के अनुरूप ही साधना करनी है। ज्ञान के अभाव में भी साधना के प्रभाव से यह प्रत्यक्ष हो सकता है, किन्तु मात्र ज्ञान रहने पर भी साधना के अभाव में वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। यह साधना का मार्ग है, इसीलिए तन्त्र से साधना पर ही अधिक बलाधान दिया गया है।

**तन्त्र और विज्ञान—**

तन्त्र शास्त्र बुद्धि विलास या मनोविनोद नहीं है। चिकित्सा, ज्योतिष और तन्त्रवाद प्रत्यक्ष फलप्रद शास्त्र है। प्रत्यक्ष फल होने के कारण ही यह श्रेष्ठ एवं वैज्ञानिक युग के लिए उपयोगी है। वैज्ञानिक दृष्टि से विचारशील मनुष्य प्रत्यक्ष से जिसका ज्ञान नहीं किया जा सकता है, उसको जानना नहीं चाहता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पदार्थ

---

१. गं० त० २।१८-१९

विज्ञान, जीवविज्ञान और मनोविज्ञान का जिस प्रकार संस्कृत मन और दृढ़ संकल्प को लेकर सत्य के प्रत्यक्ष के लिए परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार तन्त्र की सत्यता को लेकर परीक्षा करने पर उसके सिद्धान्त के अनुसार प्रतिपादित विषय का भी प्रत्यक्ष किया जा सकता है। तन्त्र, मन्त्र और यन्त्र शक्ति के आधार पर देवता और उच्चतर शक्ति के अस्तित्व की सत्यता का प्रत्यक्ष किया जा सकता है। अधिकारी साधक व्यक्ति साधना के बल से उच्च से उच्चतर स्तर पर आरोहण करता हुआ सच्चिदानन्द स्वरूप का लाभ कर सकता है। कोई भी साधक तन्त्र के सिद्धान्त का प्रत्यक्ष कर सकता है। इस साधन विज्ञान से सिद्धि परीक्षित सत्य है। विज्ञान में जैसे सूत्र, संकेत अनेक जटिल यन्त्रादि एवं साधनों के उपाय का चिन्तन है वैसे ही तन्त्र में मन्त्र यन्त्र देश कालोपयोगी अनेक साधनाओं का भी विवरण है। अनधिकारी के लिए विज्ञान या तन्त्र दोनों के साधन अर्थ-हीन है। अवैज्ञानिक के लिए Fdx या 4 Gmlac आदि निरर्थक है वैसे ही तन्त्र के अनधिकारी के लिए 'ह्रीं' या 'क्लीं' आदि का कोई अर्थ नहीं है। अधिकारी व्यक्ति के लिए ही ये वर्ण अपना सुस्पष्ट अर्थ व्यक्त करते हैं। किन्तु यह सत्य है कि विज्ञान का द्वार जैसे सबके लिए उन्मुक्त है वैसे ही तन्त्र का द्वार भी सभी के लिए उन्मुक्त है कोई भी निर्दिष्ट पद्धति से आराधना कर सिद्धि का लाभ कर सकता है। अद्वय ब्रह्मसिद्धि से लेकर रोगप्रशमन शत्रुदमन सभी इससे सम्भव है। अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों ही सन्निहित है।

तन्त्र का विषय शुद्ध आध्यात्मिक नहीं है, मानव जीवन के साथ सम्बद्ध अनेक विषयों की आलोचना इसमें की गई हैं। सृष्टि स्थिति और लय के साथ ही दर्शन, विज्ञान रसायन, चिकित्सा, छन्द, कोश, व्याकरण, ज्योतिष, शकुनविद्या, मन्त्र, यन्त्र, पूजा आदि सभी अध्यात्म सम्बद्ध विषयों का वर्णन के साथ ही लोकाचार देशाचार, इन्द्रजाल, व्यवहार, समाजनीति, धर्मनीति आदि की विशद आलोचना है। इस प्रकार यह विश्वकोष है, किन्तु इसका प्रधान विषय मन्त्र एवं साधना है। वेद पुराण आदि में भी तान्त्रिक क्रिया-कलापों का वर्णन है तन्त्र के प्रति ऐहिक सुख समृद्धि की कामना ही प्रवृत्ति का कारण है। अनिष्ट परिहार शत्रु विनाशमूलक इसमें सहज प्रवृत्ति, योगिनी तन्त्र शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण,

उच्चाटन, मारण—ये छ कर्म इसमें वर्णित है। साथ ही रोग, अभिचार एवं ग्रह दोष का नाश तन्त्र साध्य है।

शान्तिवश्यस्तम्भनानि विद्वेषोच्चाटने तथा।
मारणं परमेशानि षट्कर्मेदं प्रकीर्तितम् ॥

( षो० त० ३ )

इन छः कर्मों में शान्ति कर्म को छोड़कर अन्य कर्मों का आश्रयण तन्त्र की विकृति और प्रक्षेप का ग्रहण मात्र है। समय के साथ तन्त्र व्यावसायिक हो गया और पशु शास्त्र के समान भेद को मूलाकार बनाकर स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति का साधन नहीं रह गया।

"पशु-शास्त्राणि सर्वाणि मयैव कथितानि हि।
मूर्त्यन्तरं तु सम्प्राप्य मोहनाय दुरात्मनाम्" ॥

भारतीय संस्कृति के इतिहास के अवलोकन से यह सिद्ध है कि तन्त्र का सनातनी पर ही नहीं वरन् सभी पर प्रभाव है। वैदिक पद्धति की अपेक्षा तन्त्र पद्धति का विशिष्ट आश्रयण है। पुराण पर भी इसका अतिशय प्रभाव है। मत्स्यपुराण आदि का अभिचारादि वर्णन तान्त्रिक प्रक्रिया का स्पष्ट निर्देशन करता है। शैव, वैष्णव, एवं शाक्त इन तीनों की साधन भजन प्रक्रियाएँ सनत्कुमार तन्त्र, गौतमीय तन्त्र, शारदातिलक आदि क्रम दीक्षा को महत्त्व देती हैं। शाक्त तन्त्र के अनुसार यहाँ भी जप समर्पण, आत्मसमर्प आदि सविधि वर्णित है। शिव और शक्ति के समान ही यहाँ कृष्ण और राधा है। श्री राधा कृष्ण की प्राणाधिष्ठात्री ब्रह्म स्वरूपा देवी है, इनमें कोई भेद नहीं है, राधा कृष्णमयी सर्वलक्ष्मीमयी, सर्वकान्ति-स्वरूपिणी और मनमोहिनी है।

"न विकृत्रिमा च सा नित्या सत्यरूपा यथा हरिः।
प्राणाधिष्ठात्री या देवी राधारूपा च सा मुनेः ॥

( गौ० त० २।३।५४ )

द्वयोश्चैको न भेदश्च दुग्धधावल्ययोर्यथा।
देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः संमोहिनी परा ॥

( ब्रह्मा० सं० पृ० ४ )

इस प्रकार युगल पूजा निर्वाण तन्त्र आदि में पूर्ण रूप से वर्णित है। सहस्रार में श्रीकृष्ण का स्थान निर्दिष्ट है। ब्राह्म वालक मूलाधार स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञा इन छः चक्रों की भावना कर सहस्रदल पद्म में अपनी शक्ति कुण्डलिनी के साथ अवस्थित द्विभुज, पीताम्बर धारी सुन्दर नवीन मेघ कान्ति परमेश्वर श्रीकृष्ण को अपने हृदय में दर्शन करे।

सहस्रदल पद्म ही गोकुल है, ब्रह्म संहिता में कहा गया है कि यही श्रीकृष्ण का सर्वोत्कृष्ट स्थान है, इस पद्म की कर्णिका ही वह धाम है। यह षट्कोण महायन्त्र है, इसके कोण में "क्लीं" बीजहीरक के समान देदीप्यमान है। षट्कोण में षट्पदी "क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा" यह षडङ्ग अष्टादशाक्षर मन्त्र विराजमान है। चिन्मय राधाकृष्ण यहाँ नित्य रस रास विहार करते है[1]।

सहस्रपत्रं कमलं गोकुलाख्यं महत्पदम्।
तत्कर्णिकारं तद्धाम तदनन्तांश-सम्भवम्॥
कर्णिकारं महद् यन्त्रं षट्कोणं वज्रकीलकम्।
षडङ्ग-षट्पदी-स्थानं प्रकृत्या पुरुषेण च॥
प्रेमानन्द-महानन्द-रसेनावस्थितं हि यत्।
ज्योतीरूपेण मनुना कामबीजेन सङ्गतम्॥
तल्किञ्जल्कं तदंशानां तत्पत्राणि श्रियामपि॥

(ब्रह्मसंहिता २-४)

राधा कृष्ण की मिलन रूप रस उपलब्धि ही वैष्णव रस-साधना-सिद्धि है। यह रस-तत्त्व-साधना तान्त्रिक साधना है। यह साधना प्रकृति पुरुषात्मक साधना है। काम कामनामुक्त व्यक्ति ही रस तत्त्व और साध्य साधन के अधिकारी है। जीव के आत्मस्थ होकर आत्मा में राधा तत्त्व को विकास करना ही रस तत्त्व है। साधना सभी के वश की वस्तु नहीं है। रस-तत्त्व-साधना भावगत हो या देहगत दोनों ही दुरुह है। भावगत साधना में मानस व्यापार रहता है। इस साधना में जीव राधा या शक्ति है और परमात्मा श्रीकृष्ण या शिव है। इसमें सम्भोगात्मक परब्रह्म के साथ अभिन्न और परम प्रेम प्रलीन चिन्तन ही है देहगत रसतत्त्व साधना है, जिसकी तीन

---

१. द्रष्टव्य ना० प० १।३।६०-६२।

अवस्था मानी गई है दासभाव, मञ्जरीभाव और सखीभाव। इसमें नाम और मन्त्र दो ही आश्रय है। इन्द्रियों का कठोर संयम, पवित्र जीवन, तीर्थवास, नाम और नामी में अभेद ज्ञान, अपराध वर्जित रूप में सदा नाम ग्रहण—यह प्रथम भूमि है। इसके लिए श्रीगुरुचरण का आश्रयण आवश्यक है। उनकी कृपा से मन्त्र शक्ति की प्राप्ति होती है। मन्त्र की यथाविधि साधना से चैतन्य सम्पादन, एवं सिद्धि से पूर्व तक प्रथम अवस्था रहती है। साधक भूमि द्वितीय भूमि है। यह कुलाचार साधना है। इसमें प्रकृति का साहाय्य अपेक्षित होता है। प्रथम भूमि के संसाधन से काम निवृत्त होता है, यही द्वितीय भूमि में प्रवेश की योग्यता है। द्वितीय भूमि का उद्देश्य रस सिद्धि है साधना के प्रभाव से जीवभाव से ईश्वर भाव का उदय होता है—यही स्वामिभाव है। यहाँ प्रकृति से पुरुष रूप में परिगणन की योग्यता होती है। बिन्दु का अचल रूप ईश्वर भाव है और सिद्ध भूमि तृतीय भूमि है। इस साधना में इस समय के प्रचलित सभी तन्त्र समन्वित है। सहजिया या बाउलों की साधना भी प्रथम भूमि की ही साधना है, परमहंस निगमानन्द के अनुसार स्वभावानुगत साधना ही सहज साधना है। भोग से सहसा योग की अवतारणा सम्भव नहीं है। भोग के क्रम से योग में उन्नीत करना ही स्वाभावानुगत सहज साधना है। बहुधा आजकल बाउलो के समान गीत सुनाकर कुण्डलिनी जागृति का रूप देकर भ्रान्त किया जा रहा है। प्राकृत नर नारी माया रञ्जित विकृत मानव है माया के गुण राग में रञ्जित है। सहज मानुष में नित्य वृन्दावन ये दास, सखा, पिता, माता और कान्ता ये चार होते हैं, ये श्रीकृष्ण के नित्य सिद्ध सेवक है। इनकी उपासना सहज नाम या गुण कीर्तन है। रसिक मधुर रस के अन्तरङ्ग साधक है। राधाकृष्ण का सहज मिलन ही वैष्णव तान्त्रिक साधना है।

शाक्त और वैष्णव में उपास्य भेद के अतिरिक्त प्रकार समान है गौतमीय तन्त्र के अनुसार कृष्ण और दुर्गा में भेद नहीं है।

यः कृष्णः सैव दुर्गा स्यात् या दुर्गा कृष्ण एव सः।
अनयोरन्तरादर्शी संसारान्न विमुच्यते॥
( ब्रह्मसंहिता में जीव के द्वारा उद्धृत ३ )

नारद पञ्चरात्र में भी कृष्ण की पराकान्ता ही दुर्गा है और वही परा परमा महाविष्णुरूपिणी शक्ति है।

जाताज्येका परा कान्ता सैव दुर्गा तदात्मिका ।
या परा परमा शक्तिर्महावैष्णवस्वरूपिणी ।।

( ना० प० )

सम्मोहन तन्त्र में भी दुर्गा और राधा को एक कहा गया है। नित्या, परा, अद्वया ही राधा है, वही महालक्ष्मी, दुर्गा है।

सबसे वैशिष्ट्य तो यह है कि दश महाविद्याएँ दशावतार से अभिन्न रूप में निर्दिष्ट है। तोडल तन्त्र में कहा है—तारा मत्स्यावतार, वगला कूर्मावतार, धूमावती वराहावतार, छिन्नमस्ता नृसिंहावतार, भुवनेश्वरी वामनावतार, मातङ्गी श्रीरामावतार, त्रिपुरा जामदग्न्यरामावतार, भैरवी बलरामावतार, महालक्ष्मीबुद्धावतार, दुर्गा कल्कि अवतार, भगवती काली स्वयं कृष्ण मूर्ति। इस प्रकार उपास्य के अभेद मत भेद हटाया गया है।

आज के विशिष्ट सिद्धान्त एवं समाज सेवा प्रवर्तकों में अनेक तान्त्रिक हुए है राजा राममोहनराय ने हरिहरानन्द भारती से तान्त्रिक दीक्षा ली थी। यही महानिर्वाण तन्त्र के टीका के रचयिता है। जिसकी प्रतिलिपि राजाराममोहन ने स्वयं की थी। प्रारम्भ में 'ऊँ नमो ब्रह्मणे' लिखा है और नवम उल्लास के प्रारम्भ में "श्रीश्रीनाथपादाम्बुजे नियतं मतिरस्तु मे" यह लिखा है। यह तन्त्र ही उनके धर्म की भित्ति है। ब्रह्मसमाज में इनकी मृत्यु के बाद इस तन्त्र का प्रभाव नहीं रहा। नाथसम्प्रदाय, बौद्धतन्त्र और सहजयान, कालचक्रयान पर तन्त्र का प्रभाव हैं। महायानी ग्रन्थ ने शून्यता को प्रज्ञा करुणा को उपाय कहा गया है, वज्रयानी शून्यता और प्रज्ञा को स्त्री तथा करुणा एवं उपाय को पुरुष कहा है भारत से बाहर भी इसका प्रभाव रहा है। यहूदी में कब्बलह ( Kabbalah ) नाक से एक भर भी मत है। यह उनका तन्त्र मत है। सूफीमत के साथ इसका समन्वय है वर्णों की शक्ति जादूमन्त्र कबजभाविज, देवता से सृष्टि का प्रकाश या विवर्त आदि इसमें निर्दिष्ट है। यह भारतीय तन्त्र के वर्णित सिद्धान्तो का अनुकरण है। कब्बलह मन में सीमित जगत् असीम ईश्वर से निकला है जो तेजः स्वरूप है, वह विवर्त या परिणाम है। पिण्ड ( Microcosm ) एवं ब्रह्माण्ड (Macrocosm) में ऐक्य स्वीकृत है। यह मत मिश्र से यूरोप में आया, नवम शताब्दी में मिश्र में प्रचलित था और वाद में यूरोप में आया। मिश्र के साथ

भारत का सम्बन्ध प्राचीनतम है। खृष्टो में अनेक तान्त्रिक क्रियाये लक्षित है। यहाँ के अभिषेक के अनुकरण में पवित्र जल का छिड़कना जिसे व्याप्ति जल कहा जाता है। यद्यपि व्यक्त प्रभाव प्रदर्शन सम्भव नहीं है। किन्तु साधना में तन्त्र का उत्स विश्व भर में उपलब्ध है। तन्त्र की प्राचीनता में सन्देह नहीं है। ( १ ) प्रागैतिहासिक युग ( २ ) बुद्ध परवर्ती युग ( मध्ययुग ) १२०० A. D. तक। ( ३ ) आधुनिक युग, प्राचीन युग का पृथक् तन्त्र ग्रन्थ नहीं है, वह श्रुति के आकार में था। तैत्तिरीयारण्यक का फट् फट् जहि, छिन्धि, भिन्धि हन्धि कट्। इति वाचः कुर्वाणि" ( तै० आ० ४-२७ ) सायण के मतानुसार यह आभिचारिक क्रिया से सम्बद्ध है। **पञ्चमुण्डी** आसन पर साधना से दो चाण्डाल का मुण्ड, एक शृगाल का मुण्ड, एक वानर का मुण्ड, एक सर्प का मुण्ड रहता है—इससे पञ्चमुण्डी आसन बनता है। इसका पूर्वरूप वैदिक यज्ञ के अग्नि वेदि की रचना में मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में कहा है—एक मनुष्य लेकर पाँच प्राणियों का बलि देकर उनके मुण्ड के ऊपर अग्नि वेदि की रचना की जाती है प्राणियों के शरीर को जल में फेककर उस जल से वेदी का ईंट तैयार करना चाहिए, यह स्थायी शक्तिशाली होता है।

कुण्डलिनी की वर्णना वेद में है जिसका वर्णन योग निरूपण के दिया जायगा जो तान्त्रिकों की अमूल्य-निधि है। अशोक के शिलालेख में तान्त्रिक वर्णो का विवरण देते हुए श्री शाम शास्त्री ने देवनागरी लिपि की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में तान्त्रिक रेखा चित्र या यन्त्र को मूल माना है। अशोक की लिपि कतिपय तन्त्र में वर्णित है। ( The origin of the Devanagan Alphabet I. A. 1909 ) अशोक के शिलालेख का प्रकार △ त्रिकोणाकृति है, एकार त्रिकोणात्मक है।

यदेकादशमाधारं बीजं कोणत्रयोद्भवम् ( वा० नि० १।६ )

इस प्रकार यह निःसन्दिग्ध हैं कि तन्त्र भारतीय प्राचीन परम्परा से सम्बद्ध है और विश्व की साधन क्रियाओं को प्रभावित किया है। इस समय अध्ययन के अभाव में इसका रूप विकृत हो गया है और खाने-पीने की वस्तु रह गई है। अतः इसका शुद्ध स्वरूप विकसित होने पर विश्व के साथ तादात्म्य स्थापित हो सकता है।

## योग

समाध्यर्थक युज् धातु से करण में घञ् प्रत्यय कर योगशब्द निष्पन्न होता है--युज्यते अनेन इति योगः; कुछ आचार्यों ने अधिकरण में घञ् प्रत्यय कर युज्यते अस्मिन् इस अर्थ में योग शब्द का प्रयोग किया है। इसीलिये योग और समाधि को अपर पर्याय माना गया है।

याज्ञवल्क्य के अनुसार जीवात्मा ओर परमात्मा का संयोग ही योग है। "संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः"। महाभारत के अनुसार--परब्रह्म के साथ एकत्व ही योग है। इस विश्लेषण के अनुसार परमात्मा और आत्मा का ऐक्यस्वरूप योग साध्य है, इसको समाधि कहा जा सकता है, जो योग का साध्य है। ज्योंकि जैसे--जल और लवण का संयोग से ऐक्य होता है, उसी प्रकार आत्मा और मन के ऐक्य को समाधि कहा जाता है।

जलसैन्धवयोः साम्यं यथा भवति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरिह भण्यते॥

योग और समाधि व्युत्पत्ति के भेद से साधन और साध्य उभय रूप में व्यवहृत होता है। योगभाष्य में व्यास ने 'घृत ही आयु है' इत्यादि व्यवहार के समान उपकार्य और उपकारक रूप में अङ्ग और अङ्गी में अभेद की विवक्षा होने से योग और समाधि को अपर पर्याय माना है। जिससे चित्त को एकाग्र किया जाता है, इस रूप में करण साधन समाधि शब्द को मान कर योगाङ्ग अर्थ को समाधि शब्द कहता है "समाधीयते = एकाग्रीक्रियते चित्तमनेन" इति समाधिः"। जिस अवस्था विशेष में प्राण आदि वृत्तियों का अवरोध होता है, उसको समाधि कहा जाता है। इस अधिकरण साधन योग में सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों का ग्रहण हो जाता है।

योग दर्शन में अपरिणामी कूटस्थ नित्य चिति शक्ति है, पुरुष शब्द से निर्दिष्ट यह ज्ञान का धर्म नहीं है। बुद्धि = चित्त की परिणामात्मक ज्ञान रूप राजस-तामस वृत्तियों का निरोध ही योग है। विक्षिप्त चित्त के द्वारा ऐसा नहीं किया जा सकता है, अतः राजस तामस वृत्ति को छोड़कर केवल सात्त्विक वृत्ति का अभ्यास करना चाहिए, सात्त्विक वृत्ति के दृढ होने पर एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिए, इस अवस्था में योग्यता की सम्प्राप्ति होती है, उसकी दृढ़त

की अवस्था होने पर निरोध का अभ्यास सम्भव होता है और निरोध स्थिर होने पर असम्प्रज्ञात योग तक होता है। दूसरे रूप में यह अष्टाङ्ग योग है। समाधि मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका और संस्कारशेषा के भेद से चित्त की चार भूमियों वाली हैं। चित्त प्रख्या, प्रवृत्ति, और स्थिति-शील के कारण त्रिगुणात्मक है। प्रख्या तत्त्व-ज्ञान है। तत्त्वज्ञान से उपलक्षित प्रसन्नता, लघुता प्रकाशकत्व आदि सात्त्विक गुण होते हैं। प्रवृत्तिशील होने से शोक, दुःख आदि राजस गुण होते हैं। प्रवृत्ति-विरोधिनी स्थिति-शील तमोगुण होने से गुरुता, आवरण दैन्य, निद्रादि तामस होते है। चित्त त्रिगुणात्मक है, गुणों की विचित्रता के कारण विचित्र परिणाम सम्पन्न होता हुआ पाँच अवस्था वाला होता है। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पाँच अवस्थाएँ है। रजोगुण के कारण विषयों में क्षिप्यमाण = अस्थिर क्षिप्त अवस्था है। क्षिप्त चित्त दैन्य, दानव, मद-भ्रान्त विषयी पुरुषों का रहता है। तमोगुण के आधिक्य होने ने निद्रा आदि वृत्तियों से मूढ़ चित्त, राक्षस, पिशाच एवं मादक द्रव्यों के सेवन से उन्मत्त विवेक शून्य व्यक्तियों का रहता है। क्षिप्त से विशिष्ट अस्थिरता बहुल अर्थात् कभी स्थिरता कभी अस्थिरता यह अवस्था स्वाभाविक या व्याधि आलस्य भय आदि से उत्पन्न होती है। ऐसा चित्त ब्रह्मज्ञान इच्छा रखनेवाले एवं विवेकी पुरुषों का चित्त होता है। एकाग्रता=एकतानता है। सभी वृत्तियों के निरुद्ध होने पर संस्कार मात्र शेष चित्त निरुद्ध होता है। क्षिप्त और मूढ़ अवस्था में योग की सम्भावना नहीं है। विक्षिप्त हृदय में कभी समाधि हो भी सकती है, परमार्थ विषयक चित्त की स्थिरता योगपक्ष में नहीं हो सकती है, अतः समाधिविशेष के कारण गौण रहती है। यह क्लेशादि की निवृत्ति में सक्षम नहीं है। कुछ क्षणों के लिए जो तप्त बीज हैं, उनमें अंकुर के उत्पादन की क्षमता रहती है। एकाग्र चित्त में सम्यक् प्रतिष्ठित परमार्थभूत अर्थ का प्रकाशन अर्थात् साक्षात्कार होता है, वह पंचविध क्लेशों की उत्पत्ति कराकर कर्मरूप बन्धन शिथिल करता हुआ अदृष्ट पापपुण्य के उत्पादन में अक्षम होता है एवं निरोध की ओर अभिमुख रखता है यही सम्प्रज्ञात योग है। चित्त की सत्त्ववृत्ति के द्वारा सम्वेदन योग्य विषयों का सम्यक् साक्षात्कार जिस अवस्थाविशेष में होता है—वह सम्प्रज्ञात ही अर्थात् अच्छी तरह संयम विपरीत अनिश्चित रहित होने से प्रकृष्ट रूप से

भाव्य स्वरूप का ज्ञान, जिस भावना विशेष से, जिस अवस्था में होता है, वह सम्प्रज्ञात है। भावना से तात्पर्य अन्य विषयों को छोड़कर पुनः–पुनः चित्तवृत्ति-सन्निवेश है।

सम्प्रज्ञात चार प्रकार का है—

(१) वितर्कानुगत।
(२) विचारानुगत।
(३) आनन्दानुगत।
(४) अस्मितानुगत।

( १ ) पाञ्चभौतिक चतुर्भुजादि ध्येय मूर्ति में चित्त की उस साक्षात्कार विषयक प्रज्ञा वितर्क है, स्थूल विषयक होने से यह स्थूल है।

( २ ) चित्त के आलम्बन सूक्ष्म शरीर में स्थूल कारणीभूत सूक्ष्म तन्मात्र लिङ्ग अलिङ्ग विषयक साक्षात्कार विचार है।

( ३ ) इन्द्रिय के स्थूल आलम्बन में चित्त का साक्षात्कार आह्लादात्मक है, प्रकाशशील होने से एवं सत्त्व प्रधान रहने से अहङ्कार ने इन्द्रियों की सत्त्व प्रधान उत्पत्ति है, अतः वे सुखात्मक है।

(४) ग्रहीतृ–विषयक-सम्प्रज्ञातस्वरूप एकात्मक ज्ञान अस्मिता है।

**योग का फल और साधन**

सभी वृत्तियों का निरोध होने पर पुरुष की उपाधि रहित अपने चैतन्य में अवस्थिति होती है। यह सत्य है कि चिति शक्ति व्युत्थान अवस्था में अपने कूटस्थ स्वरूप को नहीं छोड़ती है, किन्तु असम्प्रज्ञात रूप होने से प्रकाशित नहीं होती है। पुरुष चेतन स्वरूप असङ्ग है, यह प्रकाश स्वरूप एवं ज्ञानमय है, प्रकाश और ज्ञान उस निर्गुण का धर्म नहीं है। सभी धर्मों से रहित होने पर बुद्धि वृत्ति में प्रतिफलित होने के कारण भ्रमवश बुद्धि के धर्मों का पुरुष पर आरोप होता है। वस्तुतः पुरुष, बुद्धि से भिन्न है, क्योंकि बुद्धि परिणामी है और बुद्धि का विषय ज्ञात और अज्ञात हो सकता है। जिस वस्तु के आकार में बुद्धि का परिणाम है, वह ज्ञात होता है और अन्य अज्ञात रहता है। पुरुष का परिणाम न होने पर भी प्रतिबिम्ब-पात के कारण बुद्धि की वृत्तियों को जान पाते हैं। बुद्धि दूसरे के लिए है। क्लेश, कर्म, वासना, विषय, इन्द्रिय आदि के साथ मिलकर पुरुष का उद्देश्य

सिद्ध करती है, क्योंकि संहत्यकारी अर्थात् अन्य से मिलकर जो कार्य करता है, वह दूसरे के प्रयोजन का साधक होता है। संहत्यकारी न होने से असङ्ग पुरुष स्वार्थ में प्रवृत्त होता है। शान्त, घोर और मूढ के रूप में सभी वस्तुओं के आकार में बुद्धि परिणत होती है एवं ज्ञान उत्पन्न होता है। त्रिगुणात्मक बुद्धि अचेतन और ज्ञेय है, पुरुष ज्ञाता और चेतन है। पुरुष स्वतन्त्र है, बुद्धि पुरुष के अधीन है, पुरुष द्रष्टा, बुद्धि दृश्य है। अचेतन बुद्धि पुरुष के सम्बन्ध से चेतन के समान प्रतीयमान होती है। व्यास एवं पतञ्जलि तथा वाचस्पति मिश्र ये तीनों ही पुरुष की बुद्धि में प्रतिबिम्ब के पक्षपाती हैं। पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्ब नहीं मानते हैं।[1]

पञ्चशिखाचार्य भी बुद्धि में ही प्रतिबिम्ब की कल्पना करते हैं। पुरुष चेतन, अपरिणामी, प्रतिसम्भरण शून्य है, बुद्धि विषयाकार में परिणत होती है। पुरुष विषयाकार में परिणत नहीं होता है। विषयाकार परिणत बुद्धिवृत्ति में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है और भ्रमवश बुद्धि के धर्मों को पुरुष अपना धर्म समझा करता है। योग-भाष्यकार ने इस मत को उद्धृत किया है।[2]

व्यासदेव ने भी कहा है, जय या पराजय सैनिकों के द्वारा सम्पन्न किये जाते है, किन्तु राजा में उसका आरोप होता है और राजा की जय या पराजय कही जाती है, क्योंकि वही उस फल का भोक्ता है, इसी प्रकार पुरुष का सुख आदि का साक्षात्कार रूप भोग एवं दुःख-त्रय की आत्यन्तिक निवृत्ति रूप अपवर्ग बुद्धिकृत होने से बुद्धि में ही वर्तमान रहता है, पुरुष में वे आरोपित है। पुरुष उस फल का भोक्ता नहीं है। पुरुष बुद्धिवृत्ति को साक्षात् ग्रहण नहीं करता है, अपि तु प्रतिबिम्ब रूप में ग्रहण करता है। पुरुष का यह भोग वास्तविक नहीं है, आपाततः प्रतीयमान है।

व्योमवती में एक कारिका उद्धृत करते हुए लिखा गया है कि विषय सम्बद्ध इन्द्रिय की विषयाकार में परिणति होती है, क्रमशः

---

१. पा० योगभाष्य २।२०

२. अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिप्रथिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति। तस्याश्च प्राप्तः चैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुमात्रतया बुद्धिवृत्यवशिष्टो हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते। —पञ्चशिख० योग-भा० २।२८।२, यो० भा० २।१८

बुद्धि उस विषयाकार में परिणत इन्द्रिय के रूप को प्राप्त करती है। इसी स्थिति में सत्त्वगुण का प्राधान्य रहता है, सत्त्वगुण की प्रबलता से बुद्धि स्वच्छ रहती है, और इस अवस्था में बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है। निर्मल जल में ही चन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ता है। निर्मल जल में ही चन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ता है, कलुषित में नहीं। इस प्रकार सत्त्वप्रधान बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तमः प्रधान में नहीं पड़ता है।[1] पुरुष में स्वाभाविक भोग मानने पर पूर्व स्वरूप की निवृत्ति और अन्य स्वरूप प्रतिरूप परिणामित्व का प्रसङ्ग नहीं है।

बौद्ध दर्शन में चित्त अर्थात् बुद्धि से पृथक् पुरुष का अस्तित्व नहीं माना जाता है। योगदर्शन में इस मत की आलोचना करते हुए लिखा गया है कि विभिन्न वासनाओं के द्वारा चित्रीकृत चित्र दूसरे के भोग और अपवर्ग के लिए ही है, अपने लिए नहीं है। चित् का कार्य अनेक अङ्गों से साध्य होने से संहत रूप है। संहत्यकारी संहत स्वरूप दूसरे के उपकार की सिद्धि के लिए होता है, जैसे अनेक उपादानों से रचित गृह दूसरे के भोग के लिए ही वर्तमान है। भोग्यचित् चित् के भोग के लिए नहीं है, इसी प्रकार अपवर्ग चित् भी चित् के अपवर्ग के लिए नहीं है, वह दूसरे के लिए ही है। चित् जिसके उद्देश्य का साधन करता है, वह असंहत पुरुष है। पुरुष ही चित् के द्वारा उपस्थित सुख-दुःख का भोग करता है। ज्ञान पुरुष के लिए ही अभिप्रेत है। ज्ञान ही पुरुष की मुक्ति का साधन करता है। इस प्रकार चित् पुरुष का ही भोग और अपवर्ग का साधन करता है। बौद्ध-गण द्रष्टा, ज्ञाता और भोक्ता का पृथक् अस्तित्व भले ही न माने किन्तु ज्ञेय से ज्ञाता का, दृश्य से द्रष्टा का, भोग्य से भोक्ता का पृथक् अस्तित्व उन्हें मानना ही पड़ेगा।[2]

अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति मानी गई है। पुरुष निष्क्रिय होते हुए भी चेतन है। अदृष्ट के अधीन पुरुषों के सान्निध्यवश प्रकृति को साम्यावस्था समाप्त होती है। अयस्कान्तमणि जिस प्रकार सान्निध्य वश ही लोहे के काँटे को निकाल लेता है, किन्तु स्वयं स्थिर रहता है, पुरुष भी इसी प्रकार स्वयं स्थिर रहते हुए भी केवल सामीप्य

---

१. प्रशस्तपादभाष्य पृ० ५२१।

२. योगभा० पृ० ४।२४

के कारण प्रकृति को कार्योन्मुख करता है। प्रकृति का सत्त्व-बहुल प्रथम परिणाम महत्=चित् तत्त्व है। किन्तु यह परिणाम उद्देश्य-मूलक है। इसमें दो उद्देश्य है, एक प्रकृति पक्ष में और दूसरा पुरुष पक्ष में। प्रकृति पुरुष की भोग सामग्री के रूप में जब परिणत होती है. तब प्रकृति सम्बन्धी उद्देश्य की सिद्धि होती है, प्रकृति सुख-दुःख मोहात्मिका है। इस दुःख-दुख का अनुभव न होने पर इसकी त्रिगुणात्मकता विफल होगी। भोक्ता के विना भोग्य निरर्थक है। भोक्ता की अपेक्षा कर ही भोग्य है। अतः भोग्य प्रकृति भोक्ता पुरुष की अपेक्षा करती हैं। पुरुष असङ्ग मुक्त स्वभाव है। इसलिए मुक्ति के लिए पुरुष अपेक्षा करता है। मुक्त स्वभाव भी पुरुष अविवेक के कारण प्रकृति के साथ सर्वथा संयुक्त होता है। प्रतिबिम्ब होकर बुद्धि के दुःखत्रय को अपने ऊपर आरोपित करता है। दुःख ज्वाला से सन्तप्त पुरुष इनके आत्यन्तिक निवृत्ति की कामना करता है। आत्यन्तिक रूप में दुःखत्रय निवृत्ति रूप कैवल्य के लिए तत्त्व पुरुष का भेद ज्ञान अर्थात् विवेकज्योति अपेक्षित है। इस विवेकख्याति के साधन के लिए बुद्धि=चित् की अपेक्षा है, विना उसके ज्ञान सम्भव ही नहीं है। साम्यावस्थापन्न प्रकृति का भोग सम्भव नहीं है, वह अव्यक्त है। क्योंकि पुरुष और महत् तत्त्व के विना भोग अपवर्ग सम्भव ही नहीं है।

जीव के विचित्र कर्मकलाप ही प्रकृति के विचित्र परिणाम का कारण है। प्रकृति जीवन का उपादान कारण और जीव का धर्म, अधर्म निमित्त कारण है। प्रकृति के साथ पुरुष का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है। प्रकृति के एक होने पर भी पुरुष के विविध कार्य के लिए विचित्र सृष्टि करती है। प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध जगत् की निष्कारण सृष्टि मानकर खरहे की सींग के समान अलीक माना जा सकता है। अपरिणामी ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि, ब्रह्म अपरिणामी है, अतः जगत् के रूप में उसका परिणाम सम्भव नहीं है। ईश्वरकर्तृक प्रकृति का महत्तत्त्व आदि के रूप में परिणाम नहीं हो सकता है। क्योंकि, क्लेश-कर्म विपाक आशय में अपरामृष्ट पुरुष विशेष रूप ईश्वर सभी व्यापारों से रहित है, और अधिष्ठान व्यापार शून्य ईश्वर प्रकृति का अधिष्ठाता नहीं हो सकता है।

अचेन प्रकृति को प्रवृत्ति कैसे सम्भव है ? यह आपत्ति भी ठीक नहीं है। गौ के स्तन्य की वृद्धि और उससे दूध का क्षरण होता है। अतः स्तन की प्रवृत्ति है और वह चेतन नहीं है। गौ के चेतन रहने पर भी स्तन की प्रवृत्ति गौ की प्रवृत्ति के अधीन नहीं है। गौ की प्रवृत्ति होने पर बहुधा स्तन की वृद्धि और दूध का क्षरण नहीं होता है। स्तन दूध की प्रवृत्ति का कारण वत्स पोषण है। इसी प्रकार अचेतन प्रकृति की भी पुरुष के मोक्ष और भोग के लिए प्रवृत्ति सम्भव है, अतः प्रकृति का महत् तत्त्व के रूप में परिणाम होता है।

**योग और चरकसंहिता**—चरकसंहिता के अनुसार एक धातुक, षड् धातुक एवं चतुर्विंशतिक इस प्रकार त्रिविध पुरुष का निर्देश मिलता है। चरक मत में आत्मा अनादि, अनन्त और शाश्वत है। उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। वह परमात्मा है।[1] सृष्टि के आरम्भ में वे वर्तमान थे। यह व्यक्त, अव्यय सर्वव्यापक अचिन्तनीय है। शुद्ध चिन्मय अद्वितीय एक होते हुए भी सभी प्राणियों के चैतन्य का शरण है। अन्तरात्मा के रूप में शरीर में वह अवस्थित रहता है। शरीर में अवस्थित होने के कारण ब्रह्म की पुरुष संज्ञा है। जीवात्मा के रूप में अनेक होते हुए भी परमात्मा के रूप में एक है। रजोगुण और तमोगुण के कारण देह कोष में जब तक आबद्ध रहता है—तब तक वह बद्ध ही जीव के कर्मों से उत्पन्न देह की असंख्यता के कारण जीवात्मा असंख्य है। किन्तु मुक्त अवस्था में ब्रह्म रूप में अवस्थान करता है, अतः परं ब्रह्मभुतो जीवात्मा नोपलभ्यते ( च० शा० १।१५५ ) कहा गया है। चरक और योग में समन्वय होने पर भी आत्मा को ब्रह्म स्वरूप कहा हैं। यह पुरुष बहुत्व ब्रह्म की प्रतिमूर्ति स्वरूप है। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'[2] इस योगसूत्र के अनुसार कोई भेद नहीं है। पञ्च महाभूत के साथ सम्मिलित चिन्मय आत्मा षड्धातुमय पुरुष के रूप में वर्णित हैं।[3]

चरक के प्रकृति, बुद्धि, अहङ्कार, मन, दश इन्द्रिय, पञ्चभूत एवं पञ्चतन्मात्र या पञ्चविषयक के समवाय को चातुर्विंशतिक पुरुष माना है। प्रकृति और विकृति वर्ग को लेकर वह कहा गया है।

---

१. प्रभवो न विद्यते ह्यनादित्वाद् विद्यते परमात्मनः। च० शा० १।५३

२. स्वादयश्चेतना षष्ठधातवः पुरुषः स्मृतः। च० शा० १।१३

चक्रपाणि ने इसकी व्याख्या में कहा है—अयं च वैशेषिकदर्शनपरिगृहीतचिकित्साविषयः पुरुषः।

बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद् योगधरं परम्।
चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः॥

( च० शा० १।३५ )

यह राशि पुरुष का जीवन–मरण होने से यह चिकित्सा के योग्य है। क्योंकि, निर्विकार आत्मा चिकित्सा के योग्य नहीं है। यह ज्ञातव्य है कि महाभारत में भी स्थूल देह के अर्थ में राशि शब्द का प्रयोग किया गया है। चरक संहिता में प्रकृति जात तत्त्वसमूह क्षेत्र और आत्मा को क्षेत्रज्ञ के नाम से कहा जाता है। क्षेत्र के साथ क्षेत्रज्ञ का अनादि और अनन्त सम्बद्ध माना गया है। तमोगुण और रजोगुण की प्रबलता के कारण प्रकृति के साथ आत्मा का सम्बन्ध अविच्छिन्न भाव से चलता है। सत्त्वगुण की प्रबलता होने पर तत्त्वज्ञान के उत्पन्न होने पर संसार के कारण रजोगुण और तमोगुण का विलय होने पर विवेक ज्ञान वश आत्मा की मुक्ति होती है।[1] भोगतृष्णा ही शरीर की उत्पत्ति का साधन है। भोगतृष्णावश धर्माधर्म का अर्जन कर एवं उसके फलभोग के लिए शरीर ग्रहण करता है। भोगवासना का नाश होते ही जीव का किसी भी विषय में राग और द्वेष नहीं रहता है, फलतः कर्म में प्रवृत्ति न होने से धर्माधर्म की उत्पत्ति नहीं होती है। भोग के द्वारा आबद्ध कर्म का क्षय होने पर विवेकी व्यक्ति का शरीर नाश होने पर मुक्ति होने से पुनः संसार में आगमन नहीं होता है। अविवेक के कारण सुखदुःख आदि का आत्मा में आरोप होता है।

आत्मा के ज्ञाता होने पर भी सभी समय सभी विषयों का ज्ञान उसको नहीं रहता है। मन, बुद्धि और इन्द्रिय के साथ संयोग के फलस्वरूप ही ज्ञान प्रवर्तित होता है। कारण समूह के मलिन होने पर अथवा उनके साथ संयोग के अभाव में ज्ञान नहीं होती है। डा० दासगुप्ता ने भी आत्मा में ज्ञान की विद्यामानता नहीं मानी है। मन और ज्ञानेन्द्रिय के संयोग से ही ज्ञान होता है।[2] करण समूह के

---

१. रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान्।
ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्ववृद्धया विवर्तते॥ च० शा० १।३६

२. आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज् ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते।
करणानामवैमल्यात् अयोगाद्वा न प्रवर्तते॥ च० शा० १।५४

The self is in it self without consiousness. Con-

साथ योग होने से कर्म और बन्धन एवं योग के अभाव में कर्म निवृत्ति और मुक्ति होती है। वस्तुओं की उत्पत्ति के लिए कारण की आवश्यकता होती है, कारण और सहकारी के बिना एकाकी वह कार्य के सम्पादन में असमर्थ रहता है। अविवेकवश कारण समूह के साथ आत्मा का संयोग स्थापित होता है। ज्ञाता ही साक्षी होता है। आत्मा ज्ञाता होकर साक्षी के रूप में अवस्थित है। भूत समुदाय उसके द्वारा परिदृष्ट होता रहता है। आत्मा चेतन होते हुए भी निष्क्रिय है, मन अचेतन होते हुए भी सक्रिय है। आत्मा के साथ वियुक्त होने में गति नहीं होती है, मन की क्रिया को ही आत्मा की क्रिया के रूप में भ्रान्ति है। चिन्मय पुरुष के अधिष्ठान के फलस्वरूप मन की क्रिया परिलक्षित होती है और आत्मा कर्ता होता है। वस्तुतः आत्मा निष्क्रिय है। मन सक्रिय होते हुए भी कर्ता नहीं है। परमार्थिक दृष्टि से कार्य का निष्पादक मन ही है। आत्मा स्वतन्त्र स्वयं स्व का परिचालक है। उसका अन्य कोई नियन्ता नहीं है। आत्मा धर्म और अधर्म का सहायक बनाकर अनेक योनियों में गमन के लिए स्वतन्त्र है और यह व्यापक है। रजोगुण और तमोगुण संयुक्त बद्ध जीव पूर्वजन्मार्जित कर्मों के अनुसार विभिन्न शरीर ग्रहण करता है। देह स्थिर इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न सुख-दुखादि का अनुभव करता है। एक देह के इन्द्रियों से अन्य देह का सुख-दुःखादि ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः व्यापक होते हुए भी सभी शरीरों के सुख-दुःखादि का ज्ञान करने में समर्थ नहीं है। सुख-दुःखादि की अनुभूति में प्रधान सहकारी मन है और वह कर्म के अनुसार विभिन्न रूप में है। किन्तु योगी और तान्त्रिक योग और साधन के प्रभाव से दूसरे में स्थित वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष करते हैं। इस प्रकार योग तन्त्र से चरक सिद्धान्त बुद्धि और मन के भेद को छोड़कर साम्य रखता है। श्वास-प्रश्वास चक्षु का उन्मेष और निमेष, जीवन-मरण मन की विभिन्न देश में गति, इन्द्रियान्तर से मन का संयोग, विषयान्तर से मन का सम्पर्क, स्वप्नयोग में मन की विभिन्न देशों में गति, इच्छा द्वेष, सुख-दुःख, धैर्य्य, चैतन्य, बुद्धि, स्मृति अहङ्कार आदि आत्मसंयुक्त देह में देखा जाता है, शून्य मृत शरीर में इन चिह्नों की उपलब्धि नहीं

---

siousness can only come to it through its connection with the sence organe and manas. Hist. of Ind. Phil. vol. I, P. 114

है। षड्धातुमय यह शरीर है, आत्मा के अभाव में पाँच धातु अवशिष्ट रह जाता है, इसी लिए मृत्यु को पञ्चत्व प्राप्ति कहा गया है।[1]

योग एवं तन्त्र में ये सभी बुद्धि के धर्म हैं। इस विश्लेषण में वैशेषिक दर्शन का प्रभाव भी तन्त्र पर लक्षित है।

### खण्डन

**बौद्धों का चरक के अनुसार खण्डन—**

बौद्ध दर्शन में सभी पदार्थ क्षणिक है, वे अस्थायी आत्मा नहीं मानते हैं। चरक में उनका खण्डन मिलता है। जीव की प्रतिभा और मोह का कारण धर्माधर्म है। आत्मा के अभाव में निराश्रित धर्माधर्म उत्पन्न नहीं हो सकता है। सत्य उपादेय धर्म का जनक एवं मिथ्या अनुपादेय अधर्म का जनक है। स्थायी आत्मा के अभाव में सत्य और मिथ्या से धर्म और अधर्म नहीं हो सकता है। आत्मा के अभाव में शुभाशुभ कर्मों की भी सम्भावना नहीं है। कर्ता ही कारणों का ज्ञाता होता है। बोद्धा पूर्व और ऊपर अवस्था का द्रष्टा होता है। स्थिर आत्मा के अभाव मैं यह सम्भव नहीं है। आत्मा के भोग का आयतन शरीर है। भोग्य भोक्ता के विना व्यर्थ है। सुख दुःख की भोग्यता भी आत्मा के विना सम्भव नहीं है। ज्ञाता के लिए शास्त्र और शास्त्रार्थ-विज्ञान व्यर्थ ही है।

आत्मा के अभाव में जन्म मृत्यु, बन्धन और मुक्ति सभी निरर्थक है। गृह-निर्माता के अभाव में केवल मिट्टी, दण्ड, चक्र के द्वारा घट आदि का उत्पादन सम्भव नहीं है। आत्म-निरपेक्ष सम्मिलित उत्पादन से देह की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। आत्मा के स्थायित्व के विना किसी के द्वारा किये गये कर्मों का कोई दूसरा भोग करेगा। जब कि भावी फल की प्राप्ति की अभिलाषा से कर्म में प्रवृत्ति होती है। किसी का फल कोई भोग करेगा तो कर्म में प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः देहातिरिक्त आत्मा है। (च० शा० १-३९-४८) विवेकज्ञान एवं साधना से मुक्ति एवं पुरुष के भोग और सृष्टि के लिए आत्मा है, यह चरक में भी स्वीकृत है, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से प्रकृति से बुद्धि आदि की उत्पत्ति एवं प्रलय से प्रकृति में लय उभयत्र समान है, पुरुष और प्रकृति का भेद ज्ञान होने पर प्रकृति उनके लिए शरीर का उत्पादन नहीं करती है।

---

१. चरकशा० १। ६०–६३।

**तन्त्र और योग—**

तन्त्र में कुण्डलिनी का जागरण अपेक्षित है। इसके विना पूजा, अर्चा साधना सभी व्यर्थ है। जितने समय तक कुण्डलिनी निद्रित रहती है, तब तक सिद्धि लाभ की सम्भावना नहीं है, योगाभ्यास करने पर भी ज्ञान नहीं होता है। देवी कुण्डलिनी के जागरण से ही अष्टविध ऐश्वर्य मुक्त हो महायोगी शिव के समान संसार में विचरण करता है।[1]

इस कुण्डलिनी के जागरण के लिए योग और तन्त्र साधना एकान्त रूप से अपेक्षित है। योग तन्त्र के विना कुण्डलिनी का चङ्क्रमण सम्भव नहीं है। रुद्रयामल में योग के अधीन ही कुण्डलिनी का जागरण कहा गया है।

विना योगं न सिध्येत कुण्डली-चङ्क्रमः प्रभो। (ग० त० ६।३६)
वेदाधीनं महायोगं योगाधीना कुण्डली।
(कुरु० या० उ० न० प० २१)

इतना सत्य है कि विश्वास, प्रेम, भक्ति, कर्म, ज्ञान इनसे सम्बलित योग के द्वारा ही कुण्डलिनी का जागरण सम्भव है। कुण्डलिनी नाद ब्रह्म है, अतः सङ्गीत के द्वारा भी कुण्डलिनी का जागरण सम्भव है, क्योंकि स्वर नाद ब्रह्म है। वेद और तन्त्र में कर्म, ज्ञान, भक्ति सम्बलित योग की अपेक्षा कही गई है। वस्तुतः योग के विना कुण्डलिनी का जागरण सम्भव ही नहीं हैं, क्योंकि, कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग से अतिरिक्त कोई साधना ही नहीं हैं। अतः साधना का अर्थ ही योग है। किन्तु कुण्डलिनी-जागरण की दृष्टि से कुण्डलिनी योग, हठयोग एवं लययोग ही गृहीत है। कुण्डलिनी शब्द ब्रह्म सर्वमन्त्रमयी सर्वदेवमयी, सर्वसत्त्वमयी है। योग की चितिशक्ति या पुरुष कुण्डलिनी से अभिन्न है, क्योंकि यह ब्रह्मस्वरूपा, सनातनी, विश्वातीता ज्ञानस्वरूपा है। योग के अनुसार चेतन निष्क्रिय है, किन्तु चितिशक्ति को सक्रिय एवं निष्क्रिय उभय माना है। कुण्डलिनी पद्म के मृणाल सूत्र के आकार की है, आदित्य के या अङ्गार के समान जाज्वल्यमान है, सूर्य कोटि की प्रभा के समान उसकी प्रभा है, होती

---

१. जागर्ति यदि सा देवी बहुभिः पुण्यसञ्चयैः।
तदा प्रसादमायान्ति मन्त्रयन्त्रार्चनादयः॥
शिववद् विहरेल्लोकेऽष्टैश्वर्यसमन्वितः॥ गन्धर्वतन्त्र ६।३६-३८

मूलाधार में चतुर्दल रक्त कमल है, गुह्यदेश से ऊपर और लिङ्गमूल से नीचे सुषुम्णा नाडी के मुख से संलग्न अधोमुख पद्म है। इस पद्म की कर्णिका के अभ्यन्तर में बज्रा नाडी के मुख में त्रैपुर नामक विजली के समान उज्ज्वल कोमल त्रिकोण है। उस त्रिकोण में परिव्याप्त कोटि सूर्य के समान देदीप्यमान रक्तबन्धु पुष्प के समान रक्ताभ जीवधारक कन्दर्प नामक वायु है। श्रीक्रम के सिद्धान्तानुसार यह त्रिकोण कामाख्ययोनि है और कन्दर्प अपानवायु है।[1] शाक्तानन्द-तरङ्गिणी के अनुसार त्रिकोण के मध्य में कामबीज के ऊपर अधोमुख छिद्र युक्त स्वमन्युलिङ्ग है। मृणालसूत्र के समान सूक्ष्म जगन्मोहिनी कुल कुण्डली अपने मुख के द्वार ब्रह्मद्वार = स्वयम्भु है, गोरक्षसंहिता में कहा गया है कि जिस द्वार से निरामय ब्रह्म स्थान में प्रगति की जाती है, वही ब्रह्मद्वार है। ब्रह्मद्वार की ओर मुख कर उसको सदा आवृत कर यह रहती है--यही स्वतन्त्र लिङ्ग--रन्ध्र ब्रह्मद्वार है।

"ब्रह्मद्वार-मुखं नित्यं मुखेनावृत्य तिष्ठति।
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारं निरामयम्॥

यह कुण्डलिनी केवल शिव को ही आवृत करती है--ऐसी बात नहीं है। वरन् सभी नाडियों को संवेष्टन कर स्थिर रहती है। गुह्य और मेढ्र के मध्य में अधोमुख त्रिकोण योनि है, वहाँ सभी नाडियों का मूलाधार कन्द है, उस कन्द से सदा कुण्डलिनी वर्तमान रहती है, सुषुम्णा नाडी के विवर में पुच्छ को मुख में निविष्ट कर अवस्थित हैं।

गुदा से दो अङ्गुल ऊपर मेढ्र से दो अंगुल नीचे चार अंगुल विस्तृत पक्षी के अण्ड के समान स्थित कन्दमूल है। इसी से बहत्तर हजार नाडियाँ उत्पन्न होती है।

यह कुण्डलिनी शक्ति ही विश्व की प्राण शक्ति एवं जीव की जीवन शक्ति है। यह जीवन शक्ति प्राण के रूप में है। कुण्डलिनी के सुप्त रहने पर भी उसका श्वास-प्रश्वास अव्याहत गति से चलता रहता है। इसके निःश्वास प्रश्वास के द्वारा यह जगत् में जीव को धारण करती है, विश्वास क्रिया जीवन प्रवाह का मूल है और

---

१. कर्णिकायां स्थिता योनिः कामाख्या परमेश्वरी।
अपानाख्यं हि कन्दर्पम् आधारे तत्त्रिकोणके॥ विश्वनाथ टीका

कुण्डलिनी जीव का जीवत्व है। प्राणायाम जो यह योग का आधार है, यह कुण्डलिनी के सम्मुख में ही उपयुक्त होता है। प्राण के 'हंस' कहने का अर्थ दो अक्षरों के अनवरत प्रवाह के कारण ही प्राण को हंस यह संज्ञा है। इसी हंस का आश्रय कर कुण्डलिनी अपने को व्यक्त करती है।

उच्छ्वासे चैव निःश्वासे हंस इत्यक्षरद्वयम्।
तस्मात् प्राज्ञस्तु हंसाख्य आत्माकारेण संस्थितः॥

( ष० नि० श्लो० ११ )

प्राणाकार में अभिव्यक्त पराशक्ति कुण्डलिनी को प्राणकुण्डलिनी कहा जाता है, इस शक्ति को कुण्डलिनी शब्द से कहने का कारण यह है कि साँप के समान कुण्डली मार कर रहती है, अतः यह नाडी कुण्डलिनी है। योगियों ने अपनी योग दृष्टि के आधार पर सर्पाकार में इसका प्रत्यक्ष किया है--इसलिए इसको सर्पी भी कहा है। सर्प को प्राणशक्ति का प्रतीक माना गया है, अतः प्राण शक्ति के प्रतीकभूत सर्प के आधार पर भी इसे सर्पी कहा जाता है। जोड़ा साँप की अलङ्करण मूर्ति ( motif ) मेसोपोटामिया के लेगोश के राजा King Gudea of Lagash के यज्ञीय पान पात्र में चित्रित पायी जाती है। इस राजा का आनुमानिक समय ३६०० B. c. माना गया गया है। प्रायः यह ऐतिह्य भी समसामयिक ही है। साँप प्राणशक्ति का प्रतीक है, यह साधारण जनता में भी प्रसिद्ध है।

इस सर्व-सत्त्वमयी महाकुण्डली के द्वारा अनेक विलक्षण क्रियात्मक प्रपञ्च मूर्ति विश्व की सृष्टि होती है। इसका प्रसारण ही चिद् अचिद् जगत् का उन्मेष है, इसी लिए यह मूलाधार है। गुरु कृपा ही इसकी उपलब्धि का साधन है।

योग दृष्टि के आधार पर मानव शरीर का केन्द्र मूलाधार है, इसी लिए मूलाधार में इसका स्थान माना गया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि चतुर्दश भुवन एवं उससे सम्बद्ध सभी पदार्थ इस पिण्ड में अवस्थित है। मूलाधार पाद के अधोभाग में सप्तभुवन= सप्त पाताल और ऊपर शिर तक भूः आदि सात भुवन है।

इस मूलाधार से ऊपर चक्र का स्थान है। मेरुदण्ड में सुषुम्णा नाडी है। इसी में या चित्रिणी नाडी में पद्म का स्थान है। सुषुम्णा नाडी में श्वास नाडी है और उसके अभ्यन्तर चित्रिणी नाडी का

स्थान है। चक्र कथन से मूलाधार स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, एवं विशुद्ध, इन प्रधान छ चक्रों को समझा जाता है। इनसे अतिरिक्त ललना सोमचन्द्र आदि का भी निर्देश मिलता है। ये चक्र प्राणशक्ति के अतिसूक्ष्म केन्द्र है, सजीव मानव के शरीर में प्राणवायु के द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है। ये चक्र चक्राधिष्ठात्री सूक्ष्म शक्ति के स्थूल स्पन्दन से होते है, उक्त स्थान को व्याप्त कर चन्द्र अवस्थित रहता है एवं उसी स्थान को वह नियन्त्रित करता है। इन चक्रों का स्वरूप ग्रहण महाशक्ति ही करती है। शक्ति की गति वृत्ताकार और चक्राकार धारण करती है. यह चक्राकार अवस्था ही योगशास्त्र का चक्रतत्त्व है। पद्म चक्र के चार दल है। योगनाडी की संख्या के अनुसार पद्म का दल निर्णीत होता है। मूलाधार चक्र घेर कर एवं मूलाधार के मध्य में चार नाडियों के जाने से चतुर्दल पद्म आकार की प्राप्ति होती है। ये योग नाडियाँ स्नायु नहीं वरन् प्राणवायु का प्रवाह पथ है, गत्यर्थक नड् धातु से निष्पन्न नाडी शब्द प्राणवायु के यातायात की बोधक है। प्रधान दश नाडियाँ है—ईडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, सरस्वती, वारुणी, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, अलम्बुषा और शङ्खिनी, किसी के मत में चौदह प्रधान नाडियाँ हैं:—ईडा, पिङ्गला, सुषुम्णा सरस्वती, वारुणी, पुषा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, विश्वादरी, कुहु, शङ्खिनी पयस्विनी, अलम्बुषा, गान्धारी।[1] इनमें भी प्रधान ईडा, पिङ्गला और सुषुम्णा है। मेरुदण्ड के बाह्यदेश में वाम भाग स्थित चन्द्रनाडी, दक्षिण में सूर्यनाडी और मेरुदण्ड के मध्य ने तीन गुणों वाली चन्द्रसूर्य और दीप्तिस्वरूपा सुषुम्णा है।

मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे।
मध्ये नाडो सुषुम्णा त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा।
(ष० नि० श्लो०)

यह नाडी सुषुम्णा, वज्रा, चित्रिणी इन तीन रूप के भेद से त्रिसूत्र-रूपा है। चित्रिणी चन्द्ररूपा शुक्लवर्णा, वज्रा सूर्यरूपा अनार किञ्जल्क-कान्ति और सुषुम्णा अग्निरूप रक्तवर्ण है।

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के अनुसार मूलाधार से ऊर्ध्वगति के समय अन्नमय-कोश में अभिमान होता है, तब ईडा और पिङ्गला की क्रिया चलती है, किन्तु जब सुषुम्णा उद्बुद्ध होती है,

१. ध्यानविन्दूपनिषद् ५१-५३। योगियाज्ञवल्क्य

तब इस जागरण की मात्रा के अनुसार ईडा और पिङ्गला की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है प्राणवायु के सञ्चार के अनुसार ईडा और पिङ्गला के सञ्चार में ह्रास आता है और क्रिया में अवरोध भी होता है। अभिमान अहन्तत्त्व की प्राणमय कोश में क्रीडा आरम्भ हो जाती है। प्राणमय कोश ने प्रवेश के अनुरूप अन्नमयकोश समाप्त हो जाता है इस कोश की क्रिया के अवसान के साथ अथवा इस क्रिया की अवस्था में ही गुरु कृपा या साधना के बल पर वज्रिणी या ( वज्रा ) नाडी का द्वार अनावृत्त हो जाता है। शक्ति इसी नाडी से क्रियाशील होती है। अहन्ता प्राणमय कोश का त्याग कर प्राणमय कोश का आश्रयण करता है। वज्रिणी नाडी से चित्रिणी नाडी में प्रवेश होता है। अहन्ता मनोमयकोश से ज्ञानमय कोश में प्रवेश करती है चरमावस्था में चित्रिणी नाडी का भी त्याग हो जाता है। इस अवस्था में यथार्थ ब्रह्मनाडी का आश्रयण होता है और शक्तिलीला आरम्भ हो जाती है। अहन्ता विज्ञानमय को छोड़कर आनन्दमयकोश का आश्रयण करता है। इस कोश में किसी प्रकार का मालिन्य नहीं है। यही जीव का शक्ति के अङ्क में अवस्थान है आनन्दमय कोश की सम्यक् अनुभूति वर्तमान रहती है। यही महा-चैतन्य का परम साक्षी अवस्था में अवस्थान है।[1]

प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह।
सुचिवद् गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया॥
( ध्या० दि० उप० पृ० ६६ )

शास्त्र की प्रक्रिया के सनुसार साधना करने पर कुण्डलिनी के प्रबुद्ध होने पर प्रबुद्ध कुण्डलिनी सुषुम्णा नाडी में ऊर्ध्वगमन करती है। चित्रिणी नाडी के मुख पर ब्रह्मद्वार है। पञ्चशिव शक्ति के साम-रस्य से निःसृत अमृत धारा में अभिषिक्त देश में प्रवेश करती है, जहाँ से निकलने का यही द्वार है इस द्वार से कुण्डलिनी परम शिव के सन्निधान में गमनागमन करती है। योग प्रक्रिया में उपलब्ध इसी को कन्द सुषुम्णा का ग्रन्थिस्थान या सुषुम्णाका मुख कहते हैं।

ब्रह्मद्वारं तदास्ये प्रविलसति सुधधार--गम्य--प्रदेशम्।
ग्रन्थिस्थानं तदेतद्वदनमिति सुषुम्णाख्यनाड्या लपन्ति॥
( षट् च० निरूपण श्लोक ३ )

---

१. पू. त. पृ. ६९-७०

कुण्डलिनी के ऊर्ध्वगमन करने पर यह विचारणीय है कि मूलाधार को वह शून्य करती हुई जाती है क्या ? कुण्डलिनी जब मूलाधार से ऊपर जाती है, देह के अस्तित्व एवं प्राण क्रिया तथा जीवनाधार स्वरूप यह शवदेह नहीं होता है, क्योंकि सहस्रार में शिव-शक्ति के मिलन के लिए प्रवाहित अमृत ही रक्षक रहता है। कतिपय आचार्य ऊर्ध्वगमन के समय भी मूलाधार की शून्यता को नहीं मानते है। मूलाधार स्थित कुण्डलिनी की एक प्रसृति ( ejection ) का ही ऊर्ध्वगमन मानते हैं। प्रपञ्चसार के अनुसार मूलाधार से स्फुरित विद्युत आभा के समान सूक्ष्माभा प्रभा ही मस्तक पर्यन्त ऊर्ध्वगमन करती है, यह सभी तेज रूप का मूलाधार है। प्रभा का अर्थ कुण्डलिनी मस्तक होता है। फलतः सर्पाकार कुण्डलिनी का मस्तक ऊपर जाता है और अधोभाग नीचे रहता है।

"मूलाधारात् स्फुरति–तडिदाभा प्रभा सूक्ष्मरूपोद्गच्छन्त्या मस्तकमनुतरा तेजसां मूलभूता" ( प्र० सा० १०।७ )

इस प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि मूलाधारस्थ कुण्डलिनी असीम और पूर्णरूप है, अतः स्थितिशील रूप में और असीम गतिशील रूप में चक्रों का भेदन करती हुई वलयाकारता में नहीं रहती है, जीव का स्थूल सूक्ष्म और कारण तीन प्रकार के देहों का लय हो जाता है और विदेह मुक्ति को प्राप्त करता है। किन्तु इस व्यष्टि मुक्ति में संसार का लय नहीं होता है, क्योंकि समष्टि का आधार महाकुण्डली व्यष्टि के समष्टि का आधार महाकुण्डली व्यष्टि की विदेह मुक्ति होने पर भी सार्द्धत्रिवलय के आकार में अवस्थान करती है। अतः संसार की स्थिति रहती है। कुण्डलिनी के जागरण और उद्ध्वगमन में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है।

### योग और कुण्डलिनी

योग के विना कुण्डलिनी का जागरण सम्भव नहीं है। गौतमीयतन्त्र में योग शब्द से संसार का उत्तीर्ण होना कहा है। इस जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य रूप योग द्रष्टा-स्वरूप में अवस्थान है।

"संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदः॥ ( गौ० त० )

पातञ्जलयोगदर्शन में चित्तवृत्ति निरोध स्वरूपयोग के साथ तन्त्रोक्त योग का विरोध नहीं है, चित्तवृत्ति निरोधस्वरूप योग के

द्वारा किसी अभीष्ट योग विषय में चित्त को स्थिर करना होता है।

कुण्डलिनी के ऊर्ध्वगमन के समय ग्रन्थि भेद की चर्चा हुई है। ग्रन्थि भेद से तात्पर्य यह है कि ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि त्रय अर्थात् पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा, अतः कुण्डलिनी का जागरण एक सामान्य चर्चा नहीं वरन् इसके अधिकारी होने के लिए ग्रन्थि भेद आवश्यक है। ब्रह्मग्रन्थि भेद से साधक कामादि प्रवृत्ति अर्थात् सृष्टि वासनादि का सर्वथा परित्याग कर जितेन्द्रिय होता है। इससे पुत्रैषणा दूर होती है विष्णु ग्रन्थि के भेद से वैष्णवी माया, धन, ऐश्वर्य आदि का प्रलोभन साधक को विचलित नहीं करते हैं, इसके द्वारा वित्तैषणा समाप्त होती है। रुद्रग्रन्थि भेद के बाद साधक प्रतिष्ठा मोह पर विजय करता है, फलतः लोकैषणा दूर होती है प्रतीकात्मक रीति से चिन्मय भूमि की उत्तीर्णता या अमृतत्व की प्राप्ति है। क्योंकि ग्रन्थि भेद का सहज अर्थ ही बन्धन-मुक्ति है। बन्धन का तीन प्रकार है—

( १ ) देहज
( २ ) प्राणज
( ३ ) आत्मज

जगद् ब्रह्माण्ड एक विराट् स्थूल देह है। समुद्र के ऊपर तरङ्ग के समान विराट् देह पर व्यष्टि देह उत्थित होकर कुछ क्रीड़ा के बाद विराट् में विलीन होता है। मनुष्य बुद्धि दोष या प्रज्ञा-अपराध के संस्कार ने एक-एक तरङ्ग को अपना समझता है और आबद्ध होता है, अतः बन्धन-प्रसूत एवं विश्व-तादात्म्य-परिच्छेद से होता है। इस कल्पित बन्धन का परित्याग कर देहात्म को समुद्र स्थानीय या विश्वात्मा के देह के रूप में अनुभव करना ब्रह्मग्रन्थि भेद है।

प्राण-मय विज्ञानमयकोश में सर्वव्यापी प्राणादि की सत्ता को विस्तृत होकर एक निर्दिष्ट व्यष्टि प्राणमन में अहन्ता का स्थापन करता है और उसके सुख-दुःख के मध्य में इस तरह आबद्ध हो जाता है कि व्यष्टि देह के दुःख के लिए समष्टि का विसर्जन कर देता है। एक ही जीवनी शक्ति या प्राण का खेल चल रहा है, सभी दुःख-सुख समष्टि से सम्बद्ध है—इस तत्त्व की उपलब्धि करने पर व्यष्टि देह का सीमाबद्ध सुख-दुःख समष्टि गत सुख-दुःख के साथ मिलना ही प्राणग्रन्थि या विष्णुग्रन्थिभेद का उद्देश्य है। विष्णु शब्द व्यापक अर्थ को समाहित कर विश्वात्म सत्ता के रूप में संस्थित है।

आत्मा का अर्थ आनन्द है, उसको एक सीमाबद्ध शरीर के साथ आबद्ध करना और व्यष्टि देह के आनन्द के लिए समष्टि देह के आनन्द को नष्ट करने से म्लानता का अनुभव नहीं होता है। इस व्यष्टिगत शरीर का बन्धन समष्टि गत आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि दूर करती है, सभी प्राणियों के हित साधन में एवं आनन्द-वर्द्धन में रत होना ही रुद्रग्रन्थि के भेद का लक्ष्य है।[1] ब्रह्मग्रन्थि भेद के साथ साधक समष्टि रूप में स्थिति लाभकर सत्यप्रतिष्ठ हो जाता है। इस अवस्था में समस्त जीवों को एक सत्स्वरूप के अङ्गरूप में अनुभव करता है--सभी की एकरूपता के साथ सब में विभिन्न रूप में आत्म प्रकाश का अनुभव करता है। इष्ट मूर्ति भी इस अवस्था में विश्वरूप को धारण करती है। सर्वत्र एक ही तेज का दर्शन करता है, साधक अपनी आत्मा को सर्वभूतात्मा के रूप में उपलब्ध करता है। ब्रह्मग्रन्थि भेद होने पर प्रारब्ध कर्मबीज दग्ध हो जाता है और स्थूल देह का संस्कार हो जाता है। विष्णु ग्रन्थि भेद से प्राण प्रतिष्ठा की उपलब्धि होती है। खण्ड प्राण में महाप्राण का अनुभव करता है। सभी के कर्मों को अपना कर्म मानता है सभी के सुख-दुःख में आत्म सुख-दुःख का अनुभव करता है, सभी के प्रति प्रेम-भाव उत्पन्न होता है। सभी के सुख के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग करता है।

विष्णु-ग्रन्थि के भेद से साधक के सञ्चित कर्म का बीज दग्ध हो जाता है और सूक्ष्म-देह का संस्कार होता है। रुद्रग्रन्थि के भेदन से साधक एक अखण्ड अद्वयभाव द्रष्टा की स्वरूप स्थिति का लाभ करता है, इससे सभी के आनन्द का लाभ करता है। इस ग्रन्थि के भेद से सञ्चीयमान कर्म का बीज दग्ध होता है और कारण देह में संस्कार होता है। दुर्गासप्तशती का ग्रन्थित्रय भेद का यही आशय लाहिड़ी महाशय एवं सन्याल महाशय ने योगर्द्धि के द्वारा उद्‌बुद्ध किया है। यह कुण्डलिनी जागरण का योग साधना में तत्पर ही अधिकारी है, अन्य नहीं। कविराज महाशय ने व्यक्त किया है कि इन्द्रिय संयम ब्रह्मचर्य, पवित्र जीवन, पवित्र चिन्ता इनका स्थायी रूप में आयत्त करने पर ही कुण्डलिनी के जागरण मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। मस्तिष्क के शुद्ध केन्द्र के साथ देह के निम्नस्तर स्थित

---

१. पूजातत्त्व--पृ. ५७-५८

जनन केन्द्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इन्द्रियलोलुप व्यक्ति के लिए ( Paraclete ) कुण्डलिनी के जगाने की साधना के पथ में आगे आनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिए। अतः योग और मोक्ष का सर्वत्र समत्व भावना के साथ व्यष्टि स्वरूप विसर्जन के साथ समाष्टि का तादात्म्य एवं समष्टि का हित साधन है।

प्रागैतिहासिक युग के महेञ्जोदारों के भग्नावशेष में भी योगी की मूर्ति उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त योग की भङ्गिमा में दण्डायमान देवमूर्तियाँ भी उपलब्ध है।[1] इस भङ्गी को किसी ने जैनियों की कायोत्सर्ग भङ्गी माना है तो किसी ने योगमुद्रा या वायुपुराण-वर्णित पाशुपतयोगमुद्रा माना है। ऋग्वेद के सूक्त[2] में योगी का वर्णन उपलब्ध है रुद्र के साथ केशी विषपात्र से विषपान कर रहा है, और वह वायुरूप प्राप्त करता है और कुत्सित लोगों को ध्वस्त करना चाहता है। वायुस्मा उपामथन्त् पिनष्टिस्मानु कृर्णनमा केशी विषस्य पात्रेण यद्रुद्रेणादिवत्सह ( १०।१३६ ) अर्थात् यह योगी योग बल से वायुरूपता को प्राप्त कर आकाश पथ से गमन करता है। गमन काल में विश्व के सभी पदार्थों को अपने तेज से देखता चलता है। इस अतीन्द्रिय पदार्थ द्रष्टा व्यक्ति का आहार वायु का मित्र है। यह वायु रूप को ही प्राप्त करता है। अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत् ( १०।१३४।४ )

"वातस्याश्वो वायोः सखायो देवेषितो मुनिः" ( १०।१३६।५ )

इस साधना से सम्पन्न अनेक मुनि थे। वे अतीन्द्रिय पदार्थद्रष्टागण कपिल वर्ण मलिन वस्त्र को धारण करते थें, तपस्या की महिमा से देदीप्यमान देवता के स्वरूप में प्रवेश करते थे और वायु गति सम्पन्न थे।

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसने मला।
वातस्यानुध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥ १०।१३६।२

योग साधना की प्राचीनता होने पर भी इस साधना में प्राणवायु संयमन ही मुख्य है। इस दृष्टि से प्राणायाम का अतिशय महत्त्व है, अतः प्राणायाम की अवगति आवश्यक है। बुद्धदेव के समय योग-साधना सिद्धि के लिए एकान्त रूप से अपेक्षित थी, स्वयं सिद्धार्थ

---

१. PL x cVili, Pls, c x Vi 29& c x viii, ll )
२. ऋग्वेद १५।१३६

प्राणवायु के नियन्त्रण के आधार पर बुद्ध हुए। यह भी सत्य है कि स्वयं उस मार्ग पर चलते हुए भी सिद्धों की निन्दा की है।

योग शास्त्र का अनुशासक पतञ्जलि को मानने पर भी इनको योगशास्त्र का प्रवर्तक नहीं माना गया है। सभी साधनाओं में योग का स्थान किसी न किसी रूप में उपलब्ध होता है, चाहे वह सनातनी हो, बौद्ध हो या जैनी हो—योग का स्थान मानना ही पड़ता है।

कुण्डलिनी का सङ्केत वेद में मन्त्रों के अध्ययन से भी उपलब्ध है। षोडशी, भुवनेश्वरी जो चितिशक्तिरूपा भुवन की उत्पत्ति का हेतु है। अन्धकार से आलोक की ओर आगमन में सूर्य की दुहिता सूर्या कही गई है, इसमें अपत्य वाचक प्रत्यय नहीं हैं, अतः यह सूर्य की शक्ति है, चैतन्य का परिणाम नहीं होता है, वह विकास मात्र है जैसे चन्द्रमा की अभिवृद्धि होती है। तन्त्र में भी देखने को मिलता है कि गिरीश की जाया, अर्द्धाङ्गिनी और अभिन्न शक्ति स्वरूपा है। गिरि के कूटस्थ चैतन्य के आधार पर ही गिरीश की जाया या दुहिता कुछ भी प्रतीत रूप में कहा है। संहिता में ही "स्वायां देवो दुहितरि त्विषि धात्" देवता अपनी दुहिता ने ही अपने तेजको सन्निहित करते हैं। अध्यात्म दृष्टि से सूर्या सूर्य की दुहिता है और उषा अर्थात् चेतना में श्रद्धा का आवेश, जिसको योगदृष्टि ने प्रतिभा संवित् कहते हैं। तादात्म्य में वह सूर्य की योषा, दिव की दुहिता ही भुवन की पत्नी या भुवनेश्वरी हैं। "दिवो दुहिता भुवनस्य पत्नी" ( ऋ ७।७।७५।४ ) सूर्य भी विशुद्ध चैतन्य एवं परमरूप में उत्तम ज्योति है, स्थावरजङ्गम की आत्मा तुरीय ब्रह्म गम्य है। किन्तु इसके भी परे एक सत्य का बन्धु है, वह जाना भी जा सकता है, और नहीं भी जाना जा सकता है "परमे व्योम्न्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद" १०।१२९।४।७

अश्विद्वय रथ ही त्रिचक्र है। तेज की उपासना में रत विप्रगण दो चक्रों का ज्ञान रखते हैं, वह है दिन और रात का आवर्तन; किन्तु इससे परे भी एक भूमि है, जहाँ न दिन है न रात है। इसी को मुण्डक में सूर्यद्वार का भेद कहा गया है।

पितृगृह सूर्य का त्यागकर अपने चन्द्र स्वामिगृह में रश्मि का गमन है। इसी स्थान में अश्विद्वय का रथ तृतीय चक्र से चलता है। इसी को 'अचक्र स्वधा' कहा गया है। उस चन्द्र के गम्भीर गहन में आलोक की एक गुप्त रश्मि का आगमन है। यह नित्य वर वधू का

अनुपमेय वासर है। सोम से अमृत क्षरण लोकोत्तर अमृत की दीप्ति है। ऋग्वेद ने कहा है—"गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्' इत्या चन्द्रमसो गृहे"। १।८४।१५ ॥ इसकी व्याख्या में दुर्गाचार्य ने कहा है—नाम नमनं प्रह्वत्वेनावस्थानमित्यर्थः।४२५ यजुर्वेद में इस रश्मि को "सुषुम्णः सूर्यरश्मिः" कहा है ( वा० १८।४० ) यह वही रश्मि है जो आदित्य से प्रसूत हो चन्द्रमा को आलोकित करती है। त्वष्टा की गो सविताकी किरण है। क्योंकि त्वष्टा सविता है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ह्रासवृद्धियुक्त चन्द्रमा आदित्य के इस पार है और उसकी षोडशी ध्रुवा कला आदित्य के उस पार है। इसके बाद तन्त्र में वर्णित सप्तदशी अमा की कला है। इस रूपकरणसे साधना की अद्वैत भावना विकसित हो रही है। यहीं सतरहवीं कला सुषुम्णा की रश्मि है जिसका नाम अपीच्य या गुह्य है। यह संहिता का "अमृतस्य लोकः" है ( १०।८५।२० ) इस ध्रुवा और अमा कला के ऊपर है जहाँ रात और दिन का निशान भी नहीं है, "न रात्र्या अहनः आसीत् प्रकेतः" ( १०।१२९।२ )।

अब पवमान सोममन्त्र की ओर दृष्टिपात करे। इसके ऋषि काश्यप या असित देवल हैं। सात ध्यान चेतना के द्वारा निहित पवमान सोम प्राण को चञ्चल करता है। जैसे द्रोहहीन उस नदी के एक नेत्र के सम्वर्द्धित करता है। "धीतिभिर्हितो नद्यो अजिन्वद् अद्रुहः या एकम् अक्षिवावृधुः" ( ९।९।४ ) वैदिक सोमयाग सभी यागों में श्रेष्ठ है—इसी का फल अमृतत्व प्राप्ति है। अमृतत्व एक दीप्ति है और इसी ज्योति की विभूति देवता हैं। "अपाम् सोम-ममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम् देवान्" ( ऋ० ८।४८।३ ) अद्वैत का सम्यक् अनुभव एक और बहुत्व का समन्वय यहीं होता है। आधिभौतिक दृष्टि से सोम एक औषधि है। औषधि शब्द की ओर दृष्टिपात करने पर उष या उषस, वस् दीप्ति या उष् दहन अर्थ में उष् के आगे धि अर्थात् उषाका आलोक जिसमें निहित है, वैदिक दृष्टि से चेतना का प्रथम उन्मेष औषधि में इसके बाद पशु में अनन्तर मनुष्य में है। इस यथाक्रम में चिन्मय अन्न, प्राण और मन का वाहन है। ओषधि सोम राज्ञो और सोम राजा है। सवन या निष्पीडन से पृथिवी स्थानीय सोम की दीप्त्यर्थक मन्त्रात्मक देवी के उद्देश्य से अग्नि में रस का निक्षेप एक रहस्यपूर्ण व्यापार है। सोम की मत्तता, आत्मविस्मृति, जगत् विस्मृति की तन्मयता है। योग

चेतना में प्राकृत चेतना और विक्षेप की गूढता होती है। इतिहास में आत्माराम की योगशक्ति बलराम वारुणीपान से नित्य मत्त एवं आत्माराम के अग्रज है। आत्म समर्पण सुधापान की मत्तता एक अनिवर्चनीय है।

इस विश्लेषण से ज्योति रूप में सोम चन्द्रमा है। अग्नि, सूर्य और सोम तीन ज्योति हैं, व्यक्ति चेतना में अग्नि, विश्वचेतना में सूर्य और लोकोत्तर चेतना में सोम है। सोम की सोलह कला है। यह षोडशी कला नित्य ध्रुवा है--इसीलिए वेद पुरुष षोडशकला है। तन्त्र की महाशक्ति षोडशी है। वैष्णव भावना के विकास में चन्द्रावली ह्लादिनी पन्दरहवी कला राधा षोडशी है, और षोडश कला से युक्त कृष्ण अनिर्वचनीय है। उपसंहार में अध्यात्म दृष्टि से सोम ही तन्त्र की सुषुम्णा है सूर्य रश्मि ही आदित्य मण्डल में अमृत है, वह अमृत सूर्य रश्मि के द्वारा वाहित होकर ब्रह्म रन्ध्र की प्रणालिका से जीवन के हृदय को आधान करती हैं। उपनिषद् में अनेक स्थान में इसका वर्णन उपलब्ध है। अमृत दाहिनी यह नाडी हठयोग की सुषुम्णा है। अध्यात्म दृष्टि में नाडी और अधिभूत दृष्टि में नही है, योग तन्त्र की सुषुम्णा नाडी ऋक्संहिता की सुषोमा नदी है इस तरह सुषोमा, सुषुम्णा सोम इन तीनों की व्युत्पत्ति एक धातु से है और तीनों में अमृत प्रवाह की व्यञ्जना है। निघण्टु के अनुसार इसका अर्थ सुख होता है, फलतः सोम आनन्द चेतना, साहित्यिकों की रस चेतना अमृत और महासुख है। सोमयाग इसकी प्राप्ति का साधन है और योग में कुण्डलिनी का जागरण इसी सुषुम्णा से होता है जिससे आनन्द धारा का क्षरण सम्भव है। अतः कुण्डलिनी का जागरण में वैदिक, तान्त्रिक और योग का समन्वय है।

१. उपनिषद् में इस प्रणालिका का नाम हिता नाडी है ( ऐ० उ० १।१२ ) ( वृ० उ० ४।२।३, ३।२०। ) रश्मि नाडी और नदी की एकता ऋक् संहिता में सिद्ध है। "याः सूर्यो रश्मिभिराततान याभ्य इन्द्रो अरदद गातुर्मूमिम्, ते सिन्धवो वरिवो धातुना नः" ( ऋ० ७।४४।४ ) सूर्य जिनका विस्तार करते हैं, उनकी रश्मियों से इन्द्र जिनके लिए पथनिर्माण करते हैं, वह सिन्धु हमलोगों के मध्य बैपुल्य धारण करे। नाडी विज्ञान का भी यहाँ सङ्केत उपलब्ध है। सूर्य रश्मि में चिन्मय ही हठयोग में चित्रिणी है, इन्द्र तेज में

ओजस्वी वज्रिणी वृत्र की परिधि में अर्थात् आवरक तमः शक्ति की वेष्टनी में नदी की धारा अवरुद्ध है इन्द्र वज्र शक्ति से उस अवरोध का विदारण करता है ( द्र० ३।३३।११ ) धारा चेतना के साथ प्रवाहित होती है। इसी तरह ऋक संहिता में ही "अथ ते शर्यणावन्ति सुषोमायाम् अधि प्रियः आर्जीकीय मदिन्तमः ( ८।७।२९ ) हे इन्द्र तुम्हारा यह प्रिय सोम शर्यणावत् सुषोमा एवं आर्जीयकी में रहता है आदि। वीर्यशाली मरुद्गण ज्योतिर्मय महाप्राण को रथ चक्र गभीर से वहाँ पहुँचे तीन धामों में उनका नाम आर्जीक, सुषोम और शर्यनावत् है। ( ८।६४।११ ) शाकटायन ब्राह्मण के शर्यणावत् का अर्थ कुरुक्षेत्र के अधोदेश में स्पन्दमान सरोवर ( सायण भा० १।८४।१३ ) वस्तुतः इस शरीर में ही कुरुक्षेत्र एवं देवयजन भूमि है, ऐसी स्थिति में शर्याणवत् उसके अधोदेश में स्थित मूलाधार है, आर्जीक या आर्जीकीय का व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ ऋजुता रूप में जो चले वर्थात् जहाँ से चेतना की अकुटिल गति होती है। इस प्रकार इसको सहस्रार कह सकते है, दोनों के मध्य में सुषोमा नदी या सुषोम धाम है। सुषमा अमृत प्रवाहिनी सोम की धारा उसके मध्य में प्रवाहित है। इसका सङ्केत हठयोग की योनि मुद्रा में है। यथा "यत्र ब्रह्मा ग्राब्णो सोमे महीयते सोमेनान्द जनयन्। ( ९।९९३। ६ ) ग्रावा सोमचेतनाका पाषाण अर्थात् योनिकन्द है। अतः इसमें सन्देह नहीं है कि कुण्डलिनी जागरण का सङ्केत वेद में है इसके मूल में सुषुम्णा नाडी की आवश्यकता है कुण्डलिनी की अकुटिलता के साथ सहस्रार गति और वहाँ सोम समन्विति और अमृत क्षरण होता है, महासुख की दीप्ति और प्रातिभ सवित की यही सम्पत्ति है।

**भारतीय दर्शन में योग :—**

वैदिक ऋचाओं के अनेक स्थलों में योग का विश्लेषण उपलब्ध है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के अट्ठाहरवें सूक्त में लिखा है कि कोई भी क्रियायें बिना योग के सिद्ध नहीं होती हैं ' "यस्मादृते न सिध्यन्ति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति।" (ऋ० १।१८।७) इसी का छाया गीता के "योगः कर्मसु कौशलम्" पद्य में उपलब्ध है।

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' यो० सू० १।१७ इस सूत्र की मूलाधार "स धा नो योग आ भुवत् स राये स पुरन्ध्याम्। गमद् वाजेभिरा, सनः"'। ( ऋ० १।५।४, साम ३०१।२।१०३, अथर्ववेद २०।६९१ )

में मिलता है ( ईश्वर की कृपा से समाधि की प्राप्ति होती है )। मुझे उसका सन्निधान प्राप्त हो। इतना ही नहीं ईश्वर प्रणिधान के लिये वेद में अनेक मन्त्र उपलब्ध है प्रत्येक समाधि में ऐश्वर्य सम्पन्न इन्द्र का आह्वान करे। "योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे सवाय इन्द्र भूतये"। ( ऋ० १।३०।७ ) इन मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि संहिता भाग से चलती हुई योग धारा ने उपनिषद् युग में पुष्पित पल्लवित होकर अनेक योगों के आधार पर सूक्ष्मतम समाधि से स्वरूप प्रतिष्ठा का मार्ग प्रशस्त किया।

आत्मज्योतिः के आनन्दमयकोष, विज्ञानमयकोष, मनोमयकोष, प्राणमयकोष, और अन्नमयकोष आचरण के रूप में है ; इन कोषों के कारण ही प्रकृति के सूक्ष्म और स्थूल तत्त्वों के प्रतिबिम्बन से राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि का आत्मा में आरोप होता है।

योग सभी दर्शनों के साथ अक्षुण्ण रूप में उपलब्ध होता है। यही कारण है कि सामान्य दार्शनिक मान्यताओं के खण्डन होने पर भी योग की मान्यतायें सर्वत्र स्वीकृत है।

आस्तिक दर्शनों के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि, वेदमूलक होने से वहाँ विरोध की सम्भावना ही नहीं है, नास्तिक दर्शनों के साथ भी योग का अनिवार्य सम्बन्ध है।

जैन दर्शन में कर्मपुद्गल को नष्ट किये विना सर्वज्ञता नहीं आती है। कषाय ही बन्धन के कारण है, नवीन कर्मपुद्गलों के आश्रय के अवरोध के विना कर्मपुद्गलों का क्षय सम्भव ही नहीं है। ज्ञान ही इनका प्रधान कारण है, अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र इन तीन रत्नों का अनुष्ठान आवश्यक है। सम्यग्दर्शन आत्मा के स्वरूप प्रतिष्ठा का प्रतीक है। इसके द्वारा जीव, आजीव आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का यथार्थ ज्ञान होता है।

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"। ( मोक्षशास्त्र १।१ )

संयम और तप के विना आस्रव का निरोध और सञ्चित कर्मों का विनाश नहीं हो सकता है और इनके विनाश के विना आत्मा की शुद्ध अवस्था नहीं आ सकती है।

"संजमएण भन्ते, जीवे किंअणयइ ? संजमएण अण्णह एतं जणयइ। तवेण भन्ते, जीवे किं जणयइ ? तवेणं जणयइ। ( उत्तराध्ययन, २९, २६–२७ )

बौद्ध दर्शन में सम्यग्दर्शन के ही अर्थ में सम्यग्दृष्टि ( सम्मादिट्ठि) मानी गई है[1] जागतिक दुःखों की प्रकृति को जानकर सत्कायदृष्टि आदि से विभूषित होती है। बौद्ध दृष्टि से यह सम्यग्दृष्टि ही प्रज्ञा है। प्रतीत्यसमुत्पाद आदि प्रज्ञा की भूमि है। क्रमशः अनित्य दुःख और अनात्म ज्ञान से विपश्यना आती है जो प्रज्ञा का मार्ग और लोकोत्तर समाधि है। इसके द्वारा दिव्यचक्षु दिव्यश्रोत्र, चेतःपर्यायज्ञान, पूर्वानुस्मृतिज्ञान, च्युत्युत्पादज्ञान और आस्रवक्षयज्ञान षडभिज्ञा उत्पन्न होती है। शब्दान्तर से जैनदर्शन में भी इन्हें स्वीकार किया गया है। मनःपर्यायज्ञान चेतः पर्याय ज्ञान है। यह पूर्वानुस्मृति और केवल ज्ञान के अन्तर्गत है।

किन्तु सम्यग्ज्ञान का सम्यक् चरित्र के विना रहना सर्वथा निष्प्रयोजन है—सम्यक्चरित्र महाव्रत और अणुव्रत के भेद से दो प्रकार का है। अहिंसा, सत्य आदि बारह व्रत इसके लिए कहे गये हैं। इनसे अतिरिक्त पञ्च समितियों का पालन, इन्द्रियों पर विजय प्राप्ति समता आदि षडावश्यकों का अनुष्ठान करना है। इन सभी अनुष्ठानों के बाद समाधि के आलम्बन के विना परमपद अर्थात् स्वरूप प्रतिष्ठा सम्भव नहीं है।

सर्वार्थतैकाग्रतपः समाधिस्तु क्षयोदयौ।
तुल्यावेकाग्रता शान्तोदितौ च प्रत्ययाविह ॥

कर्मविजय, भावनोपलब्धि, ध्यानसिद्धि, ( अ. रा. को. ख. ७। पृ. ४ ) समत्वप्राप्ति के साथ सर्वज्ञत्वप्राप्ति सोपान क्रम में होती है। सम्यग्दृष्टि ही योगका परम चरम लक्ष्य है।

बौद्ध दर्शन में भी शील समाधि एवं प्रज्ञा का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। कुशलचित की एकाग्रता ही समाधि है। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रज्ञा पारमिता की प्राप्ति अपेक्षित है और इसके लिए दश भूमियों को पार करना पड़ता है, इस प्रकार जैन और 'बौद्ध साधना शुद्ध योग साधना है'—यह कहना अनुचित नहीं है। जैन के ही अष्टाङ्ग मार्ग में प्रज्ञा शील और समाधि ये तीन रत्नों को यहाँ भी माना गया है।

एकालम्बन रूप एकाग्रता ही बौद्धों की समाधि है। यह एकाग्रता अभिन्नालम्बन स्वरूपा है। यह अभिन्न आलम्बन स्वरूप प्रतिष्ठा से अतिरिक्त नहीं हो सकती है।

---

१. बुद्धवचन पृ० २१

प्रसादपूर्ण चित्त की समाधि ही सफल होती है।

"सुखिनो चित्तं समाधियतीति वचनतो पन सुचरितस्य पदट्ठान[1]।

बुद्ध मार्ग की दिशा में अविच्छिन्नरूप से चित्त की एक आलम्बन के आश्रयण की मनोवृत्ति जब होती है तब समाधि होती है[2]। योग एवं गीता की दृष्टि से विश्लेषण करने से इस अर्थ का स्फुट परिष्कार मिलता है। अभिधर्मकोषभाष्य के अनुसार स्वरूप प्रतिष्ठान से भिन्न समाधि नहीं हो सकती है। एकाग्रता का विवरण देते हुए लिखा है कि "एकालम्बन ही एकाग्रता है। ऐसी स्थिति में एकालम्बन चित्त ही समाधि है चित्त का धर्मान्तर समाधि नहीं है। चित्त ही समाधि नहीं है, जिससे एकाग्रता होती है वह धर्म समाधि है[3]। स्फुटार्था में भी इसी अर्थ को कहा है। फलतः योग और समाधि अभिन्न है और द्रष्टा के स्वरूप की प्रतिष्ठा है। अन्य धर्म की प्राप्ति सिद्धान्त विरोध के कारण सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार योग-प्रस्थान का सर्वत्र समादर है। भारतीय साधना में योग के साहाय्य की प्राप्ति के विना साध्य की प्राप्ति हो ही नहीं सकती है। चित्त की एकाग्रता ही बहिरंग साधन प्रणाली से विमुक्त कर अन्तरङ्ग एकाग्रता का सम्पादन कर बोध में विषम विश्व का उन्मूलन कर कर समत्व की भूमि पर अवस्थित कराती है।

यह सत्य है कि अनादि अविद्या के कारण मानव मन स्वभावतः बहिर्मुख रहता है। इसको अन्तर्मुख करने के लिए सक्रिय चेष्टा ही प्रथम योग है। यह योग एकाग्रता के द्वारा बहिरङ्ग प्रवृत्तियों से निरुद्ध होता है और अन्त में स्वसत्ता में अवबुद्ध होता है। अवबुद्ध प्रकाश से समग्र विश्व उद्भासित होता है और इससे लोक के प्रति करुणा और कल्याण की कामना उद्बुद्ध होती है, अहंशून्यता अस्मिता में परिणत होती है। अस्मिता भूमि में ज्योतिः स्वरूप प्रज्ञा का प्रोल्लास होता है। विभूतियों की दीप्ति में भूतों के जय से

---

१. विशुद्धिमग्गो पृ० १८१।

२. अविच्छिन्नरूपेण चित्तस्यैकालम्बेन प्रवृत्तिः समाधिः। अभि० को० पृ० ३०।

३. केयमेकाग्रता नाम ? एकालम्बना। एवं तर्हि चित्तान्येवैकालम्बानि समाधिर्न चैतसिकं धर्मान्तरमिति प्राप्नोति। न चित्तान्येव समाधिः। येन तु तान्येकाग्राणि वर्तते स धर्मः समाधिः। अभि० भा० पृ० ४३२

कायसम्पत् समृद्ध होता है । मधुमती भूमिका के साथ भूमा साक्षात्कार तथा भोग वितृष्णा रूप विवेक ख्याति होती है ।

भारतीय सभी साधनाओं का मूल लक्ष्य भेद में अभेद दर्शन ही है। एक तत्त्व में अवस्थान करना ज्ञान विचार का प्रधान कार्य है । वेद से लेकर सभी दर्शनों में अध्यात्म और अधिभूत Subjeet and objeet रूप द्वैतदर्शन का एकतत्त्व में ले जाने का मार्ग दर्शन ही है । बुद्धि तत्त्व की द्विधा अभिव्यक्ति Moral and natural law' नैतिक और प्राकृतिक रूप में होती है । किन्तु इनकी उपसंहृति आत्मा के साक्षात्कार से होती है । अद्वयपुरुषोत्तम की यही भूमिका है । प्रकृति भूमि भावमयी भूमि में प्रकाश लाभ करती है । भावभूमि ज्ञानभूमिक्रम में पुरुष या चेतन स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है ।

बाह्य जगत् में धर्म का आधान बुद्धि के द्वारा होता है। intellect अर्थात् बुद्धि ही इस दिशा से कर्तव्य का त्रान कराती है । कर्तव्य में निहित गुप्त प्रेम निर्झरिणी की दिशा hidden spring of love उद्भूत होती है, moral conciousness अर्थात् कर्तव्य विवेक का विकास प्रेम में परिणत होता है यह प्रेम ही प्रज्ञा का अवलम्बन करता है । इस विचार प्रज्ञा intellect and intuition का मूल अद्वय पुरुष रूप स्वरूप प्रतिष्ठा है ।

ज्ञान की प्रथम किरण दृष्टिपथ में आने पर मन में बोध होता है कि यह बाहर की है और इसी से वस्तु परिचालित है । किन्तु दैहिक क्रिया की अवगति के साथ यह विश्वास होता है--यह शक्ति अन्तर्निहित ही है । Immanent Dynamices की धारणा अर्थात् conception उद्भूत होता है । स्वाभाविक गति का अनुसन्धान होते ही सर्वानुस्यूत चेतनशक्ति का सन्धान होता है । इसी क्रम में intelligent direction upon an end का बोध होता है । विश्व की ज्ञानचालित के रूप में अनुभूति होती है और अन्त में ज्ञान चेष्टा-शून्य स्वतः उद्भासित सहज प्रकाश में अवगत स्वरूप प्रतिष्ठित होता है ।

प्रत्येक भूमि में रसास्वादावस्था रहती है । एक भूमि अन्य भूमि में जाने की सोपान परम्परा है । आनन्दकार में परिणत जीव को सीमा से दूर सर्वभाव में उपस्थापित करना है सङ्कीर्णता की भूमि से छुडाकारा अर्थात् Paricularity के region से अलगकर unive-

rsality भूमा के राज्य में प्रतिष्ठित करता है। कर्म भक्ति या ज्ञान इस सत्त्व समाधि में आकर; विघ्न-द्वन्द्व शून्य हो; समता और स्वच्छन्दता मुख की भूमि में रहता है। समाधि भक्ति, ज्ञान और कर्म सभी में एक रूप ही रहती है। समाधि mere trance state शुद्ध मूर्च्छाभाव नहीं है यह absorpiton into highest concentrated thought गम्भीर अनुभूति है। इसे परमविचार, परमप्रेम, परमज्ञान का समष्टिभूत फल कह सकते हैं। यह वही भूमि है जहाँ धारणा thorugh understanding aud firm fixity of attention ध्यान deep meditation एवं समाधि absorbed attention इनका पुञ्जीभूत होता है। धृतिगृहीत ज्ञान के रूप में परिपूर्णता का लाभ करता है। इस समाधि के फल स्वरूप ही प्रज्ञा intuition का उदय होता है यह भावना विशेष developed reason है, मन की सभी सत्यशक्ति इससे नियोजित होती है। यही कारण है कि यह मानव को शुद्ध विचार Pure thought के राज्य में, सत्यज्ञान Pure ideation के राज्य में शुद्धभावना की भूमि में अवस्थित रखता है। योग की इस समाधि में कर्म ज्ञान और भक्ति भी अवसान लाभ कर योग संज्ञा प्राप्त करते हैं। पातञ्जल की दृष्टि में आकर शून्य स्वरूप मात्र निर्भास अवस्था है। इस स्थिति में ज्ञान को जीव की स्मृति या संस्कार contribute आरोपित होकर अन्यथा अनुरञ्जित नहीं कर पाते है। सर्वथा स्वरूप अवस्थिति शब्दान्तर से ब्रह्मार्पण या ब्रह्महवि है। इस अवस्था में जीव न तो इन्द्रियों में न शरीरसुखावह कर्मों में प्रस्तुत होता है।

**योग भूमि में छ शत्रुओं का नाश :—**

स्वच्छन्द भैरव में भी इसी का समर्थन मिलता है प्राण, मन और अन्तःकरणं के विनाश से समूल माया की निवृत्ति होने से शिवानन्द स्फुरण ही योग है। उत्तराम्नाय के अनुसार शिव और शक्ति का अभेदात्मक ज्ञान ही योग है। शक्ति को संवित्स्वरूप तथा परमानन्द रूपिणी माना है। सभी विश्लेषणों से आत्मस्वरूप ज्ञान से सर्वत्र ज्ञान की भूमि पर समता का सञ्चरण ही योग है।[1]

अन्य दार्शनिक दृष्टि में भी आत्मस्वरूप के चिन्तन एवं संवित्प्रकाश से सर्वसंविद्रूपता के स्फुरण से स्त्री भोगाभिलाष स्वरूप

१. शारदाति० पदार्थादर्श–पृ० ५३८।

काम, प्राणियों के मारने की इच्छास्वरूप हिंसा, धनादि की तृष्णा रूप लाभ, तत्त्वज्ञान रूप मोह, मैं सुखी हूँ, मैं धनिक हूँ इत्यादि गर्व स्वरूप मद, अन्य व्यक्तियों के कल्याण के प्रति द्वेष रूप मत्सर—ये दुःखप्रद होने से इन छ शत्रुओं का नाश हो जाता है। क्योंकि योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि, इन आठ योग के साधनों से क्रमशः मैं किसी की हत्या न करूँ इस अभ्यास की प्रवणतारूप अहिंसा, असत्य नहीं कहूँ इस अभ्यास की प्रवणता चित्तता रूप सत्य, चोरी के व्यवहार से निवृत्ति रूप अस्तेय, स्त्री संभोगरूप इच्छा की निवृत्ति स्वरूप ब्रह्मचर्य, प्राणियों के प्रति क्रूर बुद्धि की निवृत्ति स्वरूप कृपा, चित्त की कुटिलता निवृत्तिरूप ऋजुता, अभिभावक के प्रति अक्रोध चित्तता रूप क्षमा, अभीष्ट वस्तु के अप्राप्ति से जो चिन्ता उसका अभावरूप धृति, क्रमशः भोजन को कम करने से शरीर धारण के लिए अनिवार्य रूप से अपेक्षित भोजनस्वरूपमिताहार, चित्त की निर्मलता के लिए पूर्व कथित शौचशीलता रूप शौचरूप यह है इनमें धृति से सर्वत्र अनुषङ्ग का अभाव, अहिंसा और ब्रह्मचर्य से काम जय, कृपा और क्षमा से क्रोधजय, अस्तेय, सत्य और ऋजुता से लोभ जय, मिताहार और शौच से मोह जय, क्षमा और ऋजुता से मदजय, अहिंसा, कृपा, ऋजुता और क्षमा से मत्सर का जय होता है।

इस विश्लेषण से यह सिद्ध है कि सभी प्राणियों को वाणी, मन और शरीर से क्लेशन देना ही अहिंसा है। जिस रूप में देखा, अनुमित, सुना है उसको उसी रूप में कथन एवं चिन्तन, किन्तु वह वाक्य बाधक, भ्रान्त, अर्थ शून्य न हो। किन्तु 'इदं वाक्यं' को सभी प्राणियों के लिए उपघातक न हो कर उपकार के लिए प्रयुक्त होने पर ही सत्य होगा अर्थात् विचार पूर्वक सर्वभूतहित के लिए कहना सत्य वाक्य बोलना अर्थात् सत्य है।[1]

दूसरे की तृणादि के समान तुच्छ वस्तुओं का भी ग्रहण न करना अस्तेय है। कर्म, मन और वाणी से सभी अवस्थाओं में स्त्री की सङ्गति का परित्याग ही ब्रह्मचर्य है। किसी के दुःख को देखकर अपना समझ कर उसको हटाने की चिन्ता करना ही दया है। मन, वाणी और क्रिया से सभी व्यवहारों में सभी के साथ कुटिलता रहित

---

१. व्यासभाष्य—पृ० २।३०

होना ही आर्जव है। सभी रूपसे सदा सभी के साथ अर्थात् अपने साथ अपकार करने वालों के प्रति बन्धु के समान सम्यक् आचरण करना ही क्षमा है। ज्ञात विषयों में इच्छा प्रयत्न राहित्य लाभवान् रहना धृति है। भोज्य पदार्थ का स्वच्छ चित्त पूर्वक चतुर्थांश हित मेध्य भोजन ही मिताहार है। रोमकूप नवरन्ध्रों के द्वारा निर्गत मल का क्षालन ही शौच है।[1] मिट्टी और जल से बाह्य शुद्धि होती है, अन्दर भूत की शुद्धि के लिए पूर्वोक्त शौच की आवश्यकता है।

**योग और दश नियम :—**

इसी प्रकार शुद्धि के लिए तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, देव-पूजन, सिद्धान्त श्रवण ही, मनन, जप और हवन इन दश नियमों की आवश्यकता है।

शास्त्र के द्वारा विहित कठोरव्रत का आचरण तपस्या है। अनेक विषयों में उत्तर की इच्छा न रखना सन्तोष है। परलोक है यह मानने वाला आस्तिक है और परलोक की प्राप्ति के अनुकूल धर्म आदि का आचरण आस्तिक्य है। अपनी शक्ति के अनुसार देवता, पितर और मनुष्यों के उद्देश्य से देना दान है। यथाशक्ति सन्तोषपूर्वक मोक्ष के साधन में प्रवृत्त व्यक्ति के द्वारा विघ्न को हटाने के लिए आराधना देव पूजन है। वेद में प्रदर्शित उपायों की दृष्टि से उपदेश प्रद शास्त्रों का श्रवण सिद्धान्त है। कुत्सित आचार से स्वयं उद्वेग होना ही है, क्योंकि चित्त की मलिनता से ज्ञान का उदय नहीं होता है। वेदादि के द्वारा सुने गये विषयों का पुनः पुनः युक्तियों से अनुशीलन मनन है। चित्त की शुद्धि से ईश्वर की पुनः पुनः भावना या अनुचिन्तन जप है। अग्निहोत्र आदि शास्त्र विहित हवन होम है। मन्त्र आदि के जप करने पर दशांश हवन के न करने पर प्रत्यवाय से चित्त की मलिनता के कारण चित्त की शुद्धि न होने से ज्ञान का उदय नहीं होगा।[2] ये नियम हैं, अतः इनका आचरण न

---

१. शा. ति. प० पृ० ५३६।

२. तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानं देवस्य पूजनम्।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो हुतम्॥
नाजपात्सिद्धयते मन्त्रो नाहुतश्च फलप्रदः।
अनर्चितो 'हरेत्' कामान् तस्मात्त्रितयमाचरेत्॥

करने पर प्रत्यवाय होता है, अवश्य कर्तव्य होने के कारण इनका आचरण आवश्यक है।

**योग और प्राणायाम आदि :—**

इसी प्रकार योगी के लिए आसन भी आवश्यक है। आसन के द्वारा रोग का विनाश होता है, प्राणायाम के द्वारा पातक का नाश होता है, प्रत्याहार के द्वारा मानस विकार का विनाश होता है, धारणाओं से मन में धैर्य्य आता है, ज्ञान से उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है और सभी शुभाशुभ कर्मों का परित्यागपूर्वक समाधि से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1] अनेक आसनों का शास्त्र में रोगों की निवृत्ति के लिए शास्त्र में निर्दिष्ट किया है, किन्तु योग में जप एवं समाधि के लिए प्रसिद्ध पाँच आसनों का अनुष्ठान आवश्यक है। वे प्रसिद्ध पाँच आसन निम्नलिखित है—

प्राणायाम :—बाहर सोलह मात्रा से वायु का इडा के द्वारा अन्दर आकर्षण है, अथवा बारह या सोलह बार प्राणायाम का आचरण करें। चौसठ मात्रा से पूरित वायु को धारण करे, बत्तीस मात्रा से सुषुम्णा नाडी के मध्य में धीरे-धीरे अवस्थित करे—यह कुम्भक है। पिङ्गला नाडी से पूरित वायु को छोड़ दे—यह रेचक है।

मात्रा :—जितने समय से अपना हाथ जांघ के नीचे आता है, वह एक श्वास के समान एक मात्रा है। कतिपय आचार्यों ने जानु ( जङ्घा के मध्य भाग ) को तीन बार हाँथ से स्पर्श कर स्फोटन छोटी मात्रा है। अन्य लोगों की दृष्टि में अंगुलि के आठ बार स्फोट बजाना के समान मात्रा है। वायवीय संहिता के अनुसार दोनों जानु भाग की न जल्दी और न देरी से परिक्रमा कर अंगुलि का स्फोटन मात्रा है।[2]

---

१. आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम्।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण सर्वदा॥
धारणाभिर्मनो धैर्य्यं ज्ञानादैश्वर्य्यमुत्तमम्।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्तकर्मशुभाशुभः॥

( व० सं०, शा० ति० पृ० ५४४ )

२. कालेन यावता स्वीयो हस्तः स्वं जानुमण्डलम्।
पर्येति मात्रा सा तुल्या स्वयैकश्वासमात्रया॥

पूर्वोक्त प्राणायाम दो प्रकार का है। १ सगर्भ, २ अगर्भ। जप और ध्यान के साथ किया गया प्राणायाम सगर्भ है। यह सगर्भ प्राणायाम अतिशय फल देने वाला है एवं अगर्भ प्राणायाम सभी पापों का नाशक है। प्राणायाम उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन प्रकार का है। प्राणायाम का अभ्यास करने पर पसीना होना अधम प्राणायाम है। कम्पन से युक्त प्राणायाम मध्यम है। और भूमित्याग गुण की प्राप्ति उत्तम प्राणायाम है।

प्राणायाम :—मन की स्थिति के लिए अभ्यन्तर वायु को नासिका रन्ध्रों से प्रयत्न-विशेषपूर्वक यमन रूप प्रच्छर्दन एवं प्राण का संयम रूप निधारण से मन में स्थिरता आती है। हठयोग आदि में निर्दिष्ट प्राणायाम से योगसूत्र में निर्दिष्ट प्राणायाम में अन्तर है। आसन जप से स्थिरता लाभ के बाद वाह्य वायु का आरम्भ में रेचन अन्दर की वायु का निःसारण इन दोनों गतियों का विच्छेद प्राणायाम है। आसन जय से शारीरिक स्थिरता आती है एवं मानसिक वृत्तिशून्य के समान भावना का अनुभव होने पर प्राणायाम का अभ्यास विहित है। अस्थिर चित्त का प्राणायाम योगाङ्ग नहीं है।

"तस्मिन् सति श्वासश्वासयोर्गतिविच्छिन्नः प्राणायामः। ( यो. सू. २।४९ ) प्राणायाम के लिए उपपुक्त स्थान, काल, मिताहार एवं नाडी-शुद्धि आवश्यक है।[1]

स्थान :—निरुपद्रव एवं प्राचीर वेष्टित कुटीर प्राणायाम का स्थान है।

काल :—घेरण्ड संहिता के अनुसार वसन्त और शरत् प्राणायाम के आरम्भ का उचित काल है। इस मास में प्राणायाम का आरम्भ करना श्रेयस्कर है[2]।

---

अथवा—स्वजानुमण्डलं पूर्वं त्रिःपरामृश्य पाणिना।
प्रपद्य छोटिकामेकां मात्रा सा स्याल्लघीयसी॥
अथवा—जानुं प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम्।
अङ्गुलिस्फोटनं कुर्यात् सा मात्रेति प्रकीर्त्तिता॥

( शा० ति० पद्धा० पृ० ४४१ )

१. घे० सं० ५।२

२. वसन्ते शरदि प्रोक्तं योगारम्भं समाचरेत्।
तथा रोगी भवेत् सिद्धौ रोगान्मुक्तो भवेद् ध्रुवम्॥ (घे० सं० ५।९)

अस्सी मात्रा पर्यन्त कुम्भक करना चाहिए या अस्वीवार बीज-मन्त्र का जाप करता हुआ कुम्भक का अभ्यास करे।

अस्सीवार कुम्भक करने पर बीसवार पूरक एवं चालीसवार रेचक करना चाहिए, प्रातः मध्याह्न एवं सायंकाल एवं आधी रातमें प्राणायाम का विधान है। मिताहार, नाडीशुद्धि प्राणायाम के लिए आवश्यक है। मलयुक्त समस्त नाडी-चक्र की शुद्धि होने पर ही योगी प्राण का संयम करे।

समनु और निर्मनु के भेद से नाडीशुद्धि दो प्रकार की है। धौति आदि षट्कर्म से नाडीशुद्धि निर्मनु है, बीजमन्त्रजप के साथ प्राण संयम के द्वारा नाडीशुद्धि को समनु कहते हैं।

मूलाधार में भुजङ्गाकार कुण्डलिनी अधिष्ठित है; इस शिखा को तेजोमय ब्रह्मरूप में ध्यान करे यही तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान है। मन से ऊपर भ्रूके मध्य में प्रणवात्मक तेज है, उस ज्वालावली प्रयुक्त तेज का ध्यान तेजो ध्यान है[1]।

प्रत्याहार :—विषयों के प्रति विना रोक टोक इन्द्रियों की प्रवृत्तियों का वलपूर्वक रोकना प्रत्याहार है।

अर्थात्—अपने-अपने विषय में इन्द्रियों का असंयोग होने से चित्त की द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थिति प्रत्याहार है अर्थात् प्रत्याहार शब्द का अर्थ घूमाना है, चञ्चल अस्थिर मन आदि जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ से लौटाकर आत्मविष्ट करना प्रत्याहार है। वेदान्तसार में, इन्द्रियों को अपने विषय से प्रत्याहरण प्रत्याहार है।

धारणा :—अंगूठा, पैर की गाँठ, जानु, उरः सीवनी लिङ्ग, [गुदा लिङ्ग के मध्य में उन्नत रेखा सीवनी है ] नाभि, हृदय, कण्ठ, लम्बिका, नासिका, भौओं के मध्य, मस्तक, मूर्धा इन बारह स्थानों में प्राण वायु का धारण-धारणा है। वसिष्ठ संहिता में धारणा का पाँच भेद कहा गया है। मन की निश्चलता के लिए धारणा का विधान है।

(१) क्षमा धारणा :—हरिताल सुवर्ण के समान सुन्दर श्री सम्पन्न लक्ष्मी कमलासन से समन्वित चतुष्कोण हृदय में स्थित है और

---

१. भ्रुवोर्मध्ये मन ऊर्ध्वं यत्तेजः प्रणवात्मकम्।
ध्यायेत् ज्वालावलीयुक्तं तेजोध्यानं तदुच्यते॥ ( घे० सं० ६।१७ )

कलाल युक्त है वहाँ पाँच घड़ी तक चित्त समन्वित प्राण को धारण करे सदा स्तम्भ करनें वाली यह क्षितिपरक क्षमा नामक धारण कही जाती है।[1]

( २ ) वारुणी धारणा :—अर्द्ध चन्द्र के समान कुन्द पुष्प के सदृश धवल कण्ठ अर्थात् ग्रीवा में तत्त्व समन्वित अमृत वकार बीज-युक्त सदा विष्णु के साथ युक्त स्थित है वहाँ चित्तयुक्त प्राण को पाँच घड़ी तक लाकर धारण करे दुःसह काल कूट के समान तरल यह वारुणी कही जाती है।[2]

( ३ ) वैश्वनरी धारणा :—तत्त्वस्थित इन्द्रगोप के समान शिव के अनेक तेजोमय प्रवाल के समान सुन्दर त्रिकोण अनल रुद्र से समन्वित है वहाँ प्राण को पाँच घड़ी तक लाकर चित्तान्वित धारण करे वह्नि के समान शरीर को धारणा करती हुई यह वैश्वानरी धारणा कही जाती है।[3]

( ४ ) वायु धारणा :—जगत्प्रपञ्च सहित जो मूल देखा गया है, भौओं के मध्य में उसके समान सत्त्वमय यकार सहित जहाँ ईश्वर देवता है, पाँच घड़ी तक वहाँ चित्तसमन्वित प्राण की धारणा करे, यह वायु की धारणा है, यह सदा नियत रूप से आकाश में गमन करती है।[4]

---

१. प्रासश्रीहरितालहेमरुचिरा तत्त्वकलालान्वितं
संयुक्ता कमलासनेन च चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिपरा ख्याता क्षमा धारणा॥

२. अर्द्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठे च तत्त्वान्वितं
तत्पीयूषवकारबीजसंहितं युक्तं सदा विष्णुना।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा दुःसहकालकूटतरला स्याद्वारुणी धारणा॥
(शा० ति० अ० पृ० ४१)

३. तत्त्वस्थं शिवमिन्द्रगोपसदृशं तत्र त्रिकोणेऽनलं
तेजोऽनेकमयं प्रवालरुचिरं रुद्रेण तत्संगतम्।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा वह्निसमं वपुर्विदधती वैश्वानरी धारणा॥

४ यन्मूलं च जगत्प्रपञ्चसहितं दृष्टम्भ्रुवोरन्तरे
तद्वत्सत्त्वमयं यकारसहितं यन्त्रेश्वरी देवता।

( ५ ) नभोधारणा:—सुविशुद्ध जल सदृश आकाश जो ब्रह्मरन्ध्र में स्थित है जो उसके साथ सदा शिव से सहित हकार अक्षर से युक्त है, वहाँ प्राण को लाकर चित्त के साथ समन्वित धारण करे यह मोक्ष कपाट को भेदन में पटु नभो धारणा कही जाती है।[1]

कर्मों की साधिकायें ये सभी धारणायें दुर्लभ हैं उनके जानने से योगी सभी पापों से मुक्त होता है।[2]

**योग :—**

पातञ्जल दर्शन में चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है। यह योग सर्व श्रेष्ठ मानस बल है, । चित्त का परिणामी वृत्ति है। और इन वृत्ति का निरोध समाधि या योग है, यह कहा गया है कि सांख्य के समान ज्ञान नहीं है और योग के समान बल नहीं है, वृत्ति का निरोध एक अभीष्ट विषय में चित्त को स्थिर करना है। अर्थात् अभ्यास के द्वारा यथेच्छ अभीष्ट ध्येय में चित्त की निश्चल स्थित करना योग है। स्थैर्य और ध्येय इन दो विषयों के अनुसार योग का अनेक भेद है। चित्त में स्थैर्य की उत्पत्ति से मनोवृत्ति चित्त में स्थिर रहती है। वृत्ति की स्थिरता की वृद्धि मानसिक बल वृद्धि सम्पत्ति है। स्थिरता की चरम सीमा समाधि है। और यह शाश्वती शान्ति का साधन है। आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए श्रवण मनन और निदिध्यासन अर्थात् समाधि को चरम कारण माना है। योगी अपने कर्म समूह को दग्ध कर समाधि सिद्ध होने पर इसी जन्म में मुक्त होता है।[3] आत्मदर्शन समाधि लभ्य परम धर्म है। ईश्वर के प्रणिधान से भी चित्त की स्थिरता होती है। दान, संयम आदि के

---

प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वित धारये-
देषा खे गमनं करोति नियतं वायोः सदा धारणा ॥

१. आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रे स्थितं
तन्नाथेन सदा शिवेन सहितं युक्तं हकाराक्षरैः ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटभेदनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ॥

२. कर्मणां साधिकाः सर्वा धारणा पञ्च दुर्लभाः ।
तासां विज्ञानतो योगी सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

३. विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि ।
प्राप्नोति योगी योगाग्निर्दग्धकर्मचयोचिरात् । ( वि० पृ० ७ अंश )

द्वारा परम्परा क्रम चित्त स्थिर होता है। चित्त के रूप में परिणत सत्त्व गुण ही विशुद्ध ज्ञान वृत्ति है, जिसे सत्त्व भी कहा जाता है। तमो गुण और रजो गुण से चित्त के अनुविद्ध होने पर चाञ्चल्य और आवरण के कारण ध्यान की प्रवणता नहीं होती है।

योग के विना कुण्डलिनी का जागरण नहीं होता। गौतमीयतन्त्र में—संसार से उद्धार होने के साधन को योग कहा गया है, इस दृष्टि से जीव और आत्मा का ऐक्य ही योग है।[1] शारदातिलक टीका में राघवभट्ट ने भी वेदान्तानुसार जीव और आत्मा के ऐक्य को ही योग माना है। ( ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः[2] ।) कुलार्णवतन्त्र के अनुसार भी पूर्वोक्त ही योग माना है।

न पद्मासनतो योगे न नासाग्रनिरीक्षणम्।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः॥

( कु० त० ३०।६ )

महानिर्वाणतन्त्र के अनुसार भी योग की यही परिभाषा स्वीकृत है। योगो जीवात्मनोरैक्यं पूजनं सेवकेशयोः। ( म० त० १४।१२३ ) महातन्त्र के अनुसार शिवशक्ति का सामरस्य योग है।

प्रपञ्चसार के अनुसार अपने में हाथ पैर मुख आदि से रहित अनन्य आत्म स्वरूप का अनवरत दर्शन ही तात्त्विक दृष्टि से योग है।[3] पातञ्जल योग दर्शन की दृष्टि से प्रदर्शित चित्तवृत्ति-निरोध रूप योग के साथ तन्त्र एवं गीतोक्त योग का कोई विरोध नहीं है। क्योंकि आत्मस्वरूप में चित्तवृत्ति की स्थिरता ही योग है, यह अर्थ "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ( यो. सू. १।३ ) इस सूत्र में सुस्पष्ट है। गीता के द्वितीय अध्याय के पद्य के द्वारा स्पष्ट कहा गया है कि समाधि में स्थिर बुद्धि का अवस्थान ही योग है। "समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यति।"

---

१. संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते। ( गो० त० २२।८ )
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः॥ ( ग० त० २२।६ )

२. शा० ति० २५

३. करपादमुखातिविहीनं मनोरदृश्यमनन्यगमात्मपदम्।
यमिहात्मनि पश्यति तत्त्वविदस्तमिमं किल योगमिति ब्रुवते॥

( आ० पृ० ५४३ )

योग का भेद :—सभी साधनायें साधारण रूप से योग के नाम से परिचित है। ज्ञान हो या कर्म हो या भक्ति सभी के साथ योग शब्द का संयोग कर ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, हठयोग, नाद-योग, लययोग, जपयोग आदि।

इसी प्रकार अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग के भेद से भी योग का दो भेद माना गया है। बहिरङ्ग योग-साधना के बल से ज्ञान का उदय होता है। किन्तु इस ज्ञान के होने पर भी ज्ञान और ज्ञेय का भेद नष्ट नहीं होता है। अन्तरङ्गयोगनिर्विकल्पक की साधना करने पर जिसे महाज्ञान कहा जाता है, इस अवस्था में ज्ञान और ज्ञेय का पृथक् रूप से ज्ञान नहीं होता है। सत्य वस्तु का ज्ञान जो बहिरङ्ग योग है, उसके फलस्वरूप सत्य का भान अवश्य होता है, किन्तु अन्तरङ्ग योग के विना द्रष्टा के सत्यस्वरूप में अवस्थिति की प्राप्ति नहीं होती है।[1] दत्तात्रेय संहिता के अनुसार राजयोग सर्वश्रेष्ठ माना है।

"योगो हि बहुधा ब्रह्मन् तत्सर्वं कथयामि ते।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठयोगस्तथैव च॥
राजयोगश्च सर्वेषां योगानामुत्तमः स्मृतः।[2]

योगशिखोपनिषद् के अनुसार महायोग के रूप में भिन्न-भिन्न रूप में उपलब्ध सभी योग एक ही है। मन्त्रयोग लययोग, हठयोग एवं राजयोग ये अवस्था भेद मात्र है।

मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते॥[3]

लययोग—योगशिखोपनिषद् के अनुसार हठयोग से सभी दोषों से उत्पन्न जडता का नाश हो जाता है, क्योंकि क्षेत्र और परमात्मा का ऐक्य = अभेद होता है, फलतः चित्त की विलीनता भी सम्पन्न होती है, यही लययोग है।

लययोग होने पर प्राणवायु स्थिर होता है। योगी को लययोग से परम पद की उपलब्धि के साथ स्वरूपानन्द का लाभ होता

---

१. कल्याण योगाङ्क पृ० ३२५
२. प्रा० तो० का० ५। प० उ० पृ० ४३६
३. यो० शि० १।३२६

है।[1] हठयोगप्रदीपिका के अनुसार वासना का पुनः उत्थान न होने के लिए विषय विस्मृति लय है। सभी सङ्कल्प के विनष्ट होने पर जब अशेष चेष्टायें निःशेष हो जाती है तब लययोग उत्पन्न होता है। वाणी की अविषय अपने अनुभव मात्र से गम्य यह अवस्था है।

दूसरे शब्द से श्वास-प्रश्वास निरुद्ध हो जाता है, इन्द्रिय का विषय ग्रहण विध्वस्त हो जाता है एवं मन निश्चेष्ट हो जाता है; तब लय-योग के उत्कर्ष की अवस्था आती है। यह लययोग अनेक प्रकार के हैं। वस्तुतः चित्तलय ही लययोग है। चलते, उठते, बैठते, निद्रा, आहार सभी अवस्थाओं में निष्कल ईश्वर का ध्यान करना--यही लययोग है। बाह्य एवं आभ्यन्तर जितने भी कर्म सभी लय की साधना लययोग है। आदिनाथ ने सवा करोड़ लययोग के भेद को कहते हुए नादानुसन्धान को मुख्यतम माना है। शिव संहिता में तो स्पष्ट कहा कि खेचरी के समान मुद्रा नहीं है और नाद के समान कोई लय नहीं है। अतः नादानुसन्धान = आत्मज्योतिः का दर्शन जिसे पातञ्जल दर्शन के अनुसार स्वरूपावस्थान अर्थात् अन्य दृष्टि से कुण्डलिनी उत्थापन कहा है, श्रेष्ठ लययोग है।

**मन्त्र योग :—**

हकार के द्वारा श्वास बाहर आता है और सकार के द्वारा भीतर प्रवेश करता है, इस प्रकार सभी लोग हंसःमन्त्र का जप करते हैं गुरु की कृपा से सुषुम्णा में विपरीत जप होता है अर्थात् सोऽहं हो जाता है--यही मन्त्रयोग है।

मन्त्र जप के लिए जो मनोलय है--वही मन्त्रयोग है, पातञ्जल के अनुसार तज्जपस्तदर्थभावनम ( पा० सू० १।२८ ) के द्वारा इसी का निर्देश किया है। इसकी दूसरी संज्ञा महाभाव मानी गई है, इसमें बाह्यव्यवहार विहित है, बाह्यानुष्ठान भी चलता है, वर्णाश्रम धर्म आदि भी चलता है, देव देवी की मूर्ति का प्रतीकात्मक ध्यान भी चलता है, उनके रूपक का ध्यान और नाम के जप के द्वारा मन्त्रयोग समाधि होती है।

---

१. यो० शि० उ० पृ० ३६

"उच्छिन्न-सर्वसङ्कल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः।
स्वानुभवगम्यो लयः कोऽपि जायते वाग्गोचरः॥"

( ह० प्र० ४।३२ )

दत्तात्रेय संहिता में इसको अधम योग कहा है, किन्तु शक्तिसङ्गम-तन्त्र में और पातञ्जल दर्शन में इसकी प्रशंसा की गई है। मन्त्र योग के अभ्यास से सुखदुःख रहित केवल परब्रह्म परिस्फुट होता है। इसके द्वारा चित्त शुद्ध होता है। कामक्रोध से युक्त परमात्मा का ऐक्य चिन्तन दुःख का कारण होता है, मन कहीं, ध्येय कहीं, तब सुख कहाँ ? मानस भावना के द्वारा जीव ध्येय स्वरूप रहता है और भावना के त्याग के साथ ही जीव हो जाता है।[1] कविराजजी की व्याख्या के अनुसार मन्त्र का आश्रयण कर जीवात्मा और परमात्मा का सम्मेलन मन्त्रयोग है। शब्दात्मक मन्त्र चेतन हो जाता है और ऊर्ध्वगति क्रम में शब्दातीत परमधाम पर्यन्त गमन करता है। वैखरी से मध्यमा होते हुए पश्यन्ती अवस्था तक प्रवेश कराना मन्त्रयोग का उद्देश्य है। पश्यन्ती स्वप्रकाश चिदानन्दमय चिदात्मक-पुरुष की अमर षोडशी कला है। शब्द चैतन्य का फल आत्मा की स्वरूप स्थिति है। मूलाधार से इन्द्रिय अवरुद्ध रहती है, और चेतन शब्द सुनने का अधिकारी होता है। अभिधान जनित शब्द अनाहत नाद में लीन हो जाता है। अक्षर समष्टि मात्र रह जाती है, इसमें भी ईडा और पिङ्गला की गति अवरुद्ध हो प्राण सुसुम्णा में प्रविष्ट होता है, वहाँ बिन्दु स्थान का भेदन कर सहस्रार महाबिन्दु में अवस्थित है--यही तज्जपस्तदर्थभावन रूप मन्त्र योग है।

**हठयोग :—**

योगशिखोपनिषद् के अनुसार हकार सूर्य है और ठकार चन्द्र है, सूर्य चन्द्र का ऐक्य ही हठयोग है। शरीर में आपानवायु चन्द्र है और प्राणवायु सूर्य है। अतः प्राण और आपानवायु का संयोग हठ योग है। किसी-किसी के मत में हठात् ज्योतिर्मय होकर अन्तर में शिव स्वरूपता की प्राप्ति करता है, अतः सिद्धि प्रदसिद्धि सेवित यह हठ योग है।

साधन में प्रधान साधन शरीर है, शरीर के विना साधना नहीं चल सकती है। सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध, अतः स्थूल शरीर की साधना का प्रभाव सूक्ष्म शरीर और मन पर होता है। हठयोगप्रदीपिका के अनुसार सभी तापतप्त मानवों के लिए यह आश्रय गृह स्वरूप है, एवं कर्म जैसे पृथिवी का आधार है

---

१. श० सं० त० १।२६–३०

वैसे ही यह सभी योगों का आधार है। इस योग के करने से साधक के शरीर में दुर्बलता, मुख में प्रसन्नता, अनाहत नाद की व्यक्तता, चक्षु की निर्मलता एवं शरीर की स्वस्थता होती है, बिन्दु-जय से अग्नि उद्दीप्त तथा नाडी विशुद्धि होती है। इससे सुप्त कुण्डलिनी का जागरण एवं ब्रह्मद्वार मुक्त होता है।

"वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगताविन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्"।।[1]

हठयोग का उपदेश गोरक्षनाथ एवं इनके पूर्ववर्ती मृकण्ड पुत्र मार्कण्डेयादि ने किया है। हठयोग अष्टाङ्ग है, जिसका निर्देश पातञ्जलयोग दर्शन के यम आदि से किया है। गोरक्षनाथ के अनुसार यह षडङ्ग है। इन्होंने यम और नियम का परित्याग कर अन्य सभी अङ्गों को माना है। घेरण्ड संहिता के अनुसार इसके सात अङ्ग है। उससे प्रत्येक का विभिन्न फल है, षट् कर्मों से शरीर शोधन, आसन से शरीर दृढ़, मुद्रा से शरीर स्थिर प्रत्याहार से धीरता, प्राणायाम से प्राणिधान होता है और ध्यान से आत्म प्रत्यक्ष और समाधि से निर्लिप्तता और मुक्ति होती है।[2]

**राजयोग :—**

योगेश्वरोदय में कहा गया है कि आकाश में घूमती हुई वायु जैसे स्वयं आकाश स्वरूप को प्राप्त करती है अर्थात् आकाश में लीन होती है, वैसे ही आकाश में अर्थात् ब्रह्म में मन का लय ही राजयोग है।

यथाकाशे भ्रमन् वायुराकाशं व्रजते स्वयम्।
तथाकाशे मनो लीनं राजयोगक्रियामतम्।। (योगेश्वरोदय)

योगशिखोपनिषत् के अनुसार शक्ति और शिव का योग ही राजयोग है।

रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः।
(योग. उप. १।१३७)

राजयोग द्वैत-भाव-रहित है। 'राजयोगः स्यात् द्विधाभाव-विवर्जितः' (शि० सं० ५।१७) इस योग में दीप्तिका साक्षात्कार होता है। दीप्ति अर्थ को कहने वाले राजृ (राज्) से यह निष्पन्न

---

१. ह० प्र० २।७८ २. घे० सं० १।१०–११

है। इसके फल की श्रेष्ठता को ध्यान में रखकर कतिपय आचार्यों ने योगों का राजा यह अर्थ किया है। किन्तु इस अर्थ में 'योगराज' प्रयोग होगा। सर्वदा शिवप्रद होने के कारण ही यह राजयोग है। योगेश्वरोदय के मत में यह पन्द्रह प्रकार का है।

"पञ्चदशप्रकारोऽयं राजयोगः शिवप्रदः।
क्रियायोगः ज्ञानयोगः कर्मयोगो हठस्तया॥
ध्यानयोगो मन्त्रयोग उपयोगश्च वासना।
राजन्त्येतद् ब्रह्मविष्णुशिव एभिश्च पञ्चधा॥

योगी स्वात्माराम ने श्रीशुकनाथ को प्रणाम करके केवल राजयोग की सिद्धि के लिए हठयोग का उपदेश दिया है।

"प्रणम्य श्रीशुकं नाथं स्वात्मारामेण योगिना।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते॥"
(ह. प्र. १।२)

समाधिः—ध्यान की चरम परिणत समाधि है। पातञ्जल योगसूत्र के अनुसार समाधि ही योग है। योग की चरमावस्था समाधि है। घेरण्डसंहिता में भी श्रेष्ठ योग को समाधि कहा गया है। ईश्वरात्मक गुरु कृपा से ही इसका लाभ होता है।[1] ध्येय विषय मात्र का ज्ञान सम्प्रज्ञात समाधि है। जिस अवस्था में केवल ध्येय विषय मात्र का ज्ञान रहता है—वही ध्यान समाधि है। चित्त ध्येय के चित्र के स्वरूप का आधान करता है। योग समाधि है और यह चित्त का सार्वभौम धर्म है। योगः समाधिः, स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः। (व्या. भा. ३।३)

घेरण्डसंहिता के अनुसार मन को देह से पृथक् कर परमात्मा के साथ युक्त करे। इसी अवस्था को समाधि कहा जाता है। इस अवस्था में दश इन्द्रियों से सर्वथा असंयुक्त मन रहता है।[2] समाधि का यह स्वरूप शब्द भेद के साथ सभी दार्शनिकों एवं तान्त्रिकों ने स्वीकार किया है। द्रष्टा की स्वरूप स्थिति कहे या हठयोग प्रदीपिका के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य कहा जाय किन्तु इस

---

१. तदेवार्थमात्रनिर्भासंस्वरूपशून्यमिव समाधिः। (यो. सू. ३।३)

२. भटाद्भिन्न मनः कृत्वा ऐक्यं स्यात् परमात्मनोः।
समाधि तं विजानीयात् मुक्तसंज्ञो दशादिभिः॥ (ह० प्र० ६।२)

अवस्था में सभी सङ्कल्पादि विनष्ट हो जाते हैं। इसका विश्लेषण करते हुए लिखा गया है कि मन की स्वतन्त्र स्थिति नहीं रहती है—जैसे लवण जल के साथ युक्त होने पर एक हो जाता है; वैसे ही मन आत्मा के साथ संयुक्त होकर एक हो जाता है—मन और आत्मा का ऐक्य ही समाधि है। समाधि के विषय में कहीं जीवात्मा परमात्मा के वाक्य को ही मन की लयावस्था कही गई है। समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः[1]। किसी भी स्थिति में नित्यसमत्व भावनात्मक ध्येयाकारता समाधि है। इसी लिए तन्त्र में सर्वत्र ब्रह्म-भावना के साथ अपने को भेद मूलक संसारी न मानकर संसार में आत्मस्वरूप से अतिरिक्त कुछ नहीं है—यह समत्व, ऐक्य, अभेद की स्थिति समाधि है[1]। इस अवस्था की प्राप्ति से मनुष्य चराचर के कल्याण की दृष्टि से ही जीवन का उपयोग करता है, अतः राष्ट्र भावना एवं सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति ऊर्ध्वतम भूमि पर अवस्थित रहती है।

कुलार्णवतन्त्र के अनुसार—एकादश इन्द्रियों की अपने कार्य से विरति प्रदर्शन करते हुए अचल एकत्व भावना को समाधि कहा गया है। "न सुनता है, न सूंघता है, न स्पर्श करता है, न देखता है, सुख दुःख कुछ भी अनुभव नहीं करता है, सङ्कल्पहीन मन रहता है काठ के समान वह कुछ भी नहीं जानता है, ध्येय में विलीन आत्मावस्था समाधि है"।[2]

आचार्य अभिनवगुप्त ने समाधि का वर्णन करते हुए लिखा है—"जो काम की (कामना) अभिलाषा से सम्पन्न हैं वे देहात्मक इस वेदवाणी को स्वर्गफल से परिव्याप्त मानते हैं, जन्म और कर्म फल मानते हुए भेद भावना संश्लिष्ट समत्व से दूर ही रहते हैं, अतः वे विवेकी नहीं हैं। वेद को अपनी कल्पित वाणी के अनुरूप अभिप्रेत फल की प्राप्ति के लिए मानकर अपहृतचित्त हो व्यवसाय बुद्धि से युक्त जीवन व्यतीत करते हैं, वे समाधि की स्वरूप योग्यता भी नहीं रखते हैं, क्योंकि, नियत फल के अधीन ही वे रहते हैं, अंतः

---

१. तत्समं च द्वयोरैक्यं जो वात्मपरमात्मनोः।
प्रनष्टसर्वसङ्कल्पः समाधिः सोऽभिधीयते॥ (ह० प्र० ४।६)

२. ह० प्र० ४।५। यो० उ० १०६
कु० व० ६।१०–१४

सुख-दुःख-मोहात्मक बुद्धि से वैदिक कर्मों के अनुष्ठान में वे बन्धन में ही अपना जीवन–प्रवाह चलाते रहते हैं, किन्तु फलाभिलाषा से शून्य होने पर सम्प्रज्ञात समाधि सम्पन्न होने से वेद उनके लिए बन्धन का कारण नहीं होता है। जीवन युद्ध में वे आत्मानुग्रहशून्य होते हुए भी प्राणियों के प्रति अनुग्रह सम्पन्न हो लोक जीवन-यात्रा में तत्पर छ दोषों से मुक्त सुख-दुःख-मोह-शून्य निष्काम कर्म रत हो समत्व भावना सम्पन्न होने से वास्तविक समाधि में रहते हैं। फल की कामना के कालुष्य से परिव्याप्त रहने पर ही, कर्म फल के प्रति साधन होता है योग = समाधि में स्थित हो कर्म करे, क्योंकि साम्य ही योग है[1]। रागद्वेष रहित मुनि स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। उसको शुभ से प्रसन्नता और अशुभ से ताप नहीं होता है। इन्द्रियों को विषयों से खींचकर आत्मा में स्थिर करना ही योग या स्थिरप्रज्ञा है। उपसंहार में कहा है––योगी का लोकोत्तर व्यवहार रहता है, अन्धकार-रूपिणी माया के विषय में वह उद्‌बुद्ध रहता है कि कैसे इसका त्याग करे, क्योंकि वहाँ प्राणी अनेक कामनानुरूप चेष्टाओं में सुख दुःख मोह से अभिभूत होकर उनमें ही सतत रत रहता है, किन्तु नाम रूप एवं सुख सन्ततियों का अनादर कर योगी ज्ञान से सम्बुद्ध स्थिरप्रज्ञ प्रबुद्ध स्थिति में रहता है। वह कामनावश बाह्य विषयों की ओर गतिशील नहीं रहता है, अतः, निर्मम, निरहंकार निःस्पृह होकर लोकयात्रा निर्वाह करता हुआ शान्तिपूर्ण सन्तुष्ट जीवन यापन करता है, अविद्या हेय या कामना का अवसान होने से इसको मोक्ष या निर्वाण कहा जाता है। उपसंहार में असम्प्रज्ञात निर्विल्पक समाधि एवं माध्यमिकों के अनुसार शून्यता की यही स्थिति है।

षट्कर्मः––धौति, वस्ति, नेति, नौली, त्राटक कपालभाति ये छ कर्म हैं।

धौति चार प्रकार की है। अन्तःधौति, दन्तधौति हृद्‌धौति, मूलशोधनधौति इन से शरीर निर्मल होता है।

अन्तःधौति भी चार प्रकार की है––वातसार, वारिसार, अग्नि-सार, एवं बहिष्कृत।

वस्ति––जिस प्रक्रिया से वस्ति प्रदेश का शोधन होता है, उसे

---

१. गी० अभिनव व्या० पृ० ११९–१३२

वस्ति कहा जाता है, जलवस्ति और शुद्धवस्ति के भेद से यह दो प्रकार की है।

जलवस्तिः शुद्धवस्तिः वस्तिः स्याद्विधा स्मृता।
जलवस्तिं जले कुर्याच्छुकवस्तिं सदा क्षितौ॥ (घे० सं० १।४६)

लौलिकी या नौलीः—पेट को एक तरफ से दूसरी ओर आन्दोलित करना है, इससे सभी रोग दूर होते हैं और देहाग्नि वर्द्धित होती है।

नेतिः—एक वित्ता परिमित सूक्ष्म तागा लेकर नासिका के छिद्र में प्रवेश करे और इसको मुख से बाहर करे—यही नेति कर्म है। इसमें खेचरी सिद्धि होती है; तथा कफ दोष का नाश एवं दिव्यदृष्टि का लाभ होता है।

त्राटकः—नेत्र से जब तक पानी नहीं आता है, तब तक एक सूक्ष्म लक्ष्य को ओर पलक गिराये विना देखना त्राटक है। इससे शाम्भवी की सिद्धि होती है। सभी नेत्र रोगों का विनाश और दिव्यदृष्टि का लाभ होता है।

कपालभातिः—वामक्रम व्युत्क्रम, शीत्कर्म के भेद से कपालभाँति तीन प्रकार की है, उसके द्वारा दिव्यदृष्टि की प्राप्ति होती है।

वामक्रमः—वाँई नाक में ईडासे वायु भरकर दक्षिण नाक से रेचन करे अर्थात् पिङ्गला से रेचन करे। इस प्रकार पर्यायक्रम में पिङ्गला से धीरे-धीरे पूरक और ईडासे रेचन करे। इस योगाभ्यास से कफ दोष हटता है।[1]

व्युत्क्रमः—नाक से जल धींचकर धीरे-धीरे मुख से बाहर करे। इससे श्लेष्मा दोष नष्ट होता है।[2]

शीत्क्रमः—शीत्कार पूर्वक मुख से श्वास खींच कर नाक से बाहर करे। इस क्रिया से कामदेव के समान होता है, इस योगाभ्यास से वार्द्धक्य ज्वराधिक्य नहीं रहता है, इससे शरीर स्वच्छन्द एवं कफ दोष नष्ट होता है।[3]

---

१. घे० सं ६।५ २. घे० सं० १।५६

३. शीत्कृत्य पीत्वा वक्त्रेण नासानालैर्विरचयेत् एवमभ्यासयोगेन कामदेवसमो भवेत्। न जायते वार्द्धक्यं च ज्वरो नैव प्रजायते। भवेत्स्वच्छन्ददेहश्च कफदोषं निवारयेत्॥ (घे० सं० १।५०-५१)

हठयोग-प्रदीपिका एवं दत्तत्रेयसंहिता के अनुसार मेद और श्लेष्मा के आधिक्य रहने पर ही षट्कर्म का आचरण करे, अन्य व्यक्ति नहीं करे।

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत्।
अन्यस्तु नाचरेत् तानि दोषाणां समभावतः ॥[1]

कतिपय आचार्यों के अनुसार प्राणायाम के द्वारा ही सभी मलों का शोषण करे—यह माना है, आचार्य पतञ्जलि ने भी प्राणायाम से अतिरिक्त किसी अन्य कर्मों की आवश्यकता नहीं है—यही स्वीकार किया है।

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशम्यन्ति मला इति।
आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्यत्कर्म न सम्मतम् ॥[2]

आसनः—हाथ पैर आदि संस्थान विशेष को विशिष्ट रूप में रखना आसन है। हठयोगप्रदीपिका के अनुसार आसन हठयोग का प्रथम अङ्ग है। इनके अभ्यास से देह की स्थिरता आरोग्य और लघुत्व होता है। आसनों की चौरासी लक्ष संख्या कही गई है। इनमें चौरासी विशिष्ट है और इनमें भी बत्तीस का मुख्यतम स्थान है। यथा—सिद्ध, पद्म, भद्र, वप्र, स्वस्तिक, सिंह, गोमुख, वीर, धन, शव, गुप्त, मत्स्य, मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, पश्चिमोत्तान, उत्कट, सङ्कट, मयूर, कुक्कुट, कूर्म, उत्तानकूर्मक, उत्तानमण्डुक, वृक्ष मण्डुक, गरुड, वृष, शल, वृषभकर, उष्ट्र भुजङ्ग एवं योग। घेरण्डसंहिता में आसन के फलों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है।

मुद्राः—मुद्रा भी आसन के समान ही शारीरिक अवस्था विशेष है। प्रधान रूप से इन मुद्राओं का निर्देश मिलता हैं। महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जालन्धर, मूलबन्धन, महाबन्ध, महाबोध, खेचरी, विपरीतकरी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालनी, ताडागी, माण्डुकी, शम्भवी, पञ्चधारणी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी भुजङ्गिनी। इनके अतिरिक्त भी सुरभि, ज्ञान आदि मुद्रायें वर्णित हैं। इनके अभ्यास से योगियों को सिद्धि लाभ में सहयोग मिलता है।

हठयोग-प्रदीपिका के अनुसार महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धर, विपरीतकरिणी, वज्रोली, शक्तिचालनी ये दशायें वृद्धत्व और मृत्यु की नाशक है। "इदं हि

१. ह० प्र० २।२९ २. ह० प्र० २।३१

मुद्रादशकं जरामरणनाशकम्" मुद्रा का अभ्यास कुण्डलिनी के जागरण का प्रसारण हेतु है।

"तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।"
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥(ह.प्र ३।१२८)

चित्त की वृत्ति के निरोध का नाम योग या समाधि है। योग दो प्रकार का है, निर्विकल्पक योग और सविकल्पक योग। निर्विकल्पक योग की अवस्था में चित्त का ध्वंस होता है और असम्प्रज्ञात में पुरुष की स्वभाव में अवस्थिति होती है अर्थात् अपने स्वरूप में स्थिति रहती है, योगशास्त्र की दृष्टि में यही कैवल्य या मुक्ति है। स्तर स्तर पर प्रज्ञा के विकास के फलस्वरूप चित्त का विनाश होने पर मुक्तावस्था आती है। निम्नलिखित प्रज्ञाओं के फलस्वरूप क्रमशः चित्त का विनाश होता है--

१. दुःख के कारण भूत संसार का ज्ञान होना तथा उसको जानने के लिए कुछ शेष नहीं रहता है।
२. संसार के मूल कारण का उत्पाटन हो गया है, अब उसका उत्पाटन शेष नहीं है।
३. निरोध समाधि के द्वारा यह उत्पाटन कार्य हुआ है।
४. पुरुष और प्रकृति का भेद ज्ञात हो गया है, इस प्रज्ञा की उपलब्धि होने पर कतिपय तात्त्विक घटनायें होती हैं।
   ( क ) बुद्धि की पुरुषार्थता सम्पन्न होती है।
   ( ख ) चित्त नष्ट होकर प्रकृति के रूप में अवस्थित होता है।
   ( ग ) बुद्धि अपने गुणों के स्वभाव में परिणत होती है।

बुद्धि आदि एवं गुण पुरुष के प्रति योग और मुक्ति उत्पन्न करते हैं। पुरुषार्थ विरहित होकर कार्य-बुद्धि आदि और कारण-गुणत्रय का ( मूल प्रकृतिस्वरूप गुणत्रय का ) प्रतिलोम प्रश्रय या प्रतिपुरुष अर्थात् प्रकृति के रूप में अवस्थान को केवल का धर्म कैवल्य या मुक्ति कहा जाता है। स्वरूप प्रतिष्ठा अर्थात् बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्ब पुरुष में प्रतिबिम्बित न होकर पुरुष का अपने शुद्ध निर्लिप्त चिद् भाव में अवस्थान करता है। चिति शक्ति ही स्वरूप है। ("पुरुषार्थ-शून्यानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति"[१] ) प्रकृत में कैवल्य शब्द से पुनः उत्थान रहित विदेह कैवल्यावस्था है।

१. योग सू० कै० पा० ३४

कैवल्य अर्थात् चित् शक्ति की स्वरूपस्थिति अर्थात् द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थान--यही असम्प्रज्ञात योग है। यह कैवल्यरूपा चिति-शक्ति असंहत है। संहतशक्ति ही पुनः पुनः कार्य का उत्पादन करती है। चैतन्य मात्र स्वरूपिणी असंहता चिति शक्ति से उस प्रकार का कार्य कभी भी उत्पन्न नहीं होता है, इसीलिए वह केवला है ( चिति-शक्तिरेव केवला[1] )। इसका किसी भी समय बन्धन नहीं था समाधि की स्थिति में इसका मोक्ष भी किसी समय आविर्भूत नहीं होता है। बन्धन और मुक्ति इन दोनों से यह अतीत है। असम्प्रज्ञात योगावस्था ही मुक्ति है। असम्प्रज्ञात योग के लाभ होने पर पुरुष चितिशक्ति द्रष्टा के रूप में प्रतिष्ठित होती है। प्रथम पाद के तृतीय सूत्र का यही अभिप्राय है। यह अवस्था पुरुष की सर्वथा गुण के वियोग की अवस्था है, पुनः कभी भी गुणों के साथ सम्बन्ध नहीं होता है। गुण के साथ एकान्त अत्यन्त वियोग ही कैवल्य या द्रष्टा का स्वरूप योग है। ( "पुरुषास्यात्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यं तदा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुष इति"[2] ) सत्त्वपुरुषान्यताख्याति-रूप विवेक ज्ञान में भी विरक्ति आने पर अविद्या आदि क्लेशबीज समस्त मन के साथ विनष्ट हो जाते हैं तभी स्वरूप प्रतिष्ठारूप-मुक्ति होती है। ( तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।[3] ) कैवल्या-वस्था में अविद्या का अभाव होने पर प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध का अभाव होता है, यह आत्यन्तिक बन्ध्यत्व ही कैवल्य या स्वरूप प्रतिष्ठा है।[4] किसी-किसी ज्ञानी की जीवन दशा में ही आत्मख्याति की स्थिरता और मिथ्याज्ञान शून्यता आती है वे सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा का अनुभव कर कुशल होते हैं; चित्त का अत्यन्त लय होने पर पुरुष कुशल या मुक्त होता है। क्योंकि वह गुणातीत हो जाता है। ( सा. प्रा. व्या. भा. २७ ) प्रथम अवस्था जीवन्मुक्त है, द्वितीय कुशल विदेह मुक्त है, चित्त के लय से पूर्व जीवन्मुक्त अवस्था एवं शरीर के पात के साथ-साथ जब चित्त का भी लय हो जाता है तो इसको विदेह मुक्तावस्था कहा जाता है। कतिपय आचार्यों के मत में आनन्द या सुख प्रकृति का धर्म होने से कैवल्य में आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं रहती है। पुरुष का स्व-स्वरूप

---

१. व्यास भाष्य ३४ २. विभूतिपाद ५० व्या० सा०
३. वि० पा० ५० ४. सा० पाद २५

अवस्थान चैतन्य स्वरूप है, अतः चैतन्यमय अवस्था की स्थिति ही कैवल्य या मुक्ति है।

**समाधि का छ भेदः—**

| | |
|---|---|
| १. ध्यानयोग समाधि। | ४. लयसिद्धियोग समाधि। |
| २. नादयोग समाधि। | ५. भक्तियोग समाधि। |
| ३. रसानन्दयोग समाधि। | ६. राजयोग समाधि। |

ध्यानयोग समाधिः—योगी शाम्भवी मुद्रा से आत्मा का प्रत्यक्ष करता है, बिन्दु को ब्रह्ममय समझकर उसके मध्य में मन को निवेश करता है। उसके बाद 'ख' अर्थात् ब्रह्म ( 'ख' ब्रह्मेति: छा. उ. म. ४।१०।० ) मध्य में आत्मा को और आत्मा के मध्य में ब्रह्म का दर्शन करता है, इस स्थिति में आत्मा का ब्रह्ममय दर्शन करने के बाद किसी प्रकार की बाधा नही रहती है, योगी सदानन्दमय हो समाधिस्थ हो जाता है।[1]

नादयोग समाधिः—खेचरी मुद्रा की साधना से रसना=जिह्वा के ऊर्ध्वगत होने पर समाधिसिद्धि होने से साधारण क्रिया का प्रयोजन नहीं रहता है।[2]

रसानन्दयोग समाधिः—धीरे-धीरे वायु को पूर्ण कर भ्रामरी कुम्भक करने के बाद धीरे-धीरे वायु का रेचन करना होता है, इस स्थिति में भ्रमर गुञ्जन होता है, अन्दर में भ्रमर का गञ्जन सुनकर उसमें मनको निविष्ट करने पर समाधि होती है एवं सोऽहं ज्ञान एवं परमानन्द लाभ होता है।[3]

---

१. शाम्भवीं मुद्रिकां कृत्वा आत्मप्रत्यक्षमानयेत्।
बिन्दुब्रह्ममयं दृष्ट्वा मनस्तत्र नियोजयेत्॥
खमध्ये कुरु आत्मानमात्ममध्ये च खं कुरु।
आत्मानं खमयं दृष्ट्वा न किञ्चिदपि बाधते॥
सदानन्दमयी भूत्वा समाधिस्थो भवेन्नरः॥ ( घे० सं० ७।७—८ )

२. साधनात् खेचरीमुद्रा रसोर्ध्वगता यदा।
तदा समाधिसिद्धिः स्याद्धित्वा साधारणक्रियाम्॥ ( घे० सं० ७।९ )

३. अतिः मन्दवेगेन भ्रामरी कुम्भकं चरेत्।
मन्दं मन्दं चरेद् वायुं भृङ्गनादः ततो भवेत्॥
अन्तःस्थं भ्रामरीनादं श्रुत्वा तत्र मनोनयेत्।
समाधिर्जायते तत्र आनन्दः सोऽहमित्यतः॥ ( घे० सं० ७।९० )

लयसिद्धियोग समाधिः--योगी योनिमुद्रा का अवलम्बन कर स्वयं शक्तिमय होता है एवं परमात्मा के साथ शृङ्गार रसमय विहार करता है, इस प्रकार आनन्दमय ब्रह्म के साथ ऐक्य अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान होता है।[1]

भक्तियोग समाधिः--साधक अपने हृदय में भक्ति-प्रवण हो परमानन्दमय इष्टदेवता के स्वरूप का ध्यान करे, ध्यान के फल-स्वरूप रोमाञ्च, अश्रुपात आदि होता है और क्रमशः समाधि एवं मनोन्मनी अवस्था को प्राप्त करता है।[2]

राजयोग समाधिः--मनोमूर्च्छा नामक कुम्भक कर मन को आत्मा में संयुक्त करे, परमात्म- संयोग होने से ही यह समाधि होती है।[3]

राजयोग समाधि ही योगसूत्र की सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि है। वेदान्त की सविकल्प और निर्विकल्प समाधि भी यही है। सविकल्प और सम्प्रज्ञात में ध्याता, ध्यान, ध्येय, ज्ञाता, ज्ञान ज्ञेय ये तीन पदार्थ भासमान होते हैं और निर्विकल्प या असम्प्रज्ञात में तीनों का लय होकर स्वस्वरूप में अवस्थिति होती है वाराहोप-निषद् के भाष्य में ब्रह्मयोगी ने इस योग को लययोग का साधन कहा है। क्षेत्र और परमात्मा का ऐक्य या स्वरूपावस्थान ही लय-योग है।

योग की प्राचीनता:--महेञ्जोदाडो के ध्वंसावशेष में एक योगी की मूर्ति है। ( Plxeviii ) अनेकत्र योगभङ्गी में दण्डायमान देव-

---

१ योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत्।
सुशृङ्गाररसेनैव विहरेत्परमात्मनि॥
सदानन्दमयो भूत्वा ऐक्यं ब्रह्मणि सम्भवेत्।
अहं ब्रह्मेति चाद्वैतं समाधिस्तेन जायते॥ (ध्रे० सं० ८।१२।१३)

२. स्वकीयहृदये ध्यायेदिष्टदेवस्वरूपकम्।
चिन्तयेद् भक्तियोगेन परमाह्लादपूर्वकम्॥
आनन्दाश्रुपुलकेन दशाभावः प्रजायते।
समाधिः सम्भवेत्तेन सम्भवेच्च मनोन्मनी॥ ( ध्रे० सं० ८।१४।१५ )

३. मनोमूर्च्छां समासाद्य मन आत्मनि योजयेत्।
परात्मनः समायोगात् समाधिं समवाप्नुयात्॥ ( ध्रे० सं० १।१६ )

मूर्तियाँ हैं। ( Pls, exvi 29 and exviii, ii ) एक भङ्गी में योगी की कायोत्सर्ड भङ्गी उपलब्ध है। वायु पुराण में वर्णित पाशुपात-योग मुद्रा से इसकी समता है।[1]

ऋग्वेद में वायुरूपता की प्राप्ति आकाशपथ से गमन, समस्त विश्व के सभी रूप्य पदार्थों को अपने तेज से देखता रहता है। अतीन्द्रिय पदार्थदर्शी इस व्यक्ति का आहार वायु रहता है, यह वायु के मित्र और द्योतमान वायु के द्वारा ये वायुरूप होते हैं। अतीन्द्रिय पदार्थदर्शी कपिलवर्ण का मलिनवस्त्र धारण करता है तप की महिमा से दीप्यमान होकर देवतास्वरूप में प्रवेश करता है। यहाँ मुनयः यह बहुवचन का प्रयोग होने से अनेक मुनि हैं।

"मुनयो वातरशनाः पिशङ्ग वसते मला।
वास्याणुध्राजि यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥"
( [2]१०।१३६।२ )

उपनिषदों में भी इसकी परिपूर्ण चर्चा उपलब्ध है। श्वेताश्वतर ( २।८, २।९ ) एवं कठोपनिषद् का ( २।३।१०, २।३।११, १।३।६ ) द्रष्टव्य है।

तन्त्र आदि में भी इसका विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।

बुद्ध के समय में योगसाधना पूर्ण रूप से प्रचलित थी, वे स्वयं योगसाधना करते थे। अपने समय के योगियों की वे निन्दा करते थे किन्तु अपने शिष्यों को योगसाधना का उपदेश देते थे। बौद्धधर्म की प्रतिष्ठा में योगदर्शन का प्रचुर प्रभाव सुव्यक्त है।

आज तो असंख्य योगी एवं असंख्य योग केन्द्र है। वास्तविक योगी कितने हैं–यह भगवान् ही जानता है।

तन्त्र में कुण्डलिनी जागरण के लिए एकमात्र योग ही सहायक है।

**भारतीय दर्शन में योग :—**

वैदिक ऋचाओं के अनेक स्थलों में योग का विश्लेषण उपलब्ध है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के अट्ठारहवे रूक्त में लिखा है कि कोई भी क्रियायें विना योग के सिद्ध नहीं होती हैं। "यस्मादृते न सिध्यन्ति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति।" ( ऋ.

१. R. I. P. 301–334.

२. ऋ० १०।१३६।४, ५, ७।

१।१८।७ ) इसी की छाया गीता के "योगः कर्मसु कौशलम्" पद्य में उपलब्ध है।

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' यो० सू० १।१७ इस सूत्र का मूलाधार "स धा नो योग आ भुवत् स राये स पुरन्ध्याम्। गमद् वाजेभिरा स नः"। ( ऋ. १।५।४, साम ३०१।२।१०३ अथर्ववेद २०।६९१ ) में मिलता है ( ईश्वर की कृपा से समाधि की प्राप्ति होती है )। मुझे उसका सन्निधान प्राप्त हो। इतना ही नहीं ईश्वर प्रणिधान के लिए वेद में अनेक मन्त्र उपलब्ध हैं प्रत्येक समाधि में ऐश्वर्य सम्पन्न इन्द्र का आह्वान करे। "योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहेसवाय इन्द्र भूतये"। ( ऋ. १।३०।७ ) इन मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि संहिता भाग से चलती हुई योग धारा ने उपनिषद् युग में पुष्पित-पल्लवित होकर अनेक योगों के आधार पर सूक्ष्मतम समाधि से स्वरूप प्रतिष्ठा का मार्ग प्रशस्त किया।

आत्म ज्योतिः के आनन्दमयकोष, विज्ञानमयकोष, मनोमयकोष, प्राणमयकोष, और अन्नमयकोष आवरण के रूप में है इन कोषों के कारण ही प्रकृति के सूक्ष्म और स्थूल तत्त्वों के प्रतिबिम्बन से राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि का आत्मा में आरोप होता है।

योग सभी दर्शनों के साथ अक्षुण्ण रूप से उपलब्ध होता है। यही कारण है कि सामान्य दार्शनिक मान्यताओं के खण्डन होने पर पर भी योग की मान्यतायें सर्वत्र स्वीकृत है।

आस्तिक दर्शनों के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वेदमूलक होने से वहाँ विरोध की सम्भावना ही नहीं है, नास्तिक दर्शनों के साथ भी योग का अनिवार्य सम्बन्ध है।

जैन दर्शन में कर्मपुद्गलों के आश्रव के अवरोध के विना कर्म-पुद्गलों का क्षय सम्भव नहीं है। ज्ञान ही इनका प्रधान कारण है, अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र इन तीनो रत्नों का अनुष्ठान आवश्यक है। सम्यग्दर्शन आत्मा के स्वरूप प्रतिष्ठा का है। इसके द्वारा जीव, आजीव आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का यथार्थ ज्ञान होता है।

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"। ( मोक्षशास्त्र १।१ )

संयम और तप के विना आश्रव का निरोध और सञ्चित कर्मों

का विनाश नहीं हो सकता है और इनके विनाश के विना आत्मा की शुद्ध अवस्था नहीं आ सकती है।

"संजमएण भन्ते, जीवे किम जणयइ ? संजमएण अण्णहएत्तं जणयइ। तवेणं मन्ते, जीवे किं जणयइ ? (उत्तराध्ययन २९, २६-२७)

बौद्ध दर्शन में सम्यग्दर्शन के ही अर्थ में सम्यग्दृष्टि (सम्मादिती) मानी गई है[1] जागतिक दुःखों की प्रकृति को जानकर सत्कायदृष्टि आदि से विभूति होती है। बौद्ध दृष्टि से यह सम्यग्ददृष्टि ही प्रज्ञा है। प्रतीत्यसमुत्पाद आदि प्रज्ञा की भूमि है। क्रमशः अनित्य दुःख और अनात्म ज्ञान से विपस्सना आती है और जो प्रज्ञा का मार्ग और लोकोत्तर समाधि है। इसके द्वारा दिव्यचक्षुः दिव्यश्रोत्र, चेतः-पर्यायज्ञान, पूर्वानुस्मृति-ज्ञान-च्युत्युत्पादज्ञान और आश्रवक्षयज्ञानरूप षडभिज्ञा उत्पन्न होती है। शब्दान्तर से जैनदर्शन में भी इन्हें स्वीकार किया गया है। मनःपर्यायज्ञान चेतः पर्याय ज्ञान है। यह पूर्वानुस्मृति और केवलज्ञान के अन्तर्गत है।

किन्तु सम्यग्ज्ञान का सम्यक् चरित्र के विना रहना सर्वथा निष्प्रयोजन है। सम्यक् चरित्र महाव्रत और अणुव्रत के भेद से दो प्रकार का है। अहिंसा, सत्य आदि बारह व्रत इसके लिए कहे गये हैं। इनसे अतिरिक्त पञ्च समितियों का पालन, इन्द्रियों पर विजय-प्राप्ति समता आदि षडावश्यकों का अनुष्ठान करना है। इन सभी अनुष्ठानों के बाद समाधि के आलम्बन के विना परमपद अर्थात् स्वरूप प्रतिष्ठा सम्भव नहीं है।

सर्वार्थतैकाग्रतपः समाधिस्तु क्षयोदयौ।
तुल्यावेकाग्रता शान्तोदितौ च प्रत्ययाविह ॥

कर्मविजय, भावनोपलब्धि, ध्यानसिद्धि, ( अ. रा. को. ख. ७।पृ. ४ ) समत्व प्राप्ति के साथ सर्वज्ञत्व प्राप्ति सोपान क्रम में होती है। सम्यग्दृष्टि ही योग का परम चरम लक्ष्य है।

बौद्ध दर्शन में भी शील समाधि एवं प्रज्ञा का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। कुशलचित्त की एकाग्रता ही समाधि है। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रज्ञा पारमिता की प्राप्ति अपेक्षित है और इसके लिए दश भूमियों को पार करना पड़ता है इस प्रकार जैन और 'बौद्ध

---

१. बुद्धवचन पृ० २१

साधना शुद्ध योग साधना है'—यह कहना अनुचित नहीं है। जैन के समान ही अष्टाङ्ग मार्ग में प्रज्ञा, शील और समाधि इन तीन रत्नों को यहाँ भी माना गया है।

एकालम्बन रूप एकाग्रता हीं बौद्धो की समाधि है। यह एकाग्रता अभिन्नालम्बन स्वरूपा है। यह अभिन्न आलम्बन स्वरूप प्रतिष्ठा से अतिरिक्त नहीं हो सकती है।

प्रसादपूर्ण चित्त की समाधि ही सफल होती है।

"सुखिनो चित्तं समाधियतीति वचनतो पन सुखमस्स पदट्ठान[1]।

बुद्धमार्ग की दिशा में अविच्छिन्नरूप से चित्त का एक आलम्बन के आश्रयण की मनोवृत्ति जब होती है तब समाधि होती है[2]। योग एवं गीता की दृष्टि से विश्लेषण करने से इस अर्थ का स्फुट परिष्कार मिलता है। अभिधर्मकोषभाष्य के अनुसार स्वरूप प्रतिष्ठान से भिन्न समाधि नहीं हो सकती है। एकाग्रता का विवरण देते हुए लिखा है कि "एकालम्बन चित्त ही समाधि है चित्त का धर्मान्तर समाधि नहीं है। चित्त ही समाधि नहीं है, जिससे एकाग्रता होती है वह धर्म समाधि है[3]। स्फुटार्था में भी इसी अर्थ को कहा है। फलतः योग और समाधि अभिन्न है। और द्रष्टा के स्वरूप की प्रतिष्ठा है। अन्य धर्म की प्राप्ति सिद्धान्त विरोध के कारण सम्भव नहीं है। इस प्रकार योगप्रस्थान का सर्वत्र समादर है। भारतीय साधना में योग के साहाय्य की प्राप्ति के बिना साध्य की प्राप्ति हो ही नहीं सकती है। चित्त की एकाग्रता ही बहिरंग साधन प्रणाली से विमुक्त कर अन्तरङ्ग एकाग्रता का सम्पादन कर बोधको विषम विश्व से उन्मूलन कर समत्व की भूमि पर अवस्थित कराती है।

यह सत्य है कि अनादि अविधा के कारण मानव मन स्वभावतः बहिर्मुख रहता है। इसको अन्तर्मुख करने के लिए सक्रिय चेष्टा ही प्रथम योग है। यह योग एकग्रता के द्वारा बहिरङ्ग प्रवृत्तियों से

---

१. विशुद्धि मग्गो पृ० १८१

२. अविच्छिन्नरूपेण चित्तस्यैकालम्बेन प्रवृत्तिः समाधिः। अभि० को० पृ० ३०१

३. केयमेयकाग्रता नाम? एकालम्बना। एवं तर्हि चित्तान्येवैकालम्बनानि समाधिर्न चैतसिकं धर्मान्तरमिति प्राप्नोति। न चित्तान्येव समाधिः। येन तु तान्येकाग्राणि वर्तते स धर्मः समाधिः। अभि० भा० पृ० ४३२

निरुद्ध होता है और अन्त में स्वसत्ता में अवबुद्ध प्रकाश से समग्र विश्व उद्भासित होता है और इससे लोक के प्रति करुणा और कल्याण कामना उद्‌बुद्ध होती है, अहंशून्यता अस्मिता में परिणत होती है। अस्मिता भूमि में ज्योतिः स्वरूप प्रज्ञा का प्रोल्लास होता है। विभूतियों की दीप्ति में भूतों के जय से कायसम्यत् समृद्ध होता है। मधुमती भूमिका के साथ भूमासाक्षात्कार तथा भोग वितृष्णा रूप विवेक ख्याति होती है।

भारतीय सभी साधनाओं का मूल-लक्ष्य भेद में अभेद दर्शन ही है। एक तत्त्व में अवस्थान करना ज्ञान विचार का प्रधान कार्य है। वेद से लेकर सभी दर्शनों में अध्यात्म और अधिभूत Subjeet and objest रूप द्वैतदर्शन का एकतत्त्व में ले जाने का मार्ग दर्शन ही है। बुद्धि तत्त्व की द्विधा अभिव्यक्ति Moral and natural lawi' नैतिक और प्राकृतिक रूप में होती है। अद्वयपुरुषोत्तम की 'यही भूमिका है। प्रकृति भूमि भावमयी भूमि में प्रकाश लाभ करती है। भावभूमि ज्ञानभूमिक्रम में पुरुषस्य या चेतन स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है।'

बाह्य जगत् में धर्म का आधान बुद्धि के द्वारा होता है। intellect अर्थात् बुद्धि ही इस दिशा से कर्तव्य का ज्ञान कराती है। कर्तव्य में निहित गुप्त प्रेम निर्झरिणी की दिशा hidden spring of love उद्‌भूत होती है, moral conciousness अर्थात् कर्तव्य विवेक का विकाश प्रेम में परिणत होता है यह प्रेम ही प्रज्ञा का स्वरूप अवलम्बन करता है। इस विचार और प्रज्ञा intellect and intuition का मूल अद्वय पुरुष रूप स्वरूप प्रतिष्ठा है।

ज्ञान की प्रथम किरण दृष्टिपथ में आने पर मन में बोध होता है कि यह बाहर की है और इसी से वस्तु परिचालित है। किन्तु दैहिक क्रिया की अवगति के साथ यह विश्वास होता है—यह शक्ति अन्तर्निहित ही है। Immanent Dynamices की धारणा अर्थात् conceptien उद्‌भूत होता है। स्वाभाविक गति का अनुसन्धान होते ही सर्वानुस्यूत चेतनशक्ति का स्पन्दन होता है। इसी क्रम में intelligent direction upon an end का बोध होता है। विश्व की ज्ञानचालित के रूप में अनुभूति होती है और अन्त में ज्ञान भी चेष्टाशून्य स्वतः उद्भासित सहज प्रकाश रूप में अवगत स्वरूप प्रतिष्ठित होता है।

प्रत्येक भूमि में रसास्वादावस्था रहती है। एक भूमि अन्य भूमि में जाने की सोपान परम्परा है। आनन्दाकार में परिणत जीव को सीमा से दूर सर्वभाव में उपस्थित करता है सङ्कीर्णता की भूमि से छुड़ाकर अर्थात् Particularity के region से अलगकर universalty भूमा के राज्य में प्रतिष्ठित करता है। कर्म भक्ति या ज्ञान इस सत्त्व समाधि में आकर विघ्न-द्वन्द्व-शून्य हो समता और स्वच्छन्दता सुख की भूमि में रहता है। समाधि nere trance state शुद्ध मूर्च्छाभाव नहीं है यह absorption into concentrated thought गम्भीर अनुभूति है। इसे परमविचार, परमप्रेम, परमज्ञान का समष्टिभूत फल कह सकते हैं। यह वही भूमि है जहाँ धारणा thorought understanding and firm fixity of attention ध्यान deep meditation एवं समाधि absorbed attention इनका पुञ्जीभूत होता है। यह धृतिगृहीत ज्ञान को प्रीतिगृहीत ज्ञान के रूप में परिपूर्णता का लाभ करता है। इस समाधि के फल स्वरूप ही प्रज्ञा intuition का उदय होता है यह भावना विशेष developed reason है, मन की सभी सत्यशक्ति इससे नियोजित होती है। यही कारण है कि यह मन को शुद्ध विचार Pure thought के राज्य में, सत्यज्ञान Pure ideation के राज्य में शुद्धभावना की भूमि में अवस्थित रखता है। योग की इस समाधि में कर्म ज्ञान और भक्ति भी अवसान लाभकर योग संज्ञा प्राप्त करते है। पातञ्जल की दृष्टि में आकार शून्य स्वरूप मात्र निर्भास अवस्था है। इस स्थिति में ज्ञान को जीवकी स्मृति या संस्कार contribvte आरोपित होकर अन्यथा अनुरञ्जित नहीं कर पाते हैं। सर्वथा स्वरूप अवस्थिति शब्दान्तर से ब्रह्मार्पण या ब्रह्महवि है। इस अवस्था में जीव न तो इन्द्रियार्थो में न शरीरसुखावह कर्मों में प्रवृत्त होता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते तब निष्काय नि.स्पृह विजितेन्द्रिय, अध्यात्म चेता के रूप में समत्व की भूमि में अवस्थित लोककल्याण भावना से प्रवृत्ति करता है इसे कुण्डलिनी को जगाकर सुषुम्णा में प्रवेश कराकर ब्रह्मरन्ध्रभेदन भी कह सकते है। कुण्डलिनी तेजोरूप है। यह अद्वैत भाव की प्राप्ति है। अतः अद्वय प्राप्ति समत्व की भूमि पर अवस्थिति ही योग है और तन्त्र में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान शारदातिलक में माना गया है।

## प्रत्यभिज्ञा दर्शन

भारतवर्ष में शैव, शाक्त, वैष्णव, पांचरात्र, सौर गाणपत प्रभृति जो उपासक सम्प्रदाय विद्यमान हैं, उनमें शैव सम्प्रदाय समधिक प्राचीन है। आसमुद्र हिमाचल भारतवर्ष के सभी प्रान्तों में शिवोपासक सम्प्रदाय परिव्याप्त है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक उपनिषद्—सभी प्राचीन ग्रन्थों में शिव का महत्त्व विशेष रूप से वर्णित है।

पशुपतिमतस्य वेदविरोधादसामंजस्याच्चानादरणीयतोच्यते।
तन्मतानुसारिणश्चतुर्विधाः।
कापालाः कालामुखाः पाशुपताः शैवाश्चेति।
( श्री भा० पृ० ५६२ )

लोक परम्परा में प्रसिद्धि है कि प्राचीन काल में शिवोपासकों के भीतर केवल पाशुपत सम्प्रदाय ही विद्यमान था। महाभारत में पाशुपत शैव छोड़कर और किसी सम्प्रदाय के नाम का उल्लेख नहीं मिलता है। श्रीभाष्य २,२,३५ सूत्र में शिवोपासकों को चार सम्प्रदाय में विभक्त किया गया है :—

( १ ) कापाल ( २ ) कालमुख ( ३ ) पाशुपत ( ४ ) शैव

शांकर भाष्य के टीकाकार वाचस्पति मिश्र एवं गोविन्दानन्द ने चार प्रकार के शैव सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। भामती ग्रन्थ में वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि परमेश्वर-उपासक सम्प्रदाय का चार भागों में विभाग किया जा सकता है।

( १ ) शैव ( २ ) पाशुपत ( ३ ) कारुणिक ( ४ ) कापालिक

ये चारों सम्प्रदाय महेश्वर प्रणीत सिद्धान्त के अनुयायी हैं। इसलिए इन लोगों को माहेश्वर कहा जाता है।

माहेश्वराश्चत्वारः शैवाः पाशुपताः कारुणिकसिद्धान्तिनः कापालिकाश्चेति चत्वारोऽप्यमी महेश्वरप्रणीतसिद्धान्तानुयायितया माहेश्वराः। ( भा० वे० क०, पृ० ५६५ )

गोविन्दानन्द ने भी लिखा है कि चार प्रकार के माहेश्वर के उपासक चार सम्प्रदायों में विभक्त है :—( १ ) शैव ( २ ) पाशुपत ( ३ ) कारुणिक सिद्धान्ती ( ४ ) कापालिक। आनन्द गिरि ने भी इन चार सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। माधवाचार्य प्रणीत सर्वदर्शनसंग्रह में शिवोपासक सम्प्रदाय में चार प्रकार के दर्शन प्रस्थानों

का निर्देश किया गया है :—( १ ) लकुलीश ( नकुलीश ) पाशुपत दर्शन ( २ ) शैव दर्शन ( ३ ) प्रत्यभिज्ञा दर्शन (४) रसेश्वर दर्शन। भारत वर्ष में जो उपासक है, उन सभी उपासक सम्प्रदायों के जो मूलभूत ग्रंथ हैं, वे एक दार्शनिक सिद्धान्त के ऊपर सुप्रतिष्ठित हैं। पाश्चात्त्य दर्शन कल्पनाविलास मात्र है, किन्तु भारतीयदर्शन उससे सर्वथा विलक्षण है। भारतीय दर्शन उपासना के ऊपर प्रतिष्ठित है एवं पक्षान्तर में उपासनाप्रक्रिया भी दार्शनिक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित है। इसलिए भारतवर्ष में शैव सम्प्रदाय के दार्शनिक प्रस्थान का प्रकारान्तर से भी विभाजन किया जा सकता है।

चत्वारो माहेश्वराः शैवाः, पाशुपताः कारुणिकसिद्धान्तिनः कापालिकाश्चेति सर्वे ऽप्यमी महेश्वरप्रोक्तागमानुगामित्वान्माहेश्वरा उच्यन्ते। ( शा० भा० प्र० पृ० ४८८ )

शैवाः पाशुपताः कारुणिकसिद्धान्तिनः कापालिकाश्च।
(स० द० सं० पृ० १६१–२०६)

(१) वीर शैव दर्शन–यह दक्षिण एवं कर्णाटक में प्रचलित है।

(२) शैव सिद्धान्त–इसने तमिलनद में अधिक प्रसार लाभ किया है।

(३) प्रत्यभिज्ञा दर्शन अथवा शिवाद्वैत दर्शन–यह काश्मीर में समादृत हुआ है। पूर्वोक्त तीन प्रकार के दार्शनिक प्रस्थानों में मूल सिद्धान्त के विषय में पारस्परिक ऐक्य एवं भेद विद्यमान है।

इस तान्त्रिक प्रबन्ध में मेरा आलोच्य विषय प्रत्यभिज्ञा-दर्शन है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन काश्मीर में ही प्रधान रूप से विकसित हुआ है। इसके नाम पर ध्यान देने से ही इसका अर्थ भी स्पष्ट हो जायगा। जीव शिवरूप है। यही शिव माया निर्मित पांच प्रकार के कंचुकों के द्वारा आवृत होकर अपने को संसार बंधन द्वारा बद्ध समझता है। यही परमेश्वर शिव स्वयं अकृत्रिम (अहम् अहम्)–इस प्रकार ज्ञान रूप में निरन्तर प्रकाशमान रहने पर भी माया शक्ति के द्वारा संकुचित होकर पुरुष संज्ञा लाभ करता है। माया मोहित होकर, कर्म-बन्धन जन्म-मरण रूप संसार में आबद्ध हो जाता है। जो सर्व कर्त्ता है, जो सर्वज्ञ है, जो पूर्ण है, जो व्यापक है––इस प्रकार शक्तिसम्पन्न होने पर भी मायाजनित कंचुक के द्वारा इसकी पूर्वोक्त शक्ति संकुचित हो जाती है जिसके कारण वह कला, विद्या, राग, काल, नियति के रूप

में भासमान होता है। परम शिव के पूर्वोक्त स्वरूप का आवरक होने से इन पांचों का कंचुक नाम से उल्लेख किया जाता है। परम शिव अपने क्रीड़ारस में मग्न होकर अपने से अभिन्न मायिक कंचुक के द्वारा संकुचित होकर अपने को पूर्वोक्त प्रदर्शित रूप में परिच्छिन्न समझता है। परन्तु तत्त्वज्ञान के उदय से जीव जब अपने को परम शिव रूप में प्रत्यभिज्ञा करता है। भारतीय दर्शन में प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में प्रत्यभिज्ञा शब्द विशेष अर्थ का द्योतक है। किसी समय में दृष्ट पदार्थ का कालान्तर में प्रत्यक्ष होने से दोनों में जो ऐक्य प्रतीति होती है–यही प्रत्यभिज्ञा का विषय है। एक दृष्टान्त ग्रहण करने से ही सभी विषय स्पष्ट हो जायगा। पूर्व दृष्ट देवदत्त का कालान्तर में प्रत्यक्ष करने से इस प्रकार की प्रतीति होती है–– सोऽयं देवदत्तः–वही यह देवदत्त है। इस सिद्धान्त में सः अर्थात् तत् शब्द का एक वचन, परोक्ष अर्थ का एवं अयम् अर्थात् इदम् शब्द का एक वचन, अभेद का द्योतक है। इन दोनों के द्वारा तत्ता विशिष्ट के साथ इदन्ता विशिष्ट का अभेद भासमान होता है। प्रत्यभिज्ञा का कारण संस्कार सहकृत इन्द्रिय है। भारतीय दर्शन के किसी भी प्रामाणिक ग्रंथ को उलटने से प्रत्यभिज्ञा शब्द दृष्टि में आ जायगा। आस्तिक दार्शनिकों ने प्रत्यभिज्ञा का अवलम्बन करके ही बौद्धों के क्षणभंगवाद का निरास किया है। एकत्व होने से वह पुनः अकृत्रिम अहम्––इस प्रकार विमर्श (ज्ञान) रूप में भासमान होता है। शिवोऽहम्–यही निरवच्छिन्न एवं निराधार विमर्श जीव को, परमशिवरूपता लाभ करने पर उत्पन्न होता है। जीव का विस्मृत परम शिवरूप में प्रत्यभिज्ञान ही इस दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इसीलिये इस दर्शन को प्रत्यभिज्ञा दर्शन कहा जाता है।

जीव जब परमेश्वर है, जीव का पारमैश्वर्य जब स्वाभाविक है, तब जीव को परमेश्वर रूप में पुनः प्रत्यभिज्ञान करने का प्रयोजन क्या है?

लोक में देखने में आता है कि मृत्तिका, सलिल पवनादि प्रभृति सहकारी कारणों का समवधान होने से अज्ञात होकर भी बीज को उत्पादन करती ही है। इसी प्रकार जीव स्वयं ईश्वर स्वरूप है–– ईश्वर के साथ अभिन्न है। इस रूप से अज्ञात होने पर भी जीव का नित्य मुक्त होना उचित है। क्योंकि जीव तो वस्तुतः ईश्वर स्वरूप है। यह तो नहीं कहा जा सकता है कि यह सहकारी सलिल

पवनादि रहने पर भी बीज अप्रत्यभिज्ञात रहने से अंकुर उत्पन्न नहीं करेगा। इसलिये आत्मा को शिव रूप में प्रत्यभिज्ञान करने के लिये प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आचार्यगण आग्रह कर रहे हैं। वस्तुतः इस प्रश्न का उत्तर एक रहस्य ही है। लोक में दो प्रकार की अर्थ-क्रिया देखने में आती है। अर्थ शब्द का अर्थ है प्रयोजन या फल अर्थ क्रिया का अर्थ है प्रयोजन या फल निष्पत्ति, यहाँ भी प्रयोजन भूत-क्रिया को ही अर्थ-क्रिया कहा गया है। यह अर्थ-क्रिया बाह्य एवं आन्तर भेद से दो प्रकार की होती है। बीज की अर्थ-क्रिया अंकुर का उत्पादन रूप है–यह बाह्य अर्थ-क्रिया है। पुत्र जन्मादि से आनन्द उत्पादन रूप जो अर्थ-क्रिया निष्पन्न होती है–वह आन्तर अर्थ-क्रिया है। यह आन्तर अर्थ-क्रिया प्रमाता जीव में ही विश्रान्त होती है। इससे आगे अर्थ-क्रिया नहीं बढ़ती है। यही उसका विश्रामधाम है। यह प्रतीतिरूप है। इस प्रतीतिरूप आन्तर अर्थ-क्रिया में चमत्कार ही सार अर्थात् प्रधान है। इसमें जो प्रथम प्रकार बाह्य अर्थक्रिया प्रदर्शित की गई है उसमें प्रत्यभिज्ञान का कोई प्रयोजन नहीं है। परन्तु द्वितीय प्रकार जो आन्तर अर्थक्रिया है उसमें प्रत्यभिज्ञान की अपेक्षा है। पुत्र-जन्मादि का श्रवण करके ही जीव आनन्द लाभ करने में समर्थ होता है। पुत्र-जन्मादि विद्यमान रहने पर भी अज्ञात रहने से आनन्द उत्पादन रूप क्रिया का निष्पादन नहीं कर सकता है। इसलिए आन्तर अर्थ-क्रिया में प्रत्यभिज्ञान अपेक्षित होता है। प्रकृतस्थल में भी यही समझना चाहिये। इसलिये प्रकृतस्थल में भी प्रत्यभिज्ञा की अपेक्षा रहती है। इस प्रसंग का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है। परसिद्धि रूप मोक्ष एवं अपरसिद्धि रूप अभ्युदय का स्वरूप प्रत्यभिज्ञा दर्शन में स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है। यह प्रत्यभिज्ञान परसिद्धि का निमित्त है। जीवात्मा के साथ परमशिव का अभेद ज्ञान से जो अर्थक्रिया निष्पन्न होती है, वह अर्थ-क्रिया शक्ति की पूर्णता सम्पादन रूप में पर्यवसित होती है। इस पूर्णता सम्पादन अर्थ-क्रिया में, मैं ही ईश्वर हूँ···इस प्रकार ज्ञान का अवलम्बन कर जो आनन्द होता है वही आनन्द प्रधान है। आशय यह है कि अर्थक्रिया ही जीवात्मा के साथ परमशिव का एकत्व ज्ञान एवं क्रियाशक्ति स्वरूप चैतन्य की पूर्णता का सम्पादन कर अपरिच्छिन्न आनन्द का अभिव्यंजक होती है। जीवात्मा के साथ परम शिव का

ऐक्य ज्ञान होने से ही चैतन्य की पूर्णता अभिव्यक्त होती है। जीव एवं शिवरूप का भेद ज्ञान सर्वथा मायिक है। माया शक्ति के प्रभाव से ही जीव, ज्ञान-इच्छा, क्रिया—इन तीन प्रकार की पूर्ण शक्तियों के अधिष्ठान परम शिव से अपने को भिन्न समझता है। परम शिव के साथ जीव का अभेद प्रत्यभिज्ञान हो जाने के बाद जीव भी पूर्वोक्त तीन प्रकार की शक्तियों के द्वारा अपने को शक्तिमान है यह अवगत करता है। अतः प्रदर्शित कारण से प्रकृतस्थल में स्वरूप प्रत्यभिज्ञान अपेक्षणीय है। इसमें प्रश्न होता है कि प्रमाता में ही विश्रान्ति लाभ करना अर्थात् प्रमाता का अपने को परमशिव के साथ अभिन्न समझना—जो अर्थ-क्रिया है, वह प्रत्यभिज्ञान नहीं होने से पूर्वोक्त अभेद ज्ञान से नहीं होता है किन्तु प्रत्यभिज्ञान होने से होता है यदि यह कहे कि यह कहां देखा गया है? इसके उत्तर में प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आचार्य ने एक लौकिक दृष्टान्त का उपस्थापन किया है।

किसी नायक के गुण राशि का श्रवण कर किसी नायिका के अनुराग की वृद्धि होती है। बाद में वह नायिका विरह क्लेश सहन करने में असमर्थ होकर पत्र के द्वारा अपनी अवस्था का निवेदन करती है। इसके बाद अतिशय द्रुतगति से नायक के समीप गमन करने एवं नायक का दर्शन करने पर भी नायक का पूर्वश्रुत गुण इसी दीखने वाले मनुष्य में विद्यमान है—इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान जबतक नहीं होता है, तबतक वह व्यक्ति साधारण व्यक्ति के समान ही रहता है। इस स्थिति में नायिका के द्वारा उक्त नायक का जो दर्शन है वह साधारण मनुष्य के दर्शन के ही समान रहता है। इस प्रकार का दर्शन नायिका को हृदयंगम नहीं होता है। परन्तु वही नायिका जब दूती के वाक्य के द्वारा पूर्वोक्त नायकगत गुण का इस नायक में परामर्शन करती है तब उसी क्षण में ही नायिका पूर्णानन्द लाभ करने में समर्थ होती है।

नन्वात्मनः परमेश्वरत्वं स्वाभाविकं चेन्नार्थः प्रत्यभिज्ञाप्रार्थनया। नहि बीजमप्रत्यभिज्ञातं सति सहकारिसाकल्येऽङ्कुरं नोत्पादयति। तस्मात्कस्माद्वात्मप्रत्यभिज्ञाने निबन्ध इति चेत्—उच्यते। श्रृणु तावदिदं रहस्यम्। द्विविधा ह्यर्थक्रिया बाह्यांकुरादिका प्रमातृविश्रान्तिचमत्कारसारा प्रीत्यादिरूपा च। तत्राद्या प्रत्यभिज्ञानं नापेक्षते।

द्वितीयं तु तदपेक्षत एव। इहाप्यहमीश्वर इत्येवं भूतचमत्कारसारा परापरसिद्धिक्षणजीवात्मैकत्वशक्तिविभूतिरूपार्थक्रियेति स्वरूपप्रत्यभिज्ञानमपेक्षणीयम्।

ननु प्रमातृविश्रान्तिसारार्थक्रिया प्रत्यभिज्ञानेन विना अदृष्टा सती तस्मिन् दृष्टेति क्व दृष्टम्।

अत्रोच्यते नायकगुणसंश्रवणप्रवृद्धानुरागा काचन कामिनी मदनविह्वला विरहक्लेशमसहमाना मदनलेखावलम्बनेन स्वावस्थानिवेदनानि विधत्ते। तथा वेगात्तन्निकटमटन्त्यपि तस्मिन्नवलोकितेऽपि तदवलोकनं तदीयगुणपरामर्शाभावे जनसाधारणत्वं हृदयंगमभावं न लभते। यदा तु दूतीवचनात्तदीयगुणपरामर्शं करोति तदा तत्क्षणमेव पूर्णभावमन्येति। एवं स्वात्मनि विश्वेश्वरात्मना भासमानेऽपि तन्निर्भासनं तदीयगुणपरामर्शविरहसमये पूर्णभावं न संपादयति। यदा तु गुरुवचनादिना सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वादिलक्षणपरमेश्वरोत्कर्षपरामर्शो जायते तदा तत्क्षणमेव पूर्णात्मतालाभः। तदुक्तं चतुर्थविमर्शे—

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तस्याः स्थितोऽप्यन्तिके।
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।
लोकस्यैव तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो,
नैवायं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता॥

इति अभिनवगुप्तादिभिराचार्यैर्विहितप्रतानोऽप्ययमर्थः संग्रहमुपक्रममाणैरस्माभिर्विस्तरभिया न प्रतानित इति।

( स० द० सं०, पृ० २००–२०१ )

(इस अर्थक्रिया शब्द का बौद्ध दर्शन में पुनः पुनः व्यवहार किया गया है। बौद्ध दार्शनिकों का कहना है कि क्षणिक सद् वस्तु में ही अर्थक्रियाकारित्व है।)

इस प्रकार जीवात्मा परमशिव रूप में भासित होने पर भी यह निर्भासन परम शिव स्वरूप के परामर्शन की अभावदशा में पुरुष की पूर्णता का सम्पादन नहीं कर सकता है। परन्तु गुरुवाक्य के द्वारा परमेश्वर के सर्वज्ञत्व, सर्वगतत्व इत्यादि स्वरूपोत्कर्ष का परामर्शन जब होता है उस समय पूर्णात्मता लाभ संभव होता है। इस विषय में अभिनवगुप्तपाद के परमगुरु उत्पलपाद ने जो वर्णन किया था उसी का अभिनवगुप्त ने विशेष श्रद्धा के साथ अपनी ध्वन्यालोक लोचन टीका में उल्लेख किया है।

आशय यह है कि सामान्य रूप में ईश्वर ज्ञात होने पर भी जबतक विशेष रूप में ज्ञात नहीं होता है, तबतक जीव का पूर्ण परमशिव रूप में अनुभव होना असंभव है। दूती प्रेषण, आत्म-वृतान्त, आत्म-निवेदन आदि उपचारपूर्वक याचना के द्वारा नायक उपस्थित हुआ एवं तन्वी नायिका के निकट अवस्थान करने पर भी नायिका को पूर्ण आनन्द लाभ संभव नहीं होता है। कारण, मैंने जो लोकोत्तर सौन्दर्यादि गुणविशिष्ट रूप में जिस नायक के सम्बन्ध में सुना है और अनुराग के कारण जिससे प्रार्थना की, वह कान्त यही है—वह विशेष रूप में ज्ञात नहीं हुआ। अतः तन्वी नायिका की कामना का अभिलषितत्त्व रूप जो पुरुष उपस्थित है उस पुरुष में यही वह है, इस प्रकार ज्ञान न होने पर वह जन साधारण के ही समान है। वह जैसे पूर्वोक्त नायिका को जिस प्रकार आनन्द प्रदान करने में असमर्थ है वैसा ही प्रकृतस्थल में भी समझना चाहिए। अर्थात् सामान्यतया ज्ञात होने पर भी विशेष रूप से जब तक ज्ञात नहीं होता, तब तक उस पदार्थ का साक्षात्कार होने पर भी उसके यथार्थस्वरूप के अवधारण में मनुष्य समर्थ नहीं होता है। जीवात्मा को साक्षात् विश्वेश्वर की गुणराशि का जब तक परामर्श नहीं होता तब तक विश्वेश्वर का वैभव जीव को अपने वैभव के रूप में प्रतीत नहीं होता है। इसलिए जीव का शिव रूप प्रत्यभिज्ञान करने के लिये प्रत्यभिज्ञा दर्शन की प्रवृत्ति है।

काश्मीर में जिस शैव दर्शन का प्रचलन है, इसका आधारभूत ग्रंथ शिवसूत्र है। शिव सूत्र का प्रामाण्य प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। डा० वुहलर ने शिवसूत्र को स्पन्द सूत्र के नाम से उल्लेख किया है, परन्तु यह मत भ्रमात्मक है। स्पंद कारिका को ही स्पंदसूत्र के द्वारा कहा गया है। शिव वार्तिक में 'शिवः सूत्रमरीरचत् सूत्रमाह महेश्वरः'—इस प्रकार की उक्ति के द्वारा शिव-सूत्र का स्पंद सूत्र से भेद स्पष्टरूप में कहा गया है। तंत्रालोक ग्रन्थ में अभिनवगुप्तपाद ने कण्ठतः शिव सूत्र का उल्लेख किया है। इस विषय में काश्मीर शैविज्म नामक ग्रंथ में जगदीश चट्टोपाध्याय ने विस्तृत रूप से पर्यालोचन किया है। यह उल्लेखनीय है कि काश्मीर में प्रचलित शैव दर्शन त्रिकशास्त्र, त्रिकशासन प्रभृति नाम से पुकारा जाता है। त्रिक शब्द के द्वारा प्रत्यभिज्ञा दर्शन के प्रतिपाद्य तीन तत्त्वों को समझाया जाता है।

ज्ञानमेव तदज्ञानं शिवसूत्रेषु भाषितम् ।

( तन्त्र० पृ० ५८ का० शै० पृ० १ पादटीका )

तद्धाम त्रिकतत्त्वमद्वयमयं स्वातन्त्र्ययपूर्णप्रथं
चित्ते स्ताच्छिवशासनागमरहस्याच्छादनध्वंसि मे ।

( तन्त्र० खण्ड १ पृ० १ )

परात्रिंशिका ग्रन्थ की विवरण टीका में अभिनवगुप्त पाद ने कहा है कि यह नर शक्ति शिवात्मक–त्रिकरूप है। इस प्रकार पति, पाश और पशु अथवा शिव, शक्ति और अणु–इन तीन तत्त्वों को भी त्रिक शब्द से ग्रहण किया जाता है। श्री तन्त्रालोक ग्रंथ के प्रथम भाग में त्रिक शास्त्र का षट् अर्धक्रम विज्ञान शब्द के द्वारा भी निर्देश किया गया है। षट् का अर्ध तीन है। इसके द्वारा भी मंत्रयन्त्र में त्रिकशासन का ही निर्देश किया गया है। परात्रिंशिका ग्रंथ की विवरण टीका में अभिनवगुप्तपाद ने त्रिक शासन का अन्य शास्त्रों से प्राधान्य प्रदर्शन करने के लिये निम्नलिखित कारिका का उल्लेख किया है।

नर-शक्ति-शिवात्मकं हि इदं सर्वं त्रिकरूपमेव ।

( प० त्रिं० पृ० ७३ )

निखिलशास्त्रान्तरसारसंग्रहाभिप्रायत्वं प्रकाशितम् ।

( तन्त्रः पृ० २९ )

वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम् ।
ततो मतं ततंचामी त्रिकं सर्वोत्तमं परम् ॥

( प० त्रिं० पृ० २७२ )

इसे छोड़कर और भी भिन्न-भिन्न शब्दों से प्रत्यभिज्ञा दर्शन काश्मीर में प्रचलित है। सत् सम्प्रदाय, रहस्य–सम्प्रदाय शब्द से भी इसका निर्देश किया जाता है।

शिवदृष्टि ग्रन्थ के रचयिता सोमानन्दनाथ प्रत्यभिज्ञा दर्शन के प्रधान आचार्य हैं। सोमानन्दनाथ ने ही काश्मीर में शिवोपासक सम्प्रदाय का दार्शनिकमत युक्ति एवं चिन्ता के आधार पर सर्वप्रथम प्रतिष्ठापित किया है। वे काश्मीरी शैव प्रस्थान के आचार्य त्र्यम्बकादित्य से परम्परया सम्बद्ध है। इसलिये प्रत्यभिज्ञा दर्शन त्र्यम्बक शब्द से भी कहा जाता है। तन्त्रालोक में शिव शासन शब्द

मिलता है, उसका अर्थ काश्मीरी शैव दर्शन नहीं है। उस प्रसंग में शिव शासन शब्द शैव दर्शन के किसी विशेष प्रस्थान को नहीं समझकर सामान्य रूप में शैव दर्शन के सभी प्रस्थान को समझा जाता है। क्योंकि, इस प्रसंग में तन्त्रालोक ग्रन्थ के प्रसिद्ध टीकाकार राजानक-जयरथ ने कहा है कि शिव शासन शब्द के द्वारा पंच-स्रोतात्मक पारमेश्वर दर्शन समझना चाहिये। परन्तु सभी प्रत्यभिज्ञा दर्शन शिव के उद्‌र्ध्वस्रोत से उत्पन्न हुआ है। इसलिये प्रत्यभिज्ञा दर्शन अन्य शैव दर्शनों से उत्तम है। पहले ही कहा जा चुका है कि त्रिक शास्त्र का विशेष वैशिष्ट्य है। त्रिक शास्त्र ने शिवाद्वैतवाद का समर्थन किया है। काश्मीर में त्रिक शासन का प्रादुर्भाव कब से हुआ इस विषय में विशेष मतभेद नहीं है। कारण त्रिक शास्त्र का आधारभूत ग्रन्थ शिवसूत्र सर्वप्रथम वसुगुप्त के सम्मुख प्रकाशित हुआ था। यही प्रवाद काश्मीरीय प्रत्यभिज्ञा दर्शन के दार्शनिक सम्प्रदाय में प्रचलित है। वसुगुप्त नवम शताब्दी के प्रारंभ में विद्यमान थे। इसलिये प्रत्यभिज्ञा दर्शन अतिशय प्राचीन नहीं प्रतीत होने पर भी उक्त दर्शन का आधार भूत शैवागम अतिशय प्राचीन है। काश्मीर में किस रूप से शैवागम एवं त्रिकशासन प्रादुर्भूत हुआ इसका विशद वर्णन तन्त्रालोक की टीका में राजानक जयरथ ने निबद्ध किया है। जयरथ की उक्ति का आशय यह है कि सभी वस्तुएं उनके प्रकाश लाभ करने के पूर्व परमशिव की परामर्शात्मिका परावाक् में जो बोध अथवा संविदरूपिणी है, नामरूप से अव्याकृत होकर अवस्थान करती हैं। इसलिये सभी शास्त्र परमशिव के ज्ञानरूप में प्रकाश लाभ करने के लिये उन्मुख हुए। इसके बाद पश्यन्ती अवस्था में वाच्य एवं वाचक का विभाग नहीं रहने के कारण सभी शास्त्र परम शिव के अहं-इस प्रकार के प्रत्यवमर्श ( ज्ञान ) में उदय लाभ करते हैं। परावाक् पश्यन्ती अवस्था लाभ करती है। इस अवस्था में भी सम्पूर्ण विश्व अव्याकृतरूप में अवस्थान करता है। अशेष विश्व को अविभक्त अवस्था में दर्शन करने के कारण यह अवस्था पश्यन्ती नाम से पुकारी जाती है। इस स्थिति में चिद् रूप अहन्ता से जड़ का भेद प्रतीत नहीं होता है। जड़ परमशिव रूप चैतन्य के साथ अभिन्न अवस्था को प्राप्त कर परमशिव के अहमाकार प्रत्यवमर्श में भासमान होता है। यह अवस्था परमशिव के अभ्यन्तर में उदयलाभ करती है। इस

स्थिति में अवमर्शक जो प्रमाता है उसी के द्वारा परामृश्यमान (जायमान) होकर बाह्य अर्थ अहन्ता के द्वारा आच्छादित होकर भी स्फुरण लाभ करते हैं। इसके बाद वही पश्यन्तीवाक् तृतीय अवस्था को प्राप्त करती है जिसका नाम मध्यमा है। इस स्थिति में वेद्य प्रपंच एवं वेदक प्रपंच उदय लाभ करता है और इसके फलस्वरूप भिन्न भिन्न वाच्य एवं वाचक स्वभाव से पश्यन्ती उल्लास लाभ करती है। पश्यन्ती अवस्था में अहम् इदं और एतत् अविभक्त होकर अवस्थित थे। मध्यमा अवस्था में उनका भेद स्फुट प्रतीत हो रहा है। इस मध्यमा भूमि का और भी वैलक्षण्य है। इसमें परमेश्वर स्वयं, चित्, आनन्द, इच्छा ज्ञान, क्रिया रूप पंचशक्तिरूप पंच मुख के द्वारा सम्पूर्ण शैवागम का उपदेश करते हैं। शैवागम एवं निखिलशास्त्र मध्यमावाक् स्वरूप हैं एवं यही मध्यमा-वाक् स्वरूप शास्त्रराशि वैखरी स्वरूप को लाभ कर परमेश्वर के पंचवक्त्र से पंचस्रोत रूप में प्रवृत हुई है। परमेश्वर का पंचवक्त्र जो चिद् रूप है उसको ईशान कहते हैं। जो वक्त्र आनन्द रूप है उसको तत्पुरुष, जो वक्त्र इच्छा रूप है उसको सद्योजात, जो वक्त्र ज्ञान रूप है उसको अघोर एव जो वक्त्र क्रिया रूप है उसको वाम शब्द से कहा जाता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तनुसार इस समय परमेश्वर सदाशिव ईश्वर तत्त्व में विराजमान रहता है जिस पंच-स्रोतरूप में निखिलशास्त्र ने प्रकाश प्राप्त किया है उसमें कोई शास्त्र अभेद-वादी, कोई भेदाभेदवादी एवं कोई भेद प्रतिपादक है। मध्यमा अवस्था का परित्याग कर यही शास्त्र बाह्य जगत में वैखरी दशा में अवस्थान कर स्फुटता का लाभ करता है। परमेश्वर के पंच-वक्त्र से पंचस्रोतरूप में विनिर्गत आगम राशि परम शिव की मध्यमा वाक् दशा में विराजमान है। वही बाद में वैखरी दशा में स्पष्टता लाभ करती है। मध्यमा शब्द का तात्पर्य यह है कि इस अवस्था की एक ओर अविभक्त पश्यन्ती अवस्था एवं दूसरी ओर वैखरी अवस्था विद्यमान है। ( शि० दृ० पृ० ४३ )

वैखरी शब्द का भिन्न भिन्न अर्थ में व्यवहार होता है। जिस अवस्था में ककार आदि वर्ण विभक्तावस्था का लाभ करते हैं, उसी को वैखरी कहा जाता है। शिव-दृष्टि ग्रन्थ में उत्पलाचार्य ने कहा है वक्त्र के अभ्यन्तर उदयलाभ कर कंठादिस्थान रूप अंश में विभक्त होकर ककारादि जो वर्ण हैं उसी वर्णरूपिणी वैखरीवाक् का

शास्त्र में वर्णन किया गया है। ( वैखरी·····ततो वक्त्रोदरं प्राप्त-कण्ठादिस्थानभागेषु विभक्तककारादिवर्णरूपा वैखरी वर्ण्यते।) प्रयोग करनेवाले पुरुष के प्राणवायु का व्यापार अवलम्बन कर ही वैखरी वाक् उत्पन्न होती है। तन्त्रालोक ग्रन्थ के विवरण में राजानक जयरथ ने कहा है कि विखर शब्द का अर्थ शरीर है, उससे निष्पन्न होने के कारण इसका नाम वैखरी है। इस प्रसंग में यह भी कहा गया है कि प्रथमतः परमेश्वर के ईशान तत् पुरुष, अघोर, वाम और सद्यो जीव इस प्रकार पांच वक्त्र आविर्भूत हुए थे। इसी पंचवक्त्र से ६४ तंत्र समन्वित शैव दर्शन उत्पन्न हुआ था।

उन तंत्रों का उपदेश कलिकालकालुष्य के कारण उसकी परम्परा का अन्तर्धान होने के कारण विच्छिन्न हो गया एवं उसके फलस्वरूप शैवदर्शन का सर्वथा विनाश हो गया था। शिवशासन का इस प्रकार उच्छेद होने के बाद श्रीकंठमूर्त्ति भगवान शिव कैलास पर्वत में परिभ्रमण करते थे। किसी समय श्रीकंठ ( शिव ) ने निखिल शैवशास्त्रोपनिषद् के सारभूत षडर्थ क्रम विज्ञान के प्रचार करने के लिये दुर्वासा मुनि को आज्ञा प्रदान की। दुर्वासा मुनि ने अपनी तपस्या के प्रभाव के द्वारा तीन मानसपुत्रों का लाभ किया जिनका नाम यथाक्रम में त्र्यम्बक, आमर्दक एवं श्रीनाथ था। इसमें त्र्यम्बक शिवाद्वय सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं, आमर्दक द्वैतवादी हैं एवं श्रीनाथ द्वैताद्वैतवादी हैं। प्रकारान्तर से यह भी कहा जा सकता है कि त्र्यम्बक अभेदवादी है, आमर्दक भेदवादी एवं श्रीनाथ भेदाभेदवादी हैं। दुर्वासा ने अपने तीन शिष्यों को मठ में स्थापित कराकर सत् सम्प्रदाय मार्ग के प्रचार के लिये नियुक्त किया। इन तीन मतों में शिवाद्वैतवाद अधिक प्रशस्त है। यह त्रिकमत भी कहलाता है। शिवाद्वय प्रतिष्ठा में ही इस मत का पर्यवसान है। कहीं कहीं त्रिक-मत को त्र्यम्बक सम्प्रदाय के नाम से भी कहा गया है, यह मत सर्व-श्रेष्ठ होने के कारण सर्वत्र समादृत हुआ है। कहा गया है कि—— त्रिकं सर्वोत्तमं परम्। जो शैवतन्त्र परमेश्वर के पंचवक्त्र से पंचस्रोत के रूप में उत्पन्न हुआ था उसमें ऊर्ध्वस्रोत से उत्पन्न त्रिक-मत ही सर्वोत्तम है। इसका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन का काश्मीर में किस रूप से प्रसार हुआ इस प्रसंग में शिवदृष्टि के रचयिता सोमानन्दनाथ ने भी अपने ग्रन्थ

के अन्त में एक आख्यायिका निबद्ध की है। इसका ऐतिहासिक मूल्य आंशिक रूप से स्वीकार किया जा सकता है। इसमें सोमानन्द नाथ ने कहा है कि शिव रहस्य पूर्वकाल में ऋषियों के मुख में ही विराजमान था। कलिकाल प्रवृत्त होने के बाद शिवशासन उच्छिन्न हो गया। एक समय कैलाशपर्वत पर भ्रमण करने के समय शिव ने श्रीकंठमूर्त्ति धारण कर दुर्वासा मुनि को शिवशास्त्र इस रूप मेंउच्छिन्न नहीं हो जाय, इसलिये मर्त्यलोक में उसका प्रचार करने का दृष्टि से उपदेश दिया। अनन्तर देवदृष्टि लाभ कर दुर्वासा ने त्र्यम्बकादित्य नामक मानस पुत्र की सृष्टि कर उनमें शिव रहस्य का संक्रमण करा दिया। इस प्रकार त्र्यम्बकादित्य ने भी मानसपुत्र की सृष्टिकर त्रिकशास्त्र का प्रचार एवं प्रसार करने का प्रयास किया। पूर्वोक्तक्रम से चतुर्दश पुरुष तक मानसपुत्र के द्वारा ही त्रिकशास्त्र ने विस्तार लाभ किया। दुर्वासा एवं त्र्यम्बकादित्य ने जिस कार्य का प्रारंभ किया था वह चतुर्दश पुरुष तक मानसपुत्र के द्वारा ही सम्पन्न हुआ था। इसके बाद जो पंचदश पुरुष उत्पन्न हुए उससे संगमादित्य नामक एक महापुरुष ने औरस-पुत्ररूप में जन्म लाभ किया। उन्होंने काश्मीर में आकर निवास किया, संगमादित्य के पुत्र वर्षादित्य हैं, वर्षादित्य के पुत्र है भगवान अरुणादित्य है और अरुणादित्य के पुत्र शिवदृष्टि के रचयिता सोमानन्द हैं।

शैवादीनि रहस्यानि पूर्वमासन्महात्मनाम्।
ऋषीणां वक्त्रकुहरे तेष्वेवानुग्रहक्रिया॥

कलौ प्रवृत्ते जाते तेषु दुर्गमगोचरे।
कैलापिग्रामप्रमुखे समुच्छिन्ने च शासने॥

कैलाशाद्रौ भ्रमन् देवो मूर्त्या श्रीकंठरूपया।
अनुग्रहायावतीर्णश्चोदयामास भूतले॥

मुनिं दुर्वाससं नाम भगवानूर्ध्वरेतसम्।
नोच्छिद्येत यथा शास्त्रं रहस्यं कुरु तादृशम्॥

ततः स भगवान् देवादेशं प्राप्य यत्नवान्।
ससर्ज मानसं पुत्रं त्र्यम्बादित्यनामकम्॥

तस्मिन् संक्रमयामास रहस्यानि समन्ततः।
सोऽपि गत्वा गुहां सम्यक त्र्यम्बकाख्या ततः परम्॥

तन्नाम्ना चिह्नितं तत्र ससर्ज मनसा सुतम् ।
खमुत्पपात संसिद्धस्तत्पुत्रोऽपि तथा तथा ॥
सिद्धस्तद्वत्सुतोत्पत्त्या सिद्धा एवं चतुर्दशैः ।
यावत्पंचदशः पुत्रः सर्वशास्त्रविशारदः ॥
स कदाचिल्लोकयात्रामासीनः प्रेक्षते ततः ।
बहिर्मुखस्य तस्याथ ब्राह्मणी काचिदेव हि ॥
रूपयौवनसौभाग्यबन्धुरा सा गता दृशम् ।
दृष्ट्वा तां लक्षणैर्युक्तां योग्यां कन्यामथात्मनः ॥
स धर्मचारिणीं सम्यग् गत्वा तत्पितरं स्वयम् ।
अर्थयित्वा ब्राह्मणीं तामानयामास यत्नतः ॥
ब्राह्मणेन विवाहेन ततो जातस्तथाविधः ।
तेन यः स च कालेन काश्मीरेष्वागतो भ्रमन् ॥
नाम्ना स संगमादित्यो वर्षादित्योऽपि तत्सुतः ।
तस्याप्यभूत् स भगवानरुणादित्यसंज्ञकः ॥
आनन्दसंज्ञकस्तस्मादुदबभूव तथाविधः ।
तस्मादस्मि समुद्भूतः सोमानन्दाख्य ईदृशः ॥
करोमि स्म प्रकरणं शिवदृष्ट्यभिधानकम् ।
एवमेषां त्र्यम्बकाख्या तैरम्बादेशभाषया ॥
स्थिता शिष्यप्रशिष्यार्यैर्विस्तीर्णा मठिकोदिता ।
तदेवमेतद्विहितं मया प्रकरणं मनाक् ।
प्रार्थ्यन्तेऽस्मिन् प्रयुक्तेऽपि गुरवो ग्रहणं प्रति ।

( शि० दृ० पृ० २२०–२२१ )

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के जो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उनमें बहु संख्यक ग्रन्थ नवम शताब्दी के हैं। यह पहले भी कहा जा चुका है कि वूलर महोदय ने स्पंद शास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञा शास्त्र को दो पृथक् प्रस्थान के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु जगदीश चन्द्र चटर्जी महाशय ने अपने काश्मीर शैविज्म नामक ग्रन्थ में इस मत को भ्रमपूर्ण माना है।

काश्मीर में प्रवर्तित सम्पूर्ण शैव दर्शन को तीन भागों में विभक्त किया गया है। ( १ ) आगम शास्त्र ( २ ) स्पंद शास्त्र ( ३ ) तथा प्रत्यभिज्ञा शास्त्र।

त्रिक शास्त्र के जो तीन भेद प्रदर्शित किये गये हैं उनमें शास्त्र

शब्द ग्रंथ वाचक है। प्रत्यभिज्ञा के जो ग्रन्थ हैं उनका सम्मान के साथ निर्देश किया गया है। उन ग्रन्थों का माहात्म्य यह है कि प्रत्येक ग्रन्थ का शास्त्र शब्द से उल्लेख किया गया है एवं ग्रन्थ के पूर्व में श्री शब्द का प्रयोग किया गया है। परात्रिंशिकाविवरण में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है श्रीमालिनी तन्त्रेऽपि।

प्रत्येक ग्रंथ ही शास्त्र का गौरव धारण करता है। अन्य प्रस्थान में ऐसा देखने में कम मिलता है। इसलिये इस स्थल में शास्त्र शब्द का प्रसिद्ध अर्थ त्याग कर ग्रंथ निर्दिष्ट ग्रन्थ रूप अर्थ ही ग्रहण करना पड़ेगा। परात्रिंशिकाविवरण में त्रिकशास्त्रेषु—यह जो बहुवचन प्रयोग किया गया है इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि शास्त्र शब्द का अनुशासन रूप अर्थ नहीं ग्रहण किया जा सकता है, कारण त्रिकशास्त्र एक ही है। उसी के आगम, स्पंद एवं प्रत्यभिज्ञा—ये तीन भाग हैं। त्रिकशास्त्रेषु—इस स्थल में शास्त्र शब्द का प्रसिद्ध अर्थ ग्रहण करने से त्रिक शास्त्र का बहुत्व स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रसंग में कुछ लोगों का कहना है कि त्रिकशास्त्रेषु—यह जो बहुवचन व्यवहार किया गया, यह आगम शास्त्र, स्पन्द शास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञा शास्त्र—इन तीनों को मिलकर बनता है। त्रिकशास्त्र बनने के कारण बहुवचन प्रयोग किया गया है। इसलिये इस स्थल में शास्त्र शब्द का शासन अर्थ ग्रहण करना ही उचित है—यह भी कुछ लोगों का विचार है। परात्रिंशिका में शिवदृष्टिशास्त्र शब्द का प्रयोग किया गया है। इस शब्द के ऊपर ध्यान देने से भी पूर्वोक्त विषय स्पष्ट हो जाता है। कारण इस स्थल में शास्त्र शब्द के द्वारा अगर शासन समझा जाय तब तो शिवदृष्टि शास्त्र भी प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के बराबर एक स्वतन्त्र शास्त्र बन जायगा। परन्तु शिवदृष्टि शास्त्र के साथ उसकी अभिन्नता है।

### आगम शास्त्र का परिचय

आगम शास्त्र के सम्बन्ध में सभी आचार्यों का मत है कि आगमशास्त्र अपौरुषेय है। वेद मंत्र जैसे ऋषियों के पास प्रतिभात हुआ था, आगम शास्त्र भी वैसे ही तत्तत् आचार्यों के मन में प्रकाशमान हुआ। शैवागम के मुख्यतः प्रतिपाद्य विषय है ज्ञान एवं क्रिया। आगम शास्त्र के अन्तर्गत तन्त्रग्रन्थ भी है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मूलभूत आगमग्रन्थ का इस रूप में उल्लेख मिलता है—मृगेन्द्र,

मतंग, नेत्र, नैश्यास, आनन्द भैरव, उच्छुन्न भैरव, विज्ञान भैरव, स्वच्छन्द, स्वायम्भु, मालिनी-विजय एवं रुद्रयामल। ये सभी आगम ग्रन्थ प्रत्यभिज्ञा दर्शन की मूलभूत रचनायें हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि अधिक आगमों में द्वैतवाद को अंगीकार किया गया है। शिवसूत्र विमर्शिनी में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि द्वैत-दर्शनवासना-वासित जनसाधारण में रहस्य सम्प्रदाय का उच्छेद नहीं हो जाय इसलिये प्रत्यभिज्ञा दर्शन का उपदेश दिया गया है। पूर्वोक्त आगम ग्रन्थ में मृगेन्द्रागम का उल्लेख सर्वदर्शन संग्रह में मिलता है। सूत्रसंहिता में एक और आगम का उल्लेख किया गया है जिसका नाम है कामिकागम। इसका प्रामाण्य सभी आचार्यों ने अंगीकार किया है। मृगेन्द्रागम में कहा गया है कि वेद में प्रतिपादित देवतावर्ग निराकार है इसलिये उसमें साकार उपासना का कोई स्थान नहीं रह गया। सभी वैदिक देवता मंत्रमय है। इसलिये साकार उपासना संभव कराने के लिये मृगेन्द्रागम शास्त्र में उपदेश दिया गया है।

जहाँ देवी शिष्य रूप में प्रश्न कर रही हैं और शिव गुरु रूप में उत्तर प्रदान करते हैं। उस तन्त्र को आगम शब्द से निर्दिष्ट किया जाता है। इसी प्रकार जहाँ देवी गुरु है उस स्थल में शास्त्र निगम संज्ञा लाभ करता है। इस प्रसंग में आगमद्वैतनिर्णय नामक ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से प्रदर्शित श्लोक मिलता है--

आगतं शम्भुवक्त्रेभ्यः गतं च गिरिजामुखे।
मन्तव्यं वासुदेवेन तस्मादागम उच्यते॥
निर्गतो गिरिजावक्त्राद् गतश्च गिरिशश्रुतिम्।
मतश्च वासुदेवस्य निगमः परिकथ्यते।

आगम प्रतिपाद्य सात विषय हैं। वाराहीतन्त्र में उसके प्रकार का निरूपण किया है—सृष्टि, प्रलय, देवतानामार्चन, साधन पुरश्चरण, षट्कर्म एवं ध्यानयोग।

### मालिनी विजय

मालिनी विजय तन्त्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह तन्त्र परमेश के मुख से उत्पन्न है। यह भी कहा गया है कि परमेश ने अघोर से इस तन्त्र का ज्ञान लाभ किया। यह मालिनी विजय तन्त्र देवी एवं परमेश के प्रश्नोत्तर रूप में कहा गया है।

सनत्कुमार सनक प्रभृति ऋषिवर्ग ने कार्त्तिकेय से योग विषयक ज्ञान लाभ करने के लिये प्रार्थना की। उसी के फलरूप मालिनी विजयोत्तर तंत्र लोक में प्रवृत्त हुआ। मालिनी विजय में कहा गया है कि सिद्ध योगेश्वरी–तंत्र का पहले आविर्भाव हुआ था। उसमें ९ कोटि श्लोक संख्या थी। और उसका प्रतिपाद्य विषय था भेदवाद, अभेदवाद एवं भेदाभेदवाद। ग्रन्थ अति विपुलकाय होने के कारण तीन कोटि श्लोकों में संक्षिप्त किया गया और संक्षिप्त ग्रन्थ का नाम है मालिनी विजय। सिद्ध योगेश्वरी तन्त्र का प्रतिपाद्य विषय योग था। कालक्रम में मनुष्यों की बुद्धि मन्द होने बाद उसे पुनः द्वादश सहस्र श्लोकों में संक्षिप्त किया गया।

स्व स्थानस्थमुमादेवी प्रणिपत्य इदमब्रवीत्।
सिद्धयोगीश्वरीतन्त्रं नवकोटिप्रविस्तरम्॥
यत्त्वया कथितं पूर्वं मेदत्रयविसर्पितम्।
मालिनीविजये तन्त्रे कोटित्रितयलक्षिते॥
योगमार्गस्त्वया प्रोक्त यः सुविस्तीर्णो महेश्वर।
भूयस्तस्योपसंहारः प्रोक्तो द्वादशभिस्तथा॥
सहस्रैः सोऽपि विस्तीर्णो गृह्यते नाल्पबुद्धिभिः।
अतस्तमुपसंहृत्य समासादल्पधाहितम्॥
( मा० वि० त० ज० १ पृ० ९–११ )

कुछ लोगों का कहना है कि मालिनी तंत्र सिद्ध योगेश्वरी तंत्र का अवशिष्ट भाग है। एक ही ग्रन्थ का पूर्वभाग सिद्धमत एवं पर भाग मालिनी तंत्र नाम से प्रचलित था। मालिनी विजयोत्तर तंत्र में ही इस विषय का संकेत मिलता है।

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि सिद्धयोश्वरीमतम्।
यन्न कस्यचिदाख्यातं मालिनीविजयोत्तरम्॥
( मा० वि० त० अ० १ पृ० १–१३ )

तन्त्र ग्रन्थ के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि तन्त्र ग्रन्थ आगम शास्त्र के साथ सम्बद्ध हैं। इसलिये आगम के बराबर ही तन्त्र ग्रन्थ के भी ईश्वर ही रचयिता हैं। आगम की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमलोगों ने पहले ही तन्त्रालोक ग्रन्थ का मत प्रदर्शित किया है। फिर भी उसका आशय संक्षेप में प्रदर्शित किया जा रहा है, कारण आगम शास्त्र के उद्गम के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त पाद

नें जो कहा है वह अशितय गंभीर एवं तात्पर्यपूर्ण है। परावाक् में सभी शास्त्रों ने अतीन्द्रिय अवस्था में बीजरूप में अवस्थान किया था। यही पारावाक् क्रमशः अभिव्यक्त होती है। इसकी प्राथमिक अभिव्यक्ति जब पश्यन्ती में आत्म-लाभ करती है उस समय भी शब्द एवं अर्थ अविभक्तावस्था में वर्तमान है। इस अवस्था में इदम् शब्द से व्यवहृत बाह्य विषय विषयी अहं के साथ अविभक्तावस्था में ही भासमान होता है। पारावाक् ही मध्यमा अवस्था में शब्द एवं अर्थ रूप में विभक्त होकर प्रतीयमान होती है एवं चतुर्थ वैखरी अवस्था में परावाक् वागिन्द्रिय से उच्चारित शब्द के द्वारा प्रकाश लाभ करती है। वस्तुतः पारावाक् सभी शास्त्रों की उत्पत्ति का मूल है। यही शास्त्र-समूह परमेश्वर के पंचवक्त्र से उत्पन्न हुए हैं। पंचवक्त्र उनकी पाँच शक्तियों—अर्थात् चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया के प्रतीक हैं। पारमेश्वरी शक्ति के द्वारा परमेश्वर की जो पाँच प्रकार अभिव्यक्तियाँ हैं उनमें ६२ तन्त्रों की विभिन्न शाखाएँ उत्पन्न हुईं। इन सबको पुनः शिव, रुद्र एवं भैरव—इन तीन भागों में विभक्त किया गया। शिव के अन्तर्गत जो तन्त्र है उसकी संख्या दश है और वह भेदवाद का प्रतिपादक है। द्वितीय वर्ग में रुद्र के अन्तर्गत जो १८ प्रकार के मत कहे गये हैं वे सब भेदाभेदवाद के समर्थक हैं एवं तृतीय वर्ग भैरव के अधीन है। शिव-अद्वैतवाद का प्रतिपादक है एवं ६४ धाराओं में विभक्त है। तन्त्र शास्त्र का स्थूलतः प्रतिपाद्य विषय इस रूप से सङ्कलित किया जाता है—( १ ) मन्त्र का स्वरूपनिरूपण, (२) दीक्षा का प्रकार-भेदनिरूपण, (३) मूलतत्त्व का परिगणन, (४) विश्व का एवं संख्या निर्धारण स्वरूप, ( ५ ) तन्त्र के मूलभूत दर्शन का प्रतिपादन, ( ६ ) उपासना स्वरूप विश्लेषण, ( ७ ) योग प्रकरण, ( ८ ) तांत्रिक आचारों का वर्णन तांत्रिक उपासना में आराध्य एवं आराधक—इन दोनों की ऐक्य भावना करने के लिये उपदेश दिया गया है। इससे मालूम पड़ता है कि अद्वैतवाद का प्रभाव अधिक है। मालिनी-तन्त्र के सम्बन्ध में तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने कहा है कि मालिनी-विजयोत्तर शब्द से यही समझना चाहिये कि यह तन्त्र शैवमतानुसारी सभी तन्त्रों में प्रधान स्थान रखता है—

न तदस्तीह यन्न श्रीमालिनीविजयोत्तरे।
देवदेवेन निर्दिष्टं स्वशब्देनाथ लिंगतः॥

श्रीमालिनीविजयोत्तरे इति नादि—कान्तायां मालिन्यां विजयेन सर्वोत्कर्षेण उत्तरति सर्वस्रोतोभ्यः प्लवते, सारभूतत्वात्सर्व-शास्त्राणाम् ॥

एतदेवाह—

दशाष्टादशवस्वष्टभिन्नं यच्छासनं विभोः ।
तत्सारं त्रिकशास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम् ॥

( तन्त्र १–१, पृ० ३५ )

तत्र क्रिया-प्रधानं सिद्धतन्त्रम्, ज्ञानप्रधानं वामकं तन्त्रम्, तदु-भयमयं मालिनीमतम् इति तदेव मुख्यम्, यदाह तत्सारं मालिनी-मतम् इति । ( तन्त्र १–१, पृ० ४६ )

मालिनी शब्द के स्थान में कहीं-कहीं माला शब्द भी मिलता है। एवं शब्द के द्वारा वर्णमाला समझी जाती है। पूर्व मालिनी मात्रिका एवं सिद्धा शब्द के द्वारा अनुक्रम विशिष्ट रूप में आम्ना का वर्णमाला कही जाती है। इस प्रकार उत्तरमालिनी शब्द के द्वारा नकारादि फकारान्त वर्णमाला समझी जाती है। इसमें विशेष ध्यान देने की बात है कि स्वच्छन्दतन्त्र में जैसे पूर्वमालिनी का प्रयोग किया गया, वैसे ही मालिनीविजयोत्तर में उत्तरमालिनी का ग्रहण किया गया। शरीर के भिन्न-भिन्न अवयव मालिनी के भिन्न-भिन्न अवयव के प्रतीक हैं। मन्त्र का जो पर, अपर एवं परापर विभाग किया जाता है, वह शरीरावयवबोधक पद से सङ्कलित किया जा सकता है। मालिनी-विजयतन्त्र पारिभाषिक शब्दों से पूर्ण रहने के कारण सुगम नहीं है। अभिनवगुप्तपाद ने मालिनीविजयवार्त्तिक की रचना कर इसके आशय को अनायास बोधगम्य कर दिया है। अभिनव-गुप्तपाद ने अपने तन्त्रालोक ग्रन्थ में कहा है कि मालिनी-विजय त्रिक मत का सार तत्त्व स्वरूप है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि ऋषिवर्ग शिवशक्ति के द्वारा उन्मुखीकृत होकर कार्त्तिकेय के पास योग मार्ग में सम्यक् ज्ञान लाभ करने के लिये उपस्थित हुए। परमेश्वर ने जो उपदेश परमेश्वरी को दिया उसे कार्त्तिकेय ने ऋषियों के पास व्यक्त किया। मालिनीविजयोत्तरतन्त्र के अनुसार सभी प्रमेय वर्ग को दो भागों में विभक्त किया गया है—( १ ) हेय, ( २ ) एवं उपादेय। उपादेय वर्ग के अन्तर्गत हैं–शिव, शक्ति, विद्येश,

मन्त्र, एवं अणु। हेय वर्ग के अन्तर्गत हैं—मल, कर्म, एवं माया से निर्मित अखिल जगत्—

शिवः शक्तिः सविद्येशा मन्त्रा मन्त्रेश्वराणवः।
उपादेयमिति प्रोक्तमेतत्षट्कं फलार्थिनाम्॥
मलः कर्म च माया च मायीयमखिलं जगत्।
सर्वं हेयमिति प्रोक्तं विज्ञेयं वस्तु निश्चितम्॥

( मा० वि० त० पृ० २ )

शिव के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे सभी के स्रष्टा हैं, सर्वज्ञ हैं एवं अनन्त हैं। वे सकल, निष्कल एवं अनन्त हैं। शिव की शक्ति भी इस प्रकार है—सृष्टि के आदि में जगत् की सृष्टि करने की इच्छा शिव की हुई। इसके फलस्वरूप आठ प्रकार के विज्ञान केवल पुद्गल का निर्माण किया। इसके नाम यथाक्रम में अघोर, परमघोर, घोर-रूप घोरानन, भीम, भीषण, वमन, पिवन, हैं। ये आठ संसार की स्थिति, ध्वंस, रक्षा एवं अनुग्रह करते हैं। इन आठों के मण्डल (प्रभावक्षेत्र) को सीमित कर सप्तकोटि मन्त्र का निर्माण किया गया जो आठ प्रकार के विज्ञान केवल कहे गये हैं। वे सब मन्त्र महेश्वर एवं ईश्वर रूप हैं। जिस प्रमाता ने शुद्ध विद्या का साक्षात्कार किया उसको मन्त्र कहा जाता है। जिस प्रमाता ने ईश्वर तत्त्व का साक्षात्कार किया उसे मन्त्रेश्वर कहा जाता है एवं जिस प्रमाता ने सदाशिव तत्त्व का अनुभव किया उसे मन्त्र महेश्वर कहा जाता है। निष्कर्ष अही हुआ कि आत्मा चार प्रकार में अभिव्यक्ति लाभ करती है—( १ ) मन्त्र, ( २ ) मन्त्रेश्वर, ( ३ ) मन्त्रमहेश्वर, (४) शिव। पूर्वोक्त विज्ञान केवल मलयुक्त है, मल एवं कर्मयुक्त अवस्था को प्रलय केवल कहा जाता है। मल अज्ञान है—यही संस्कार के अंकुर का कारण है। धर्माधर्मात्मक कर्म है। धर्म से सुख, अधर्म से दुःख होता है। परमेश्वर ने शक्ति युक्त होकर माया में प्रवेश कर जगत् का निर्माण किया है। यह शक्ति एक है सर्वव्यापिनी है। इसका आदि अन्त नहीं है। इसको शिवा, ईशानी, व्ययहीना नाम से कहा जाता है। इसी से कलातत्त्व उत्पन्न हुआ एवं यथाक्रम में भूमि-तत्त्व पर्यन्त उत्पन्न हुआ।

एतज्ज्ञात्वा परित्यज्य सर्वसिद्धिफलं लभेत्।
तत्रेशः सर्वकृच्छान्तः सर्वज्ञः सर्वकृत्प्रभुः॥

सकलो निष्कलोऽनन्तः शक्तिरप्यस्य तद्विधा ।
स सिसृक्षुर्जगत्सृष्टेरादावेव निजेच्छया ॥
विज्ञानकेवलानष्टौ बोधयामास पुद्गलान् ।
अघोरः परमो घोरो घोररूपस्तदाननः ॥
भीमश्च भीषणश्चैव वमनः पिवनस्तथा ।
एतानष्टौ स्थितिध्वंसरक्षानुग्रहकारिणः ॥
मन्त्रमन्त्रेश्वरेशत्वे संनियोज्य ततः पुनः ।
मन्त्राणामसृजत्तद्वत्सप्तकोटीः समण्डलाः ॥
सर्वेऽप्येते महात्मानो मन्त्राः सर्वफलप्रदाः ।
आत्मा चतुर्विधो ज्ञेयस्तत्र विज्ञानकेवलः ॥
मलैकयुक्तस्तत्कर्मयुक्तः प्रलयकेवलः ।
मलमज्ञानमिच्छन्ति संसारांकुरकारणम् ॥
धर्माधर्मात्मकं कर्म सुखदुःखादिलक्षणम् ।
ईश्वरेच्छावशादस्य भोगेच्छा संप्रजायते ॥
भोगसाधनसंसिद्ध्यै भोगेच्छोरस्य मन्त्रराट् ।
जगदुत्पादयामास मायामाविश्य शक्तिभिः ॥
सा चैकान्ययिनी रूपा निष्कला जगतो निधिः ।
अनाद्यन्ताशिवेशानी व्ययहीना च कथ्यते ॥
असूत सा कलातत्त्वं यथोगादभवत्पुमान् ।
जातकर्तृत्वसामर्थ्यौ विद्यारागौ ततोऽसृजत् ॥
विद्या विवेचयत्यस्य कर्म तत्कार्यकारणे ।
रागोऽपि रंजयत्येनं स्वभोगेष्वशुचिष्वपि ॥
नियतिर्योजयत्येनं स्वके कर्मणि पुद्गलम् ।
कालोऽपि कलयत्येनं तुट्यादिभिरवस्थितः ॥
तत एव कलातत्त्वादव्यक्तमसृजत्ततः ।
गुणानष्टगुणान् तेभ्यो धियं धीतोऽप्यहंकृतम् ॥
तत्त्रिधा तैजसात्तस्मात्मनो क्षेत्रमजायत ।
वैकारिकात्ततोऽक्षाणि तन्मात्राणि तृतीयकात् ॥
श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा घ्राणबुद्धीन्द्रियाणि तु ।
कर्मेन्द्रियाणि वाक्यानि पायूपस्थांघ्रयः क्रमात् ॥
कलादिक्षितिपर्यन्तमेतत्संसारमण्डलम् ।
समुद्रादिजगत्कृत्स्नं परिवर्तयतीच्छया ॥
भेदः परः कलादीनां भुवनत्वेन यः स्थितः ।

असृजत्तमसादेव भोगिनां भोगसिद्धये ॥
इत्यनेन कलाद्येन घरान्तेन समास्थिताः ।
पुमांसः सकला ज्ञेयास्तदवस्थाजिघांसुभिः ॥
( मा० वि० त० पृ० ३, ४, ५ )

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र २३ अधिकारों में विभक्त है । इसका एक अधिक अंश योग एवं मुद्रा के सम्बन्ध में पर्यालोचित है। इस प्रसङ्ग में योग और मुद्रा प्रकरण में इसके प्रतिपाद्य विषय का पर्यालोचन इस प्रकार देखें । तन्त्र के सम्बन्ध में और जिन ग्रंथों का उल्लेख किया गया है, उनमें सभी उपलब्ध नहीं हैं । उन ग्रन्थों के आविष्कार एवं प्रकाशन का प्रयास अपेक्षित है ।

स्वच्छन्द तंत्र के सम्बन्ध में कुछ संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है— छन्द शब्द का अर्थ है इच्छा, अभिलाषा इत्यादि । फलतः स्वच्छन्द एवं स्वतन्त्र पर्यायवाची शब्द हैं । जिसमें लेशतः पारतन्त्र नहीं है वही स्वच्छन्द है अथवा स्वतन्त्र हैं । जिसकी इच्छा का प्रतिघात नहीं होता है वही स्वतन्त्र व स्वच्छन्द है । स्वच्छन्द भैरव के दक्षिण वक्त्र का निर्देश अघोर शब्द से दिया जाता है । अघोर की उपासना के सम्बन्ध में स्वच्छन्द तन्त्र में विशेषरूप से पर्यालोचन किया गया है । स्वच्छन्द भैरव के पाँच वक्त्र हैं । उनके नाम यथाक्रम में इशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अघोर हैं । इन पाँच वक्त्रों का निर्देश यथा क्रम में उर्ध्ववक्त्र पूर्ववक्त्र पश्चिमवक्त्र दक्षिणवक्त्र एवं वामवक्त्र से किया जाता है । यही पंचवक्त्र चित् शक्ति, आनन्दशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति के रूप में विराजमान है । इन्हीं पाँच वक्त्रों से यथाक्रम से उर्ध्वाम्नाय, पूर्वाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, दक्षिणाम्नाय एवं वामाम्नाय उत्पन्न हुए हैं । आम्नाय एवं आगम पर्यायवाचक शब्द हैं । स्वच्छन्द तन्त्र में शिवाद्वैत का प्रतिपादन किया गया है । इसके विपरीत मतंग मृगेन्द्र प्रभृति तन्त्र में द्वैतवाद ही समर्थित हुआ है । उससे स्वच्छन्द तन्त्र का वैलक्षण्य सुस्पष्ट है । स्वच्छन्द तन्त्र का प्रतिपाद्य विषय है—उपासना एवं क्रिया । दीक्षा के सम्बन्ध में इसमें सुगंभीर रहस्य का उद्घाटन किया गया है । स्वच्छन्द तन्त्र ने देवी एवं भैरव के कथोपकथन के रूप में प्रकाश लाभ किया । उपलब्ध स्वच्छन्द तन्त्र में एक बृहदायतन स्वच्छन्द तन्त्र पहले विद्यमान था जिसका यह संक्षिप्त रूप है । पूर्ववत् स्वच्छन्द तन्त्र के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह एक सौ करोड़ श्लोकों से निबद्ध

किया गया था, जनसाधारण के लिये ग्राह्य नहीं होने के कारण उसे संक्षिप्त किया गया। स्वच्छन्द तन्त्र के ऊपर बहुत टीकाओं की रचना की है। यह क्षेमराज प्रणीत उद्योत टीका से अवगत होता है। विशेषतः मूलकराजानक ने स्वच्छन्द तन्त्र के ऊपर बृहद् टीका की रचना की है। किन्तु वह वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं है। मूलकराजानक ने जिस बृहद् टीका का निर्माण किया है वह ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आया है। स्वच्छन्द तन्त्र के सम्पादक पं० मधुसूदन कौल शास्त्री ने बृहत् टीका की पाण्डुलिपि से उद्धरण किया है स्वच्छन्द तन्त्र के सभी प्राचीन टीकाकार द्वैतपक्षावलम्बी थे। इस प्रकार अनुमान करने का कारण विद्यमान है, क्योंकि स्वच्छन्द तन्त्र के ऊपर क्षेमराज ने जिस उद्योत टीका का निर्माण किया है उसी से इस विषय का संकेत मिलता है। स्वच्छन्द तन्त्र पन्द्रह पटलों में है—

| | |
|---|---|
| प्रथम पटल | मन्त्रोद्धार-प्रकाशन |
| द्वितीय पटल | अर्चाधिकार |
| तृतीय पटल | अधिवास पटल |
| चतुर्थ पटल | दीक्षाभिषेक-प्रकाशन |
| पंचम पटल | तत्त्वादिदीक्षा-प्रकाशन |
| षष्ठ पटल | पंचप्रणवाधिकार |
| सप्तम पटल | कालाधिकार |
| अष्टम पटल | अंशकाधिकार |
| नवम पटल | व्याधि एवं उपद्रव का विद्रावण |
| दशम पटल | भुवनादिदीक्षा निरूपण |
| एकादश पटल | अर्धसृष्टचादि निरूपण |
| द्वादश पटल | धारणादि क्रम से तत्त्वों का साक्षात्कार निरूपण। इदानीं तु तत्त्वविज्ञानमास्था हि सिद्धिस्तेषु यथा भवेत्। |

विज्ञानं धारणादिक्रमेण साक्षात्कारः। तेष्वविषयासिद्धिर्यथा स्यात्।
( स्व० त० पृ० २ )

| | |
|---|---|
| त्रयोदश पटल | यागाराधन प्रकार। |
| चतुर्दश पटल | मुद्रा प्रकाश |
| पंचदश पटल | छुम्ना निरूपण छुम्ना प्रकाश |

छुम्ना शब्द के विवरण प्रसंग में क्षेमराज ने कहा है—

छुम्मका तत्समयानुप्रविष्टसंचित्या पारिभाषिको संज्ञा। साधकम्प्रति प्राचुर्य्याश्रयेण।

( स्व० त० पृ० १२६ )

स्वच्छन्दतन्त्र अद्वैतवाद का प्रतिपादक होने के कारण प्रत्यभिज्ञा-दर्शन सम्प्रदाय में अधिक मान्यता प्राप्त कर चुका है। स्वच्छन्द-तन्त्र के प्रारम्भ में स्वच्छन्द भैरव के स्वरूप निरूपण में कहा गया है कि वे विश्वस्वरूप हैं, विश्वात्मा है, विश्व की सृष्टि एवं लय प्रभृति के कारण है। वे पर ( जिससे अधिक दूसरा प्रकाश नहीं है ) प्रकाश शरीर हैं। स्वच्छन्द भैरव समुद्र स्वरूप है। वे सभी प्रकार की सम्पत् का निधान स्वरूप है। उनमें प्रसार रूपा शक्ति कल्लोल स्थानापन्न होकर अवस्थान करती है और इसी में जगत् लहरी के बराबर भासमान होता है। स्वच्छन्द भैरव रूप जो ज्ञान जलधि है उसी में विराजमान शुक्तिरूपिणी शक्ति है। उसी शक्ति के भीतर निखिल जगत् मुक्ता रूप से प्रतीत हो रहा है—

विश्वैकरूपविश्वात्मविश्वसर्गादिकारणम्।
परप्रकाशवपुषं स्तुमः स्वच्छन्दभैरवम्॥
प्रसरच्छक्तिकल्लोल-जगलहरीकेलये ।
सर्वसम्पन्निधानाय भैरवाम्मोधये नमः॥
एकैव बोधजलधेः शक्तिशुक्तिर्जयत्यसौ।
यदन्तर्निखलं भाति मुक्तामयमिदं जगत्॥
स्मृतिमात्रविनिर्धूतनिःशेषाज्ञानकिल्विषाः।
गुरुसूक्तवरस्फारा विजयन्ते जगत्त्रये॥

( स्व० त० १ पृ० १ )

स्वच्छन्द तन्त्र के अन्तिम अंश में क्षेमराज ने अपनी उद्योत टीका में स्पष्ट रूप से इंगित किया है कि तन्त्रशास्त्र द्वैतवाद का समर्थक था। तन्त्रशास्त्र के प्राचीन व्याख्याताओं ने भी गतानुगतिक का अनुसरण कर भेद पक्ष में ही व्याख्यान किया। किन्तु क्षेमराज ने स्पष्ट रूप से कहा है कि व्याख्यान समीचीन नहीं हैं—

नाम्नैव भेददृष्टिर्विधूता येनास्वतन्त्रता त्वा।
श्रीमत्स्वतन्त्रतन्त्रं भेदव्याख्यां न तत् सहते॥

भेददर्शनसंस्कार-तन्तुसन्ततमादितः ।
स्वच्छस्वच्छन्दचित्स्वात्मसत्तत्त्वं नेक्षते जनः ॥

गतानुगतिकप्रोक्त-भेदव्याख्यातमोऽपनुत् ।
तेनाद्वैतामृतस्फीतः स्वच्छन्दोद्योत उद्गतः ॥

( स्व० त० १५ पृ० १४६ )

## मालिनीविजयतंत्र

मालिनीविजयतंत्र---यथार्थ रूप में द्वैतवाद का ही समर्थक है। परन्तु परवर्त्ती काल में अभिनवगुप्तपाद ने उसका शिवाद्वैत के पक्ष में व्याख्यान किया है। स्वच्छन्द, नेत्र एवं विज्ञान भैरव---पूर्वलिखित तीनों तन्त्रों पर क्षेमराज ने उद्योत टीका की रचना की है एवं मतंग तन्त्र के ऊपर वृत्ति की रचना कर शिवाद्वैत पक्ष का समर्थन किया है। हमारे कहने का तात्पर्य यही है कि पहले जो शैव तन्त्र काश्मीर में प्रचलित थे---सभी द्वैतवाद के ही प्रतिपादक थे। बाद में प्रत्यभिज्ञा के आचार्यों ने अद्वैतपक्ष में उन्हीं सब तन्त्रों का व्याख्यान कर द्वैतवाद के विरोधी---अद्वैतवाद का समर्थन किया।

## स्पन्दशास्त्र

स्पन्दशास्त्र के अन्तर्गत जो ग्रंथ हैं उन सबों में शिवाद्वैत पक्ष का विशद रूप से समर्थन किया गया है। इस प्रसंग में स्पन्दकारिका का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। इसका अपर नाम है स्पन्दसूत्र है। कारिका एवं सूत्र समान अर्थ में व्यवहृत होते हैं। स्पन्द कारिका में बावन कारिकायें हैं। इसकी पृष्ठभूमि शिवसूत्र का प्रतिपाद्य विषय ही स्पन्दकारिका में प्रतिपादित किया गया है। उत्पलभट्ट ने स्पन्द-कारिका के ऊपर स्पन्द दीपिका टीका की रचना की है। कल्लटभट्ट स्पन्दकारिका के रचयिता हैं। ये वसुगुप्त के प्रधान शिष्य थे। स्पन्द प्रदीपिका टीका के तिरपनवीं कारिका में निम्नोद्धृत श्लोक मिलता है—

वसुगुप्तादवाप्येदं गुरोस्तत्त्वार्थदर्शिनः ।
रहस्यं श्लोकयामास सम्यक् श्रीभट्टकल्लटः ॥

( स्प० का० पृ० ४ )

स्पन्दकारिका के टीकाकार क्षेमराज ने स्पष्ट रूप से कहा है कि स्वयं वसुगुप्त ही स्पन्दकारिका के रचयिता हैं--

इह हि विश्वानुजिघृक्षापरपरमशिवावेशोन्मीलितमहिमा 'स्वप्नोपलब्धोपदेशः श्रीमान् वसुगुप्ताचार्यो महादेवपर्वताद्भवदिच्छयैव महाशिलातल्लोल्लिखितान्यतिरहस्यानि शिवसूत्राण्यासाद्य प्रसन्नगम्भीरैरेकपंचाशता श्लोकैरागमानुभवोपपत्त्यैकीकारं प्रदर्शयन्संगृहीतवान्। तत्र पंचविंशत्या स्वरूपस्पन्दः, ( २ ) सप्तभिः सहजविद्योदयस्पन्दः ( ३ ) एकोनविंशत्या विभूतिस्पन्द उक्तः, इति त्रिनिष्यन्दमिदं स्पन्दशास्त्रम्। तत्र प्रथमनिष्यन्देऽस्मिन् स्तुतिपूर्वं प्रकरणार्थः श्लोकेनोपक्षिप्तः। ततश्चतुर्भिः श्लोकैः सोपपत्तिकं स्पन्दतंत्रं व्यवस्थापितम्। ततः श्लोकाभ्यां साभिज्ञानं तत्प्राप्तावुपाय उक्तः। श्लोकेनोपायविप्रतिपत्तिर्निरस्ता श्लोकेनोपाय एवोपेयप्राप्त्यानुरूप्यकथनेनोपोद्बलितः। तत एकेन तदुपायलभ्यं यादृगुपयेस्य स्वरूपं तदुपदर्शितम्। ततस्तदवष्टम्भात्संसाराभावः श्लोकेनोक्तः द्वयेनाभाववादिमतं व्युदस्यता तद्वैलक्षण्यं स्पन्दतत्त्वस्योक्तम्। श्लोकेन तदुल्लासितस्य कार्यस्य क्षयित्वेऽपि तदक्षयमित्याख्यातम्। एतदेव श्लोकाभ्यामुपपाद्याभाववाद एवोन्मूलितः। तत एकेन सुप्रबुद्धस्य सदैवैतत्प्राप्तिः। प्रबुद्धस्य तु पूर्वापरकोट्योरित्यावेदितम्। एकेन सुप्रबुद्धस्य प्रतीतेर्विषयविभाग उक्तः। ततोऽन्येन सुप्रबुद्धस्यावरणाभावे युक्तिरुपक्षिप्ता। श्लोकेनाप्रबुद्धस्य स्थगितस्वरूपतोक्ता। तत एकेन सुप्रबुद्धतालाभाय सततमुद्यतव्यमित्युक्तम्। श्लोकेन व्यवहारावस्था एव काश्चित्तदितरसकलवृत्तिक्षयरूपा उद्योगस्य विषय इत्यावेदितम्। ततोऽपि प्राप्तप्रबोधेन सुप्रबुद्धतायै योग्युचितसौषुप्ततमोवरणविदलने प्रजागरितव्यमित्युक्तं श्लोकत्रयेण--इति यस्योन्मेष इत्यादिः प्रबुद्धः स्यादनावृत इत्यन्तस्य तात्पर्यम्।

( स्प० का० पृ० १-२ )

स्पन्दकारिका के चतुर्थ निःस्पन्द में द्वितीय श्लोक स्पष्ट उल्लेख कर रहा है कि वसुगुप्त के साथ ही स्पन्दकारिका का सम्बन्ध है।

लब्ध्वाप्यलभ्यमेतज्ज्ञानघनं हृद्गुहान्तकृतनिहतेः।
वसुगुप्तवच्छिवाय भवति सदा सर्वलोकस्य॥

( स्प० नि० ७६ )

पहले ही कहा जा चुका है कि स्पन्दकारिका के ऊपर क्षेमराज ने जो टीका लिखी है उसका नाम है स्पन्द निर्णय। इस प्रसंग में इसका उल्लेख करना आवश्यक है कि क्षेमराज को छोड़कर रामकंठ एवं उत्पलभट्ट--इन दोनों ने स्पन्दकारिका के ऊपर टीका की रचना की है। क्षेमराज के मतानुसार स्पन्दकारिका में पचास कारिकाएँ हैं। उन्हें तीन परिच्छेदों में विभक्त किया गया है। हर एक परिच्छेद का नाम है निःस्पन्द। प्रथम निःस्पन्द में स्वरूप स्पन्द प्रतिपादित किया गया है। द्वितीय निःस्पन्द में सहज विद्योतक स्पन्द प्रतिपादित किया गया है। तृतीय निःस्पन्द में विभूति स्पन्द का प्रतिपादन किया गया है। एतद् व्यतिरिक्त जो चतुर्थ निःस्पन्द है उसमें केवल ग्रन्थकार के दीक्षागुरु एवं ग्रंथकार की स्तुति है।

नेत्रतंत्र स्वच्छन्द तंत्र का अनुकरण कर के लिखा गया है। इसमें शिव विषयक दीक्षा के सम्बन्ध में शिव को अमृतेश्वर अथवा मृत्युजिन्नाथ शब्द से उल्लेख किया गया है। उसमें कहा गया है कि एक दिन महेश्वर कैलास पर्वत में आसीन थे। उस समय पार्वती ने शिव को आनन्दयुक्त देखकर, उनका पाद स्पर्श कर यह प्रश्न किया:-- हे देव! तुम्हारे जो आपोमय चक्षु सर्वत्र विराजमान है उससे अग्नि कैसे उत्पन्न हुई? जो अग्नि ब्रह्मादिस्थावरान्त सभी को दग्ध करती है, हे परमेश्वर जिस चक्षु के द्वारा कामदेव दग्ध हो गये हैं, जिस चक्षु के द्वारा सभी जगत् अमृत के बराबर आप्यायित होता है। उस अमृत के बराबर शुभ्र एवं जगत् के तृप्ति कारक आपके भीतर से कालाग्नि के बराबर अग्नि कैसे उत्पन्न हुई? हे भगवन्, आप इन सब विषय में संक्षेप में बताने योग्य हैं? इसके उत्तर में शिव ने कहा--हमारे नेत्र के अभ्यन्तर में जो वह्नि अमृत रूप में विराजमान है उसी के सम्बन्ध में मैं कह रहा हूँ। इस प्रसंग में परमेश्वर ने देवी पार्वती को रहस्योपदेश दिया है। अतः इस तंत्र का नाम नेत्रतंत्र क्यों रखा गया इसका कारण यहाँ प्रकाशित किया गया है:--

यत्तदापोमयं देव चक्षुः सर्वत्र दृश्यते।
तस्मादग्निः कथं रौद्र उत्पन्नः कालदाहकः॥
प्रज्वालितं जगत् सर्वं ब्रह्मादिस्थावरान्तकम्।
कामस्तथैव निर्दग्धो लीलया परमेश्वर॥
देव नेत्रान्तरे वह्निस्त्वदृते कस्य दृश्यते।

किं वा वह्निमयं चक्षुस्तत्कथं न विभाव्यते ॥
येन वै चक्षुषा कृत्स्नं प्रसरंश्च जगत्पते ।
सर्वामृतमयेनैव जगदाप्यायसे क्षणात् ॥
तस्मात् कालानलप्रख्यः कुतो वह्निः प्रजायते ।
एतत्सर्वं समासेन भगवन् वक्तुमर्हसि ॥

( ने० त० १ पृ० १२–१४ )

नेत्रतंत्र बाइस अधिकारों में विभक्त है। इस नेत्र तन्त्र के ऊपर महामहेश्वर अभिनवगुप्तपाद के शिष्य श्रीक्षेमराज ने उद्योतटीका की रचना की है। मुद्रित तंत्र में प्रथम और द्वितीय अधिकार के स्थान में अधिकार शब्द का व्यवहार नहीं कर पटल शब्द का उल्लेख किया गया है। परम शिव का नेत्र असाधरण महत्त्व का है। ब्रह्मा, विष्णु—इन दोनों में नेत्र की ऐसी महिमा देखने में नहीं आती है। प्रथम पटल का प्रतिपाद्य विषय है विश्व के साथ श्रीमन् नेत्र का सामरस्य अर्थात् अभेद प्रतिपादन। द्वितीय पटल का विषय है मंत्रोद्धार। तृतीय अधिकार का विषय है अन्तर्याग एवं बहिर्याग का स्वरूप प्रतिपादन—

अधुना यजनं वक्ष्ये येन सिद्धयति मन्त्रराट् ।

( ने० त० पृ० ६१ )

चतुर्थाधिकार में दीक्षा है—

अथ दीक्षां प्रवक्ष्यामि भुक्ति-मुक्तिफलप्रदाम् ।

( ने० त० पृ० १०६ )

पचमाधिकार अभिषेक है—

अभिषेकं प्रवक्ष्यामि यथा यस्येह दीयते ।

( ने० त० पृ० ११६ )

षष्ठ अधिकार साधन विधि का है—

अमृतेश महात्मानं सर्वप्राणिषु जीवितम् ।
यथा सिद्धिप्रदं लोके मानवानां हितंकरम् ॥
पूर्वोक्तदुष्टसमनमपमृत्युविनाशनम् ।
आप्यायनं शरीरस्य शान्तिपुष्टिप्रदं शुभम् ॥

( ने० त० पृ० १२४ )

सप्तम अधिकार में सूक्ष्म ध्यान के सम्बन्ध में कहा गया है--

अतः परं प्रवक्ष्यामि ध्यानं सूक्ष्ममनुत्तमम् ।

( ने० त० पृ० १४५ )

अष्टमाधिकार में पर ध्यान का रूप कहा गया है--

अथ मृत्युंजयं नित्यं परं चैवाधुनोच्यते ।
यत् प्राप्य न प्रवर्तेत संसारे त्रिविधे प्रिये ।।

( ने० त० पृ० १७७ )

नवमाधिकार में परमेश्वर के विभिन्न प्रकार के रूपों के सम्बन्ध में कहा गया है—

निर्मलं स्फटिकं यद्वत् तन्तौ प्रोतं सितादिके ।
प्रतिबिम्बेन सर्वत्र येन येन हि रंजितम् ।
तत्तद्दर्शयतेऽन्येषां न स्वभावेन रंजितम् ।।
तथा तथैव देवेशः सर्वागमनियोजितः ।।
फलं ददाति सर्वेषां साधकानां हि सर्वतः ।
शिवः सदाशिवश्चैव भैरवस्तुम्बुरुस्तथा ।।
सोमसूर्यस्वरूपेण वह्निरूपधरो विभुः ।

( ने० त० पृ० २१३-२१५ )

दशमाधिकार में परमेश्वर की भैरवात्मता एवं भैरव की अनुगामिनी विभिन्न भैरवियों का रूप प्रदर्शित किया गया है—

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि भैरवागमेनोदितम् ।
भिन्नांजनचयप्रख्यं कल्पान्तदहनात्मकम् ।।
पंचवक्त्रं शवारूढं दशबाहुं भयानकम् ।
क्षपामुखगणप्रख्यं गर्जन्तं भीषणस्वनम् ।।

( ने० त० पृ० २२३ )

वज्रं हस्तं महावीरं परश्वायुधपाणिकम् ।
भैरवं पूजयित्वा तु तस्योत्संगगतां स्मरेत् ।।
प्रलयाग्निसमाकारां लाक्षासिन्दूरसप्रभाम् ।
ऊर्ध्वकेशीं महाकायां विकरालां सुभीषणाम् ।।

( ने० त० पृ० २२४-२५ )

एगारहवें अधिकार में उत्तरतन्त्र के सम्बन्ध में विवरण दिया गया है—

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि तन्त्रमुत्तरमुत्तमम् ।
मन्त्रेणानेन संसेव्यं सर्वसिद्धिफलोदयम् ॥

( ने० तृ० पृ० २३६ )

बारहवें अधिकार में कुलाम्नाय के सम्बन्ध में कहा गया है—

अथातः संप्रवक्ष्यामि कुलाम्नायनिदर्शनम् ।
यागं होमं जपं कार्यं येन सर्वमवाप्नुयात् ॥

( ने० त० पृ० २५२ )

तेरहवें अधिकार में नारायण के विभिन्न रूप की उपासना के सम्बन्ध में कहा गया है—

एवं वै मन्त्रराजस्य कौलिकश्चोदितो विधिः ।
पुनरन्यत् प्रवक्ष्यामि विधानं यत्फलप्रदम् ॥

( ने० त० पृ० २६० )

इस प्रकार मृत्युजिन्नाथ की नारायण, नरसिंह, वराह एवं वामन प्रभृति के रूप में उपासना के सम्बन्ध में कहा गया है। इस प्रकार सूर्यादि देवताकार में मृत्युजित् का आराधन प्रकार कहा गया है।

चौदहवें अधिकार में सर्वसिद्धिप्रद मन्त्रराज के सम्बन्ध में कहा गया है—

यदि देवपरत्वेन वर्णितो मन्त्र उत्तमः ।
सर्वेषामेव मन्त्राणां देवतानां च सर्वतः ॥
हृदयं परमं ह्येष मन्त्रराट् सर्वसिद्धिदः ।
किमन्यैर्मन्त्रमुख्यैश्च जप्तैरिष्टैर्वदस्व मे ॥

( ने० त० पृ० २७८–२७९ )

पन्द्रहवें अधिकार में मन्त्रराज कैसे सर्वरक्षाकारक होता है इस विषय का सर्णन किया गया है—

अतः परं प्रवक्ष्यामि सर्वरक्षाकरो यथा ।
मन्त्रनाथो महोग्रश्च रूपं रक्षोघ्नचोदितम् ॥

( ने० त० पृ० २८५ )

सोलहवें अधिकार में मृत्युजित् परमेश्वर की उपासना का प्रकार प्रदर्शित किया गया है—

परमार्थः परत्वेन मृत्युजित् सर्वतोमुखः ।
भावभेदेन यद्देव्याः मोक्षसिद्धिममीप्सता ॥

( ने० त० पृ० ८ )

येषु येषु समाचारो मया शास्त्रेषु भाषितः ।

( ने० त० पृ० ६ )

सत्रहवें अधिकार में चक्रराज के सम्बन्ध में विवरण दिया गया है तथा अमृतेश्वर मन्त्र को कवच एवं मंत्र में धारण करने का विधान बताया गया है—

पूर्ववन्मध्यतो नाम जीवान्तः कल्पयेत् सुधीः ।

( ने० त० पृ० ५६ )

अठारहवें अधिकार में अमृतेश्वरी की आराधना के सम्बन्ध में कहा गया है। एकोनविंश अधिकार में छाया छिद्र के द्वारा मातृवर्ग किस प्रकार से दृष्टिपात के द्वारा प्राणियों को पीड़ित करते हैं एवं उसका प्रतिविधान किस रूप से किया जाता है उसी का विवरण दिया गया है—

इदानीं श्रोतुमिच्छामि संशयो मे हृदि स्थितः ।
दृष्टिपातं प्रकुर्वन्ति मनुजं मातरः सदा ॥
असंख्यातास्तु ता देव्यो ह्यप्रमेयबलान्विताः ।
छयाच्छिद्रेण बाधन्ते योगिन्यो बलवत्तरा ॥

( ने० त० पृ० १२७ )

बीसवें अधिकार में योगिनी एवं शाकिनी के कार्य-कलाप के सम्बन्ध में विवरण दिया गया है।

उक्तं देवेन तत्सर्वं परिपृष्टं यन्मया ।
अधुना श्रोतुमिच्छामि संशयो हृदिस्थितः ॥
योगिन्यो मातरश्चैव शाकिन्यो बलवत्तराः ।
कथं परपुरात् प्राणान् क्षणादाकर्षयन्ति ताः ॥

( ने० त० पृ० २१५ )

एकीसवें अधिकार में मन्त्र के तात्पर्य का विवरण दिया गया है—

मन्त्राः किमात्मका देव किंस्वरूपाश्च कीदृशाः ।
किंप्रभावाः कथं शक्ताः केन वा संप्रचोदिताः ॥
( ने० त० पृ० २४८ )

बाइसवें अधिकार में अमृतेश्वर मंत्र का माहात्म्य प्रदर्शित है तथा मंत्रनाद एवं शक्ति के सम्बन्ध में पर्यायलोचन किया गया है—

विद्यावरणसंबद्धा मन्त्रकोटिविभूषिताः ।
क्रियाशक्तिस्वरूपास्तु संस्थिता विमलाः शुभाः ॥
सूक्ष्मा चैव सुसूक्ष्मा च ह्यमृतामृतसम्भवा ।
व्यापिनी चैव विख्याता शक्तितत्त्वसमाश्रिताः ॥
अलुप्तशक्तिसंबन्धाच्चिच्छक्तिसमधिष्ठिताः ।
( ने० त० पृ० ३२४–३२५ )

शैवागम एवं स्पन्दशास्त्र के सम्बन्ध में एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है । इसी प्रसंग में प्रत्यभिज्ञा दर्शन की रूपरेखा के सम्बन्ध में कुछ विवरण उपस्थित करना यहाँ आवश्यक है । प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के अन्तर्गत ग्रन्थिराशियों में ही काश्मीरी शिवाद्वैतवाद के सम्बन्ध में दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार उपलब्ध होता है । प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के अन्तर्गत असंख्य ग्रन्थ हैं । यद्यपि काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली के अनेकानेक प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाशित किये गये हैं, तथापि पांडुलिपि में सुरक्षित अगणित अप्रकाशित ग्रन्थ काश्मीर महाराज के ग्रन्थालय में वर्तमान हैं । प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के प्राचीन आचार्य सोमानन्दनाथ है—ऐसा शैव दर्शन के कुछ अध्यापकों का सिद्धान्त है । इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि वसुगुप्त ही सर्वप्रथम प्राचीनतम आचार्य हैं । वसुगुप्त अष्टम शताब्दी के अन्तिम भाग में अथवा नवम शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में विद्यमान थे । सोमानन्दनाथ वसुगुप्त के शिष्य रूप में ही परिचित हैं । प्रत्यभिज्ञा दर्शन का मौलिक ग्रन्थ शिवसूत्र के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में निम्नोद्धृत आख्यायिका शिवसूत्रविमर्शिनी में क्षेमराज ने निबद्ध की है ।

इह कश्चित् शक्तिपातवशोन्मिषन्माहेश्वरभक्त्यतिशयात् अनंगीकृतापरदर्शनस्थ-नागबोध्यादि-सिद्धादेशनः शिवाराधनपरः पार-

मेश्वर-नानायोगिनी-सिद्धसत्संप्रदाय-पवित्रितहृदयः श्रीमहादेवगिरौ महामाहेश्वरः श्रीमान् वसुगुप्तनामा गुरुरभवत् ।

कदाचिच्च असौ द्वैतदर्शनाधिवासितप्राये जीवलोके रहस्य-संप्रदायो मा विच्छेदि इत्याशयतः अनुजिघृक्षापरेण परमशिवेन स्वप्ने अनुगृह्य उन्निमिषितप्रतिमः कृतः यथा अत्र महीभृति महति शिलातले रहस्यम् अस्ति तत् अधिगम्य अनुग्रहयोग्येषु प्रकाशय इति । प्रबुद्धश्च असौ अन्विष्यन् तां महतीं शिलां करस्पर्शनमात्र-परिवर्तनतः संवादीकृतः संवादीकृतस्वप्नां प्रत्यक्षीकृत्य, इमानि शिवोपनिषत्संग्रहरूपाणि शिवसूत्राणि ततः समाससाद । एतानि च सम्यक् अधिगम्य भट्टश्रीकल्लटाद्येषु सच्छिष्येषु प्रकाशितवान् स्पन्द-कारिकाभिश्च संगृहीतवान् । तत्पारम्पर्य-प्राप्तानि स्पन्दसूत्राणि अस्याभिः स्पन्दनिर्णये सम्यक् निर्णीतानि ।

( शि० सू० वि० १ पृ० २–३ )

श्रीमहादेव गिरि की उपत्यका में एक शिलाखंड के नीचे शिवसूत्र निवद्ध था । कदाचित् महादेव गिरि में अवस्थित श्रीमान् वसुगुप्त के ऊपर अनुग्रह करने के लिये परम शिव ने यही निर्देश दिया कि महादेव गिरि के महान् शिलातल में रहस्य विद्यमान है । तुम उसे ज्ञात कर अनुग्रह योग्य व्यक्तियों में प्रकाशित करो । परमशिव का पूर्वोक्त स्वप्न प्रदर्शन कराने का आशय यही था कि जीवलोक चूंकि द्वैतदर्शन कि वासना से वासित है, इसलिये उसमें रहस्य सम्प्रदाय का विच्छेद न हो जाय । वसुगुप्त ने प्रबुद्ध होकर अन्वेषण करते हुए महान् शिलाखंड को प्राप्त किया एवं शिवोपनिषद् का संग्रह रूप शिवसूत्र लाभ किया । इस को लाभ कर वसुगुप्त ने श्री कल्लट आदि सत् शिष्यों के प्रास प्रकाशित कर स्पन्दकारिका समूह के द्वारा शिव सूत्र का आशय संगृहीत किया । शिवसूत्र के वार्तिक रचयिता भट्टभास्कर ने शिवसूत्र के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में जो कहा है वह निबद्ध किया गया है । महादेवगिरि ने गुरु वसुगुप्त के पास सिद्धादेश की महिमा से शिवसूत्र समूह प्राप्त हुआ था । वसुगुप्त ने भी भट्टकल्लट को शिवसूत्र का उपदेश दिया । भट्टकल्लट ने अपने स्पन्द सूत्र के द्वारा शिव सूत्र के आधार पर त्रिक मत का व्याख्यान किया । तत्त्वार्थचिंतामणिनाम्नी टीका के द्वारा उन्होंने शिवसूत्र के अन्तिम खण्ड का व्याख्यान किया । कल्लट ने भी अपने मातुल के

पुत्र प्रद्युम्न भट्ट को इस रहस्य विद्या का दान किया। प्रद्युम्न भट्ट ने भी अपने पुत्र श्रीमत् प्रज्ञार्जुन को विद्या दान किया। श्रीमत्-प्रज्ञार्जुन ने भी अपने शिष्य श्रीमहादेव भट्ट को रहस्य विद्या का उपदेश दिया। महादेव भट्ट ने भी श्रीमत् श्रीकंठ भट्ट एवं अपने पुत्र को उस रहस्य विद्या का दान किया। इस प्रकार परम्परा क्रम से शिवसूत्रविषयक रहस्य का उपदेश पाकर श्रीमान् भास्कर भट्ट ने इसके वार्त्तिक की रचना की है—

श्रीमन्महादेवगिरौ वसुगुप्तगुरुः पुरा।
सिद्धादेशात् प्रादुरासन् शिवसूत्राणि तस्य हि ॥
सरहस्यान्यतः साऽपि प्रादाद् भट्टार्यसूरये।
श्रीकल्लटाय सोऽप्येवं चतुःखण्डानि तान्यथ ॥
व्याकरोत् त्रिकमेतेभ्यः स्पन्दसूत्रैः स्वकैस्ततः।
तत्त्वार्थचिन्तामण्याख्यटीकया खण्डमन्तिमम् ॥
एवं रहस्यमप्येष मातुलेयाय चावदत्।
श्रीमत्प्रद्युम्नभट्टाय सोऽपि स्वतनयाय च ॥
श्रीमतप्रज्ञार्जुनाख्याय प्रादात् सोऽप्येवमावदत्।
श्रीमहादेवभट्टाय स्वशिष्यायाप्यसौ पुनः ॥
श्रीमच्छ्रीकण्ठभट्टाय प्रददौ स्वसुताय च।
तस्मात् प्राप्य करोम्येष सूत्रवार्तिकमादरात् ॥
दैवाकरिर्भास्करो अवग्रहमन्तेवासिगणेरितः।

( पृ० २–३ )

भट्टभास्कर स्वयं दिवाकर भट्ट के पुत्र थे।

शिवसूत्र के प्रादुर्भाव के वर्णन प्रसंग में भट्ट भास्कर ने संक्षेप में त्रिक शास्त्र के सिद्धान्त को प्रकाशित किया है। भट्ट भास्कर ने कहा है कि सबों की आत्मा में शिवता अखंड अपरिच्छिन्न रूप में विराजमान है। वे अहन्ता एवं इदन्ता आदि ज्ञानाभास के द्वारा आवृत है। उसी आवरण का विनाश करने के लिये एवं सभी जीवों को अपना शिव स्वरूप उपलब्ध कराने के लिये कृपाकुल परमेश्वर ने शिवसूत्र को प्रकाशित किया है :—

तत्रात्मन्येव शिवता सर्वस्याखण्डितैव हि ॥
सदास्त्यहन्तेदन्तादिर्ज्ञानाभासादिनावृता ।
तस्यावृतिविनाशाय स्वरूपज्ञप्तये शिवः ॥

स क्रमज्ञानपूर्वाणि सूत्राण्याह कृपाकुलः ।
स्वस्वरूपं शिवः साक्षात्तस्योन्मेष निमेषतः ।।
शक्तिप्रसरसंकोचनिबद्धावुदयव्ययौ ।
जगतो ज्ञानदेहस्य कलाचक्रस्य चोद्भवः ।।
तत्स्वरूपस्योपन्यासे बह्वचो विप्रतिपत्तयः ।
संस्थितास्तद्व्युदासार्थं शिवः सूत्रमरीरचत् ।। (पृ० ४–५)

जीव का शिवरूप में ज्ञान क्रमशः होता है। जिस जीव पर तीव्रतर शक्तिपात हुआ, वह शांभव ज्ञान के द्वारा, तीव्र, मध्य शक्ति के द्वारा अनुगृहीत जीव शक्ति ज्ञान के द्वारा एवं मन्दशक्ति पात के द्वारा अनुगृहीत जीव आणव ज्ञान के द्वारा उर्ध्व उर्ध्वतर सोपान अधिरोहण परम्परा क्रम में सर्वोर्ध्वपद लाभ करने में समर्थ होता है। इसके लिये अधिकारी जीवों की योग्यता के अनुसार सूत्र में सर्वोर्ध्वपद लाभ के विषय में क्रम का उपन्यास किया गया है। जगत् शिव का स्वरूप है। इसलिये जगत् चिद् रूप है। शिव के ही उन्मेष एवं निमेष के साथ जगत् का उत्पाद एवं निरोभाव सम्बन्ध है। उन्मेष शब्द का अर्थ है शक्ति का प्रसार एवं निमेष शब्द का अर्थ है शक्ति का संकोच। इस प्रकार कलाचक्र भी पूर्वोक्त कारण से उत्पन्न होता है—

तत्रात्मन्येव शिवता सर्वस्याखण्डितैव हि ।।
सदास्त्यहन्तेदन्तादिज्ञानाभासादिनावृता ।
तस्यावृत्तिविनाशाय स्वरूपज्ञप्तये शिवः ।।
सक्रमज्ञानपूर्वाणि सूत्राण्याह कृपाकुलः ।
स्वस्वरूपं शिवः साक्षात्तस्योन्मेषनिमेषतः ।।
शक्तिप्रसारसंकोचननिबद्धावुदयव्ययौ ।
जगतो ज्ञानदेहस्य कलाचक्रस्य चोद्भवः ।।
तस्व रूपस्योपन्यासे बह्वचो विप्रतिपत्तयः ।
संस्थितास्तद्व्युदासार्थं शिवः सूत्रमरीरचत् ।।

( शि० सू० वा० पृ० ४–५ )

शिवसूत्र के व्याख्यान में विमर्शिनीटीकाकार क्षेमराज एवं वार्तिककार भट्ट भास्कर ने भिन्न-भिन्न व्याख्यान दिया है। इन दोनों व्याख्यानों में किस स्थान पर भेद है, इस विषय को अवलम्बन कर एक सुन्दर निबन्ध बन सकता है। इन दोनों ग्रन्थों के अलावा

शिवसूत्र के ऊपर एक वृत्ति भी उपलब्ध होती है। इस वृत्तिग्रन्थ के साथ क्षेमराज प्रणीत विमर्शिनी का बहुत ऐक्य प्रतीत होता है। यह कहना बहुत कठिन है कि वृत्ति एवं विमर्शिनी में कौन अधिक प्राचीन है। प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के प्राचीन एवं प्रधान आचार्य है सोमानन्दनाथ। उनके द्वारा विरचित शिवदृष्टि ग्रंथ ने अतिशय प्रामाणिक रूप में समादर लाभ किया है। शिवदृष्टि के ऊपर उत्पलदेव ने एक वृत्ति की रचना की है। वर्तमान में उपलब्ध शिव-दृष्टि ग्रंथ सात आह्निकों में समाप्त है। इसमें चतुर्थ आह्निक के ७४ श्लोक तक उत्पलदेव की वृत्ति मिलती है, इसके बाद वृत्ति अनु-पलब्ध है। दृष्टि शब्द का अर्थ है दर्शन। दर्शन अर्थ में दृष्टि शब्द का प्रयोग बौद्ध दर्शन के प्राचीन ग्रंथ लंकावतार एवं मध्यमक कारि-का प्रभृति में देखने में आता है। शिवदृष्टि प्रकरण ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ आद्योपान्त अनुष्टुप छन्द में लिखा गया है। सोमानन्दनाथ नवमशताब्दी में विद्यमान थे। अभिनवगुप्त पाद ने भी शिवदृष्टि के ऊपर शिवदृष्ट्यालोचन नामक एक व्याख्यान ग्रन्थ की रचना की। वर्तमान काल में वह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

यह पहले कहा जा चुका है कि उत्पलदेव ने शिवदृष्टि ग्रन्थ के ऊपर वृत्ति की रचना की है। इसके अतिरिक्त उत्पलदेव ने ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा नामक एक ग्रंथ की भी रचना की ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-कारिका के आकार में निबद्ध है। कारिका एवं सूत्र शब्द पर्याय रूप में व्यवहृत होते हैं। सोमानन्दनाथ से उत्पल ने जो ज्ञान लाभ किया उसी का प्रतिविम्ब स्वरूप ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा ग्रन्थ है।

श्रीसोमानन्दनाथस्य विज्ञानप्रतिविम्वकम्।

( ई० प्र० वि० श्लो० २ )

उत्पलदेव का प्रत्यभिज्ञा सूत्र काश्मीर में अतिशय प्रामाणिक रूप में गृहीत हुआ है। प्रत्यभिज्ञा सूत्र के ऊपर निम्न लिखित व्याख्याग्रन्थ उपलब्ध होता है--

उत्पलदेव विरचित वृत्ति। उत्पलदेव ने वृत्ति के ऊपर भी टीका की रचना की थी। वह आज उपलब्ध नहीं है। अभिनवगुप्त विरचित प्रत्यभिज्ञा-विवृति-विमर्शिनी टीका से उत्पलदेव विरचित वृत्ति ग्रन्थ की टीका--विवृत्ति के सम्बन्ध में कुछ आभास मिलता है। इसके अतिरिक्त उत्पलदेव ने शिवदृष्टि के ऊपर एक टीका की

भी रचना की जो सर्वथा अनुपलब्ध है। ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-सूत्र के ऊपर उत्पल देव ने जिस वृत्ति की रचना की वह सम्पूर्ण उपलब्ध नहीं होती है। प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी जिसके रचयिता अभिनवगुप्त हैं। यह ग्रंथ लघ्वी शब्द से भी प्रचलित है। इसके अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञा-विवृत्ति-विमर्शिनी नामक ग्रंथ की अभिनवगुप्तपाद ने रचना की। यह ग्रंथ वृहतीवृत्ति नाम से प्रचलित है। इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्तपाद विरचित तंत्रालोक ग्रंथ प्रत्यभिज्ञा दर्शन का सर्व श्रेष्ठ ग्रंथ है। इसमें प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सभी आलोच्य विषयों का विस्तृत रूप से पर्यालोचन किया गया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जो दार्शनिक चिन्तास्रोत प्रवाहित हुआ उसके प्रधान उद्गम स्थान हैं वसुगुप्त एवं सोमानन्दनाथ तथा इसके बाद तदनुयायी आचार्य। इस निबन्ध में प्रत्यभिज्ञा दर्शन का ऐतिहासिक विवरण देना अभिप्रेत नहीं है। केवल इस शास्त्र को विस्तार के सम्बन्ध में सामान्यतः अवगति कराने के लिये मैंने इस विषय को रूपरेखा प्रदर्शित किया है। अभिनवगुप्त के बाद परवर्ती उल्लेख योग्य आचार्य हैं क्षेमराज। क्षेमराज अभिनवगुप्तपाद के ही शिष्य थे। क्षेमराज प्रणीत प्रत्यभिज्ञा हृदय ग्रंथ अतिशय उपादेय है। इसमें संक्षेप में प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सभी प्रतिपाद्य विषयों का पर्यालोचन किया गया है। क्षेमराज ने जिन ग्रंथो की रचना की उनमें स्वच्छन्द उद्योत, उद्योत नेत्र विज्ञानभैरव उद्योत, शिवसूत्रवृत्ति, शिवसूत्रविमर्शिनी, स्तव-चिन्तामणि-चिन्ता, उत्पलस्तोत्रावली टीका, परा प्रवेशिका, तत्त्व संदोह, स्पंद सन्दोह, स्पन्द निर्णय प्रत्यभिज्ञा हृदय प्रभृति ग्रंथ प्रसिद्ध है। क्षेमराज के बाद जयरथ का नाम विशेष उल्लेख योग्य है। जयरथ ने भी तन्त्रालोक के ऊपर टीका की है।

### वैशेषिक शिव-तत्त्व-निरूपण

शिवदृष्टि ग्रन्थ में सोमानन्दनाथ ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन सम्मत शिव का स्वरूप प्रदर्शित किया है। उनका कहना है कि सभी पदार्थों की आत्मा शिव रूप है, वेद्य होना ही पदार्थों की आत्मा अर्थात् स्वरूप कहा जा सकता है। सभी पदार्थ वेद्यता रूप आत्मा शिव ही है। स्वप्रकाश, परासंवित् से अभिन्न जो शिव हैं, उसके साथ वेद्य जात अगर अभिन्न नहीं हो जाय तब तो उन सबों का कभी भी प्रकाश नहीं हो पायेगा। कारण, वे सब जड़ हैं और इसके

फलस्वरूप जगदान्ध्य प्रसंग हो जायगा। इसलिये प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार बाह्य जड़ पदार्थ का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। बाह्यार्थ शिव स्वरूप होने के कारण प्रकाश रूप है एवं प्रकाश भी बाह्यार्थ रूप है। यही आशय भगवान् व्यास ने गीता में प्रदर्शित किया है—यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

( अध्याय ६, श्लो० ३० )

इसी प्रकार गीता में यह भी कहा गया है—सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। शिव दृष्टि ग्रन्थ के वर्तिकार ने भी कहा है कि अर्थ प्रकाशरूप होने के कारण परमात्मा स्वरूप हैं। इसलिये परमात्मा स्वयं विश्वरूप है एवं विश्व भी परमात्मा स्वरूप है। इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि षट्त्रिंशत्तत्त्व के अन्तर्गत प्रत्येक तत्त्व में षट्त्रिंशत्तत्त्व रूपता विद्यमान है। केवल शैव दर्शन में ही नहीं, अद्वैत वेदान्त दर्शन में भी कहा गया है कि ब्रह्म का परिच्छिन्न घटपटादि रूप में सार्वरूप्य विद्यमान है—अर्थात् सभी परिच्छिन्न पदार्थ एक दूसरे के साथ अभिन्न हैं, एक दूसरे को अतिक्रम कर पृथक् रूप में विद्यमान नहीं हैं। इसलिये घटपटादि विकल्प की कोई भित्ति नहीं है। जो जड़ शरीर को ही षट्त्रिंशत्तत्त्वमय शिव रूप समझ कर अर्चना करते हैं उन्हें सिद्धि की प्राप्ति होती है। केवल शरीर क्यों, बाह्य घटपटादि को भी पूर्वोक्त प्रकार रूप समझ कर उपासना करने से सिद्धि प्राप्त होती है। इस विषय में प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आचार्यगण के मत में ऐक्य है।

वृत्तिकृता चान्यत्रोक्तम् अर्थानां प्रकाशात्मतया परमात्मत्वेन विश्वरूपत्वात्। अन्यत्रोक्तम् एकैकत्र च तत्त्वे षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपता विद्यते इति। तथा वेदान्तिनोऽपि प्राहुः प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तो विकल्पश्च इति।

अतएव च शरीरमेव च ये षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं शिवरूपतया पश्यन्ति अर्चयन्ति, तेऽपि च सिद्धयन्ति घटादिकमपि वा तथाभिनिविश्य पश्यन्तीति नास्त्यत्र विवादः। ( शि० दृ० पृ० ४ )

शिव सभी भागों में आत्मा रूप में विराजमान हैं। सर्वत्र जिसने आत्मा नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की है वह शिव छोड़कर और कुछ नहीं है। वे आनन्द-चिद् रूप हैं—उसमें स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। इस आनन्द को निर्वृत्ति शब्द से उल्लेख किया जाता है। यह

निर्वृत्तिरूप आनन्द साधारण आनन्द नहीं है---स्वप्रकाश एवं स्वरूप में विश्रान्ति है। आनन्द के साथ शिव का नित्य सम्बन्ध है। फलतः भगवान् विज्ञानानन्द रूप है। यही शिव तत्त्व है। निष्कर्ष यह है कि परमेश्वर की पाँच शक्तियाँ है---चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्ति। चित् शक्ति के द्वारा शिव स्वप्रकाश रूप में भासमान होता है। यही पाँच शक्तियाँ भासमान घटपटादि पर्यन्त सभी पदार्थों में स्फुरित हो रही हैं।

## सदाशिवतत्त्व का स्वरूप विश्लेषण

प्रमेय ( ज्ञेय ) का ज्ञान प्रमाण के द्वारा होता है। एवं यह ज्ञान प्रमाता में जाकर विश्रान्ति लाभ करता है। इस विषय को शैव दर्शन में प्रमाण उपारोह क्रमशब्द से कहा गया है। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए श्रीविज्ञान-भट्टारक मे कहा गया है कि ग्राह्य एवं ग्राहक अर्थात् ज्ञेय एवं ज्ञाता का ज्ञान सभी देहधारी मनुष्यों में समान है। योगियों का यही वैलक्षण्य है कि ज्ञेय एवं ज्ञाता के सम्बन्ध को भलीभाँति जानते रहते हैं। ज्ञेय का प्रकाश ज्ञानाधीन है। ज्ञान ही प्रकाशरूप है। ज्ञान की अभाव दशा में ज्ञेय अपने अस्तित्व को किसी प्रकार से प्रमाणित नहीं कर सकता है। प्रदर्शित प्रमाण उपारोह क्रम से जब विमर्शमय ज्ञानरूप प्रमाता के साथ नील सुख देह प्राणादि का अभेद-आवेश ज्ञान होता है तो वह अन्त में जाकर सभी ज्ञेय वर्ग के ज्ञान उत्पादन में उपाय होता है। पहले ही कहा जा चुका है कि परम शिव के साथ अभिन्न परा शक्तिरूपा चिति देश कालादि के द्वारा अपरिच्छिन्न है। चिति का परिच्छेद-राहित्य स्वीकार कर सभी भेद वादियों का मत प्रदर्शित किया गया है। यह चिति परम शिव से भिन्न नहीं है। जो परम शिव है वही चिति-शक्ति है। चिति को जो पुनः पुनः स्वतन्त्र कहा गया है---इसके द्वारा यही प्रतिपादित किया गया है कि चिति निरन्तर स्पन्दात्मिका एवं क्रिया समन्विता है ; जैसे अनायास में मोक्ष लाभ करने में उपायभूता है ऐसे ही वे स्वयं उपेय हैं। उपाय एवं उपेय-इन दोनों रूपों में चिति को समझना चाहिए--

अपि च विश्वं नील-सुख-देह-प्राणादि, तस्य या सिद्धिः-प्रमाणोपारोहक्रमेण विमर्शमयप्रमात्रावेशः, सैव हेतुः---परिज्ञाने उपायो यस्याः। यदुक्तं श्रीविज्ञानभट्टारके। ( पृ० ३७ )

इसमें प्रश्न उठता है कि परम शिव के साथ अभिन्न चिति अगर विश्व का हेतु हो जाय तब तो चिति को विश्व निर्माण में उपादान की अपेक्षा रह जायगी—

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम् योगिनां तु विशेषोऽयं संबन्धे सावधानता इति। चितिः इति एकवचनं दश कालाधनवच्छिन्नताम् अभिदधत् समस्तभेदवादानाम् अवास्तवतां व्यनक्ति। स्वतन्त्रशब्दो ब्रह्मवादवैलक्षण्यम् आचक्षाणः चितो माहेश्वर्यसारतां ब्रूते। विश्व इत्यादिपदम् अशेषशक्तित्वं, सर्वकारणत्वं, सुखोपायत्वं महाफलं च आह। ( प० ह्० पृ० ८७–३३)

और इसका फल यह होगा कि भेदवाद स्वीकार करना पड़ेगा। कारण चिति अगर अपेक्षित उपादान से भिन्न हो जाय तब तो भेदवाद ही स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रश्न के समाधान में प्रत्यभिज्ञा-सम्प्रदाय के आचार्यगण कहते हैं कि चिति विश्व सृष्टि में स्वतन्त्र है। वह किसी के इच्छाधीन नहीं है।

काश्मीरी शैव दर्शन के अनुसार भगवान् का सर्वथा स्वातन्त्र्य है, वे अपनी इच्छा से प्रवृत्त होते हैं। अलंकारतन्त्रप्रजापति श्रीमत् आनन्दवर्द्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक ग्रंथ में नरसिंह महिमा के प्रदर्शन-प्रसंग में मंगलाचरण करने के समय में कहा है :—

स्वच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः। ( ध्व० लो० श्लो० १ पृ० ३ )

विष्णु ने नृसिंह-मूर्ति-धारण स्वयं अपने स्वातन्त्र्य शक्ति के अनुसार किया। इसमें किसी का नियोग नहीं था। परमेश्वर का सभी कार्यों में स्वातन्त्र्य विद्यमान है, इसका विवरण इस विषय के टीकाकार अभिनवगुप्तपाद ने स्पष्ट रूप से दिया है। शैव दर्शन का प्रभाव काश्मीरी आलंकारिकों पर किस प्रकार था इस विषय में मैंने दीर्घ काल से गवेषणा की है। अपने क्षुद्र-सामर्थ्य के अनुसार एक पृथक् निबन्ध में इस विषय पर पर्यालोचन करूंगा।

ब्रह्मवाद में इस अंश में प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मौलिक सिद्धान्त के साथ भेद है। इसलिये चिति को जगत् सृष्टि में किसी उपादान की अपेक्षा नहीं है। चिति अगर उपादान सापेक्ष हो जाय तब उसका स्वातन्त्र्य व्याहत हो जायगा। इसका फल यही होगा कि शैव सिद्धान्त सम्मत विश्व के कारण रूप में वह परिगणित नहीं

हो सकेगा। इसके उत्तर में कहा गया है कि चिति विश्व के उन्मीलन में मिति स्वरूप है। चिति रूप मिति में ही विश्व प्रकाशमान हो रहा हैं। दर्पण में जैसे नगर प्रकाशमान होता है, नगर जैसे दर्पण से भिन्न नहीं है, परन्तु दर्पण से भिन्न रूप में भासमान होता है ऐसे ही विश्व चिति स्वरूप होने पर भी चिति रूप दर्पण में भासमान विश्व भिन्न रूप से प्रतीत होता है। चिति में जो विश्व का प्रकाश है--इस प्रकाश को उन्मीलन शब्द से कहा गया है। यह उन्मीलन किसी पदार्थ का अभिनव आविर्भाव नहीं है। अनभिव्यक्त रूप में अवस्थित रूप की ही अभिव्यक्ति है। अनभिव्यक्ति अवस्था में भी जगत् प्रकाशात्मिका चिति के साथ अभिन्न होकर अवस्थान करता है।

पराशक्तिरूपा परमशिव से अभिन्ना चिति को विश्व का कारण कहा गया है। चिति से विश्व का उन्मेष किस प्रकार होता है इसका विस्तृत विवरण सभी प्रमाणिक ग्रन्थों में दिया गया है। ग्राह्य-ग्राहक के भेद से विश्व नानारूप परिग्रहण करता है। शिव को अपरिच्छिन्न चिद् रूप कहा गया है जिससे विश्व का प्रकाश होता है। इस अवस्था में ज्ञान रूपता ही प्रधान रूप में भासमान होती है। इसके बाद जो शक्ति तत्त्व है उसमें स्पन्दरूपा क्रिया विद्यमान है। यह शिव से अभिन्न है। इसमें ज्ञान और क्रिया दोनों एकात्मा रूप में अवस्थान करते हैं एवं आनन्दांश प्रधान रूप में प्रतीत होता है। शिव एवं शक्ति अवस्था सर्वप्रकार प्रकाश अवस्था से अतीत है। इसके बाद सदाशिव तत्त्व का प्रकाश होता है। शिव एवं शक्ति की मिलित अवस्था से जिस सदाशिवतत्त्व का प्रकाश होता है, उसका रूप होता है 'अहम् इदम्'। इसमें अहम्, इदम्--आकार लेकर ज्ञान भासमान होता है। इदं शब्द के द्वारा बाह्य विश्व को समझा जाता है। एवं अहम शब्द के द्वारा प्रमाता को समझा जाता है। यह अहम्रूप --परिच्छिन्न है। यही परमशिव का प्रकाश है। इदं शब्द का विषय जो जगत् है वह चिदात्मक अहं रूप में अन्तर्लीन है। सदाशिव तत्त्व में ही 'अहम्' अर्थात् परमशिव 'इदम्' अर्थात् विश्व रूप में प्रकाशमान होने के लिये जा रहा है। इस सदाशिव तत्त्व में अहम् रूपता के द्वारा इदम् रूपता आच्छादित होकर अस्फुट रूप में भासमान है। इस अवस्था में ग्राह्य विश्व जो आगे अहन्ता से पृथक् रूप में प्रकाशमान होगा, वह सदाशिव के साथ भिन्न

अभिन्न रूप में अवस्थान करता है। अर्थात् इस अवस्था में विश्व को सदाशिव से पूर्ण रूप में अभिन्न भी नहीं कहा जा सकता है, कारण इदम् रूपता का तो प्रकाश हो ही गया है। ऐसे ही इस अवस्था में विश्व को सदाशिव से सर्वथा भिन्न भी नहीं कहा जा सकता है, कारण अहम् रूपता के द्वारा इदम् रूपता आच्छादित रहने के कारण अस्फुट रूप में विश्व इदम् रूप से प्रकाशमान हो रहा प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आचार्यगण कहना चाहते हैं कि 'अहम् इदम्'—इस ज्ञान में सत्ता अर्थात् अस्तित्व का उल्लेख किया गया है। 'स्वतः' अर्थात् 'इदम् सत्' अर्थात् विद्यमान है। यही इस ज्ञान में भासमान होता है। इसलिये इस अवस्था को सदाख्य तत्त्व भी कहा जाता है। सत् सम्बन्धी जो तत्त्व है वही सदाख्य तत्त्व है। सदाशिव तत्त्व में प्राप्त जो विश्व है उसके ग्राहक प्रमाता को मन्त्र महेश्वर कहा गया है। तत्ततत्त्व में ग्राह्य विश्व के भेद से ग्राहक प्रमाता का भी भेद कहा गया है। मन्त्रमहेश्वरनामक प्रमातृवर्ग सदाशिव के द्वारा नियन्त्रित है। यही अवस्था परमेश्वर की अप्रतिहत इच्छा द्वारा कल्पित है।

अथ विश्वस्य स्वरूपं विभागेन प्रतिपादयितुमाह। तन्नाना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात्। तत् विश्वं नाना—अनेकप्रकारम्। कथं? अनुरूपाणां परस्परौचित्यावस्थितीनां ग्राह्याणां ग्राहकाणां च भेदात्—वैचित्र्यात्। तथा च सदाशिवतत्त्वे अहन्ताच्छादित-अस्फुटेदन्तामयं यादृशं परापररूपं विश्वं ग्राह्यं तादृगेव श्रीसदाशिवभट्टारकाधिष्ठितां मन्त्रमहेश्वराख्यः प्रमातृवर्गः। परमेश्वरेच्छावकल्पिततावस्थानः। ( प्र० ह्रृ० पृ० ४०—४१ )

सदाशिव रूप जो प्रमाता है उसे अपरिच्छिन्न चिद्रूप समझना चाहिये। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सदाशिव का प्रमातृवर्ग मन्त्रमहेश्वर शब्द से पुकारा जाता है एवं इन सब मंत्रमहेश्वर रूप प्रमातृवर्गों का 'अहम् इदम्'—इस प्रकार ज्ञान होता है। सदाशिव तत्त्व में इच्छा का ही प्राधान्य है एवं इदम् रूप में भासमान विश्व का अस्फुट अज्ञान है। अहन्ता ज्ञान का प्रधान है। प्रशान्त चित्त समुद्र में अस्फुट अवभास होने के कारण इस ज्ञान का निमेष शब्द से उल्लेख किया गया है। एक अपरिच्छिन्न अखंड चित् विराजमान हैं और उसी में अहन्ता एवं इदन्ता—दो रूपों से

विभक्त होकर भासमान हो रहे हैं। षटत्रिंशत्तत्त्व संदोह में विवरण कार राजानक आनन्द ने कहा है कि इस अवस्था में विश्व चित्र उन्मीलित होने जा रहा है। इसलिये इदम् शब्द बाह्य विश्व अस्फुट रूप में ज्ञान का विषय हो रहा है।

तत्र प्रोन्मीलितमात्रचित्रकल्पतया इदमंशस्य अस्फुटत्वात् इच्छा-प्राधान्यम्। ( प्र० ह्० भू० पृ० १० )

इसमें इच्छा शक्ति का ही प्राधान्य है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सदाशिव तत्त्व ही परमशिव का प्रथम आभास है। इस अवस्था में एक अपरिच्छिन्न चिति ज्ञाता एवं ज्ञेय रूप में अर्थात् प्रमाता एवं प्रमेय रूप में भासमान हो रहा है। चिद् रूप परम-शिवको छोड़कर जब विश्व का कुछ स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है तब तो ज्ञाता एवं ज्ञेय रूप में चिति का विभाग स्वीकार करने से यही स्वीकार करना पड़ता है कि एक चिति ही स्वयं ज्ञाता रूप में अपने का विषय कर रहा है। परमार्थतः ज्ञेय वस्तु भी चिद् रूप होने के कारण ज्ञाता चिति से अभिन्न है।

### ईश्वर तत्त्व

सदाशिव तत्त्व के बाद ईश्वर तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। सदाशिव तत्त्व से इसका वैलक्षण्य यही है कि इसमें अहन्ता-ज्ञान एवं इदन्ता-ज्ञान दोनों स्फुट रूप में भासमान हो रहे हैं। इस अवस्था में इदम् शब्द से बाह्य विश्व किंचित् अधिक स्फुट रूप में ज्ञात होता है। इस अवस्था को उन्मेष कहा जाता है, अर्थात् जो विश्व आगे जाकर पूर्ण रूपेण प्रकाशमान होगा, उसका उन्मेष हो रहा है। इस अवस्था में ज्ञान ही प्रधान है। षटत्रिंशत् तत्त्व संदोह के विवरण में राजानक आनन्द ने कहा है कि ईश्वर तत्त्व में वेद्य पदार्थों का स्फुटावभास होने के कारण इसमें ज्ञान शक्ति का उद्रेक समझना चाहिये।

अत्र वेद्यजातस्य स्फुटावभासनात् ज्ञानशक्त्युद्रेकः। राजानक जय-रथ का प्रत्यभिज्ञाहृदयम्। ( भू० पृ० ११ )

ईश्वर तत्त्व में ईश्वर तत्त्व का जो परिच्छिन्न प्रमाता है उसे मन्त्रेश्वर कहा जाता है। यह मन्त्रेश्वररूप प्रमातृरूप ईश्वर के द्वारा अधिष्ठित है। सदाशिव तत्त्व में जैसे ज्ञान का आकार होता है--

'अहम्-इदम्' वहां ईश्वर तत्त्व में जो ज्ञान होता है उसका आकार होता है 'इदम्-अहम्'। इस अवस्थान में भी विश्व सर्वथा चिद्रूप परमशिव से भिन्न भासमान नहीं होता है।

ईश्वर तत्त्वे स्फुटेदन्ताहन्तासामानाधिकारण्यात्म यादृक विश्वं ग्राह्यं तथाविध एव ईश्वरभट्टारकाधिष्ठितो मन्त्रेश्वरवर्गः।

( प्र० ह्रु० पृ० ४१ )

## शुद्ध विद्या

इस तत्त्व को कहीं शुद्ध विद्या कहीं सद्विद्या तत्त्व से उल्लेख किया गया है और कहीं विद्या तत्त्व मात्र से उल्लेख किया गया है। विद्या तत्त्व शुद्ध विद्या तत्त्व, सत् तत्त्व--एक ही अर्थ होता है। इस अवस्था में अहम् अंश एवं इदम् अंश का ज्ञान पृथक् रूप से होता है। वस्तुतः इस अवस्था में भेदाभेद स्वीकार किया गया है। सद् विद्यातत्त्व में अहम् अंश एवं इदम् अंश समान रूप से भासमान होते हैं। इस अवस्था को समझाने के लिये प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आचार्यो ने कहा है कि एक तुलादंड के दो पार्श्वों में अवस्थित दो तुलापात्र समान रूप में जो अवस्थान करते हैं तो उनकी जो स्थिति होती है, सदाशिव तत्त्व में अहन्ता एवं इदन्ता की भी वही स्थिति समझनी चाहिये। एक ही चित् में दो अंश भेदाभेद रूप में भासमान हो रहे हैं। इस अवस्था में क्रिया शक्ति ही प्रधान है, यह पहले ही कहा जा चुका है। इस अवस्था में जो प्रमातृवर्ग हैं उसे मन्त्र शब्द से कहा जाता है। इस प्रमातृवर्ग के अधिष्ठाता हैं अनन्त भट्टारक। इस अवस्था में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसका आकार होता है--'इदम्-इदम्' 'अहम्-अहम्'। इदम् शब्द वाच्य विश्व एवं अहम् शब्द वाच्य परमात्मा परस्पर भिन्न एवं अभिन्न रूप में प्रतीत हो रहे हैं--यह पहले ही कहा जा चुका है। इस भेदाभेद विमर्श से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इदम् अंश जैसे अहम् अंश से भिन्न है, ऐसे ही इदम् अश अहम् अंश के साथ अभिन्न भी है। इन दोनों में सामानाधिकरण्य विद्यमान है। शिव तत्त्व में केवल अकृत्रिम अहम् रूपता का ही विमर्श होता है। सदाशिव तत्त्व में विमर्श का आकार होता है '--अहम् इदम्' एवं ईश्वर तत्त्व में विमर्श का आकार होता है 'इदम् अहम्'। इन तीन प्रकार के विमर्शों में जिसे पहले उल्लेख किया जाता है उसी का प्राधान्य समझना चाहिये।

विषय को स्पष्ट करने के लिये यह पुनः पुनः कहा जा चुका है कि 'इदम् अहम्' में जो विमर्श है उसका विभाजन करने से 'अहं अहं' 'इदं इदं'···पर्यवसान में ऐसा ही ज्ञान होता है। अर्थात् दोनों का ही प्राधान्य समान रूप में भासमान होता है।

विद्यापदे श्रीमदनन्तभट्टारकाधिष्ठिता बहुशाखावान्तरभेदभिन्ना यथाभूता मन्त्राः प्रमातारः, तथाभूतमेव भेदैकसारं विश्वमपि प्रमेयम्। ( प्रं० ह्० पृ० ४१ )

माया तत्त्व के ऊर्ध्व में शुद्ध विद्या के तत्त्व निम्न देश में एक श्रेणी का प्रमातृवर्ग है जिसका नाम है विज्ञानाकल। विज्ञानाकल प्रमातृवर्ग कर्तृत्वशून्य है। कला शब्द का अर्थ कर्तृत्व है। यह प्रमातृवर्ग शुद्ध ज्ञान स्वरूप है। विज्ञानाकल प्रमातृवर्ग का प्रमेय कौन है--इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि सकल एवं प्रलयाकल नामक दो प्रमातृवर्ग हैं—यही उनके प्रमेय हैं। यह सकल एवं प्रलयाकल विज्ञानाकल के साथ अभिन्न है। इस प्रसंग में यह भी कहा गया है कि सकल एवं प्रलयाकल रूप प्रमेय के साथ विज्ञानाकल रूप प्रमाता का अपनी पूर्वावस्था में परिचय विद्यमान था। प्रलयाकल प्रमातृवर्ग का प्रलय केवली शब्द से भी निर्देश किया जाता है। विज्ञानकलरूप प्रमातृवर्ग का प्रमेय प्रलयाकल एवं सकल के साथ अभेद ज्ञान विद्यमान है।

मायोर्ध्वे यादृशा विज्ञानकलाः कर्तृताशून्यशुद्धबोधात्मानः तादृशमेव तदभेदसारं सकल--प्रलयाकलात्मक--पूर्वावस्थापरिचितम् एषां प्रमेयम्। ( प्र० ह्० पृ० ४१ )

शुद्ध तत्त्व अवस्था तक परमशिव की जो अभिव्यक्ति है उसको शुद्धाध्वन् शब्द से कहा गया है। अध्वन् शब्द का अर्थ है पथ। इस अवस्था की अभिव्यक्ति जड़ावस्था से सर्वथा विविक्तरूप में विद्यमान है। शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर एवं शुद्ध विद्या--इन पाँच-तत्त्वों की अभिव्यक्ति को शुद्ध अध्वा से पुकारा जाता है। शुद्ध विद्या तत्त्व तक परमशिव का स्वरूप आवृत नहीं हुआ; क्योंकि अवरण कारिणी तो माया है। माया तत्त्व का अभी भी उन्मेष नहीं हुआ है।

### माया तत्त्व

माया तत्त्व का गुरुत्व प्रत्यभिज्ञा दर्शन में समधिक है। माया

आवरण शक्ति विशिष्ट है। इसलिये माया तत्त्व के बाद परमशिव-रूपता आवृत्त हो गई है। माया कंचुक के द्वारा आवरण करती है। माया से पांच प्रकार कंचुक उत्पन्न होते है। पूर्व में जो 'अहम् अहम्', 'इदम् इदम्', रूप में अपरिच्छिन्न चिति भासमान हो रही थी अब माया तत्त्व के उन्मेष के साथ ही इदम् अंश से अहम् अंश पृथक् रूप से भासमान होने लगा। अहं के साथ इदं का परिच्छेद उत्पन्न हो गया। अहम् और इदम् परस्पर सम्पूर्ण से विच्छिन्नावस्था में आगया। केवल यही नहीं, सर्वत्र माया के द्वारा आवरण करने के फलस्वरूप भेद का साम्राज्य हो गया। माया तत्त्व के उन्मेष के पहले जहां सर्वत्र अभेद ही प्रतीत होता था अब माया तत्त्व के आने के बाद सर्वत्र भेद का ही साम्राज्य फैल गया है। अहं इदं से भिन्न हो गया एवं इदम् अनन्त भेद में प्रकाशमान होने लगा। इसी परिच्छेद का प्रत्यभिज्ञा दर्शन में संकोच शब्द से उल्लेख होता है। अद्वैत वेदान्त में माया की आवरण शक्ति एवं विक्षेप शक्ति स्वीकार की गई है। माया ब्रह्म चैतन्य का आवरण कर अपरिच्छिन्न ब्रह्म को परिच्छिन्त बनाकर विक्षेप शक्ति के द्वारा उसके सामने में मिथ्या प्रपंच की सृष्टि करती है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में माया तत्त्व से जो पांच प्रकार तत्त्व उत्पन्न होते हैं उन्हीं पांच तत्त्वों को कंचुक कहा गया है। माया तत्त्व अवस्था का प्रमाता शून्य का प्रमाता है। इस प्रमाता का प्रलय केवली रूप प्रयलकेवली शब्द से कहा जाता है। प्रमाता का प्रमेय वर्ग प्रलोनकल्प है। प्रमेय वर्ग के प्रलीनप्राय होने के कारण ही इस प्रमेय के प्रमाता को प्रलय-केवली कहा गया है। प्रमेय वर्ग के प्रलीन रहने के कारण यह शून्य का ही प्रमाता हो सकता है। इस अवस्था में प्रमाता को अहन्ता एवं इदन्ता का स्फुटावभास नहीं होता है। इसके बाद भूमि तत्त्व पर्यन्त के प्रमाता को सकल कहा जाता है। सकल और प्रमातृवर्ग परस्पर भिन्न एवं परिच्छिन्न है। इसलिये सकल रूप प्रमातृ वर्ग का प्रमेय भी परिच्छिन्न है। सकलरूप प्रमाता जीव है जिसको अपने स्वरूप का बोध नहीं है। इसमें विशेष ध्यान देने की बात यह है कि विज्ञानकेवलीरूप प्रमातृवर्ग से लेकर सकल प्रमातृवर्ग तक प्रत्यभिज्ञा दर्शन के किसी अधिष्ठात्री देवता का उल्लेख नहीं किया गया है। कारण, इस अवस्था में माया अपने कंचुक के द्वारा ईश्वर भाव का आवरण करती है। साधारण संसारी जीव को

सकल प्रमातृ वर्ग के अन्तर्भूत समझना चाहिये। यह पहले ही कहा जा चुका है कि माया से उत्पन्न पांच तत्त्वों को कंचुक कहा जाता है।

## परमेश्वर सिद्धि

पूर्व परिच्छेद में कहा जा चुका है कि जीव शिवस्वरूप हैं--इसका प्रत्यभिज्ञान करना ही प्रत्यभिज्ञा दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। अब प्रश्न होता है कि परमेश्वर का प्रमाण के द्वारा प्रकाश होने से ही परमेश्वर के साथ जीव का अभेद प्रत्यभिज्ञान हो सकता है। लोक-व्यवहार में देखने में आता है कि मौलिक सुदृढ़ प्रमाण के प्रभाव से जिस वस्तु का प्रकाश होता है तद्विषयक मोह के उत्पन्न होने पर उस मोह का अपसारण करने के लिये प्रत्यभिज्ञा अपेक्षित होती है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रमाण के द्वारा प्रकाशित वस्तु में उत्पन्न मोह के अपसारण के द्वारा प्रत्यभिज्ञा पूर्वोक्त वस्तु के व्यवहार का साधन होता है। इसलिये जहाँ वस्तु का पूर्व प्रकाश प्रमाण के द्वारा पहले ही सिद्ध हुआ है उस स्थल में प्रत्यभिज्ञा का निरूपण अपेक्षित हो सकता है, परन्तु जहाँ प्रमाण के द्वारा वस्तु का अवभास ही सिद्ध नहीं हुआ वहाँ पहले ही प्रत्यभिज्ञा कैसे व्यवहार का साधन होकर व्यवहार्य वस्तु विषयक मोहापसारण रूप फल का जनक होगा? इसलिये जीव को शिवरूप में प्रत्यभिज्ञान करने के पहले मौलिक प्रमाण के द्वारा शिव को पहले सिद्धकर लेना चाहिये। ईश्वर का प्रमाण के द्वारा अवभास होने के बाद जीव ईश्वर है--इसमें जो मोह संभावित होगा उस मोह का अपसारण करने के लिये प्रत्यभिज्ञा पूर्वोक्त रूप से व्यवहार का साधन बनेगी। परन्तु शैव सिद्धान्त में ईश्वर को सिद्ध करने के लिये प्रमाण व्यापार का उपयोग स्वीकृत नहीं होता है। इसमें तो पहले ही व्यवहार के साधन रूप में प्रत्यभिज्ञा का ग्रहण किया गया है। जीव को शिव रूप में प्रत्यभिज्ञान करने के लिये प्रमाण व्यापार से निरपेक्ष होकर भी शुद्ध प्रत्यभिज्ञा समर्थ है--यही शैव सिद्धान्त का प्रतिपाद्य है। इसलिये प्रत्यभिज्ञा स्वरूप ही प्रत्यभिज्ञा दर्शन का प्रथमतः प्रतिपाद्य अर्थात् साध्य है। और इसमें महान् अनिष्टापति हो जायगी का अनवभासमानता, व्यवहार साधन विषयता का व्यापक है। अर्थात् जहाँ-जहाँ व्यवहार साधन विषयता रहेगी वहाँ-वहाँ अनवभासमानत्व रहेगा। अनवभासमानत्व अनवभास-

मानत्व रहने से अवभासमानत्व नहीं रह सकता है। ईश्वर में अनवभासमानत्व का विरोधी अवभासमानत्व रहने के कारण व्यापकविरुद्ध की उपलब्धि इस प्रसंग में व्यापकविरुद्ध की उपलब्धि का विशेष विवरण धर्म कीर्त्ति प्रणीत न्यायविन्दु ग्रन्थ में विस्तृत रूप से प्रतिपादित है। निषेध्य के व्यापक के विरुद्ध की उपलब्धि का उदाहरण प्रदर्शित रूप में दिया जा सकता है--इस स्थल में तुषार स्पर्श नहीं है कारण यहाँ वह्नि है। इस प्रकार से अनुमान के आकार का उल्लेख किया गया है। यहां इस स्थल में धर्मी अर्थात् पक्ष का तुषार स्पर्श नहीं है--इससे साध्य का और यहाँ वह्नि है इससे अनुमान का प्रतिपादन हुआ है। शीत स्पर्श एवं तुषार स्पर्श-इन दोनों में व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध है। तुषार स्पर्श व्याप्य है, शीत स्पर्श उसका व्यापक है। जहाँ व्याप्य तुषार स्पर्श एवं व्यापक शीत स्पर्श प्रत्यक्षतः दृश्य नहीं है, उसी स्थल में प्रदर्शित वह्नि रूप हेतु का प्रयोग किया जाता है। दूरवर्त्ती ज्ञाता पुरुष के पास तुषार स्पर्श--शीत स्पर्श का विशेष एवं शीत स्पर्श परोक्ष है। वह्नि अपना रूप विशेष प्रयुक्त दूरस्थ होनेपर भी प्रत्यक्ष है। इस वह्नि रूप हेतु के द्वारा शीत मात्र का अभाव सिद्ध होता है। कारण यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है कि जहाँ वह्नि है वहाँ शीत मात्र का हो अभाव रहेगा और इसका फल होगा कि शीत-विशेष तुषार स्पर्श का अभाव निश्चित हो जायगा। कारण शीत-विशेष तुषार स्पर्श शीत सामान्य का व्याप्य है। शीत-सामान्य व्यापक है। विशेष सामान्य में अन्तर्भूत है अतः सामान्य को विशेष का व्यापक कहा जाता है। निष्कर्ष यह हुआ कि व्यापक शीत सामान्य के विरुद्ध वह्नि को उपलब्धि होने के कारण व्यापक शीत सामान्य नहीं है और व्यापक शीत सामान्य नहीं रहने के कारण उसका व्याप्य तुषार स्पर्श भी नहीं है। व्यापक के अभाव के कारण व्याप्य का अभाव सभी दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत है।

तुलना करें--

व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा--नात्र तुषारस्पर्शो वह्नेरिति। प्रतिषेध्यस्य यद् व्यापकं तेन यद् विरुद्धं तस्योपलब्धिरुदाहर्तव्या यथेति। अत्रेति धर्मी। तुषारस्पर्शो नेति साध्यम्। वह्निरिति हेतुः।

यत्र व्याप्यस्तुषारस्पर्शो व्यापकस्य शीतस्पर्शो न दृश्यस्तत्राद्वयं

हेतुः तयोर्दृश्यत्वे स्वभावस्य व्यापकस्य चानुपलब्धिर्यतः प्रयोक्तव्या। तथा च सत्यभावसाधनीयम्। दूरवर्तिनश्च प्रतिपत्तुस्तुषारस्पर्शः शीतस्पर्शः ततो वह्नेः शीतमात्राभावः। ततः शीतविशेषतुषार-स्पर्शाभावनिश्चयः। शीतविशेषस्य शीतसामान्येन व्याप्तत्वादिति। विशिष्टविषयता का अभाव हो जायगा। फलतः ईश्वर व्यवहार के साधन विषयेस्याः प्रयोगः। (न्या० वि० टी० पृ० १३५) (ज्ञान) सभी को स्वीकार करनी पड़ेगी। और इसके फल-स्वरूप व्यापकाभाव प्रयुक्त व्याप्याभाव अर्थात्——व्यावहार साधन प्रमाण का विषय नहीं है। यही प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय के आचार्यगण स्वीकार करते हैं। इसलिये ईश्वर को अनवभासमान ही स्वीकार करना पड़ेगा। ईश्वर भासमान है यह तो ईश्वर प्रत्यभिज्ञावादी किसी प्रकार से सिद्ध नहीं कर सकते हैं, कारण, किसी विषय का अवभासमान होना तो प्रमाणायत्त है। ईश्वर प्रमाण के द्वारा अवभास्य है——यह तो ईश्वर प्रत्यभिज्ञावादी स्वीकार नहीं करते हैं।

पूर्व पक्षी यही मुख्य प्रश्न उठाते हैं कि परमेश्वर को प्रमाण द्वारा सिद्ध करना पड़ेगा। कारण, जिस प्रत्यभिज्ञा पर प्रत्यभिज्ञा-सम्प्रदाय के दार्शनिकवृन्द उपारूढ़ हैं उस प्रत्यभिज्ञा का विषय ईश्वर अगर प्रमाणिक नहीं हो तब तो प्रत्यभिज्ञा का उपपादन असंभव हो जायगा। इसके उत्तर में सिद्धान्ती प्रश्न करते हैं कि परमेश्वर की सिद्धि के सम्बन्ध में जो बात चल रही है वह सिद्धि क्या है? यह सिद्धि उत्पत्ति नहीं हो सकती है, कारण प्रत्यभिज्ञा दार्शनिकों के अनुसार ईश्वर नित्य है। नैयायिक, वैशेषिक प्रभृति जो दार्शनिक उनकी सिद्धि करते हैं वे भी ईश्वर की उत्पत्ति स्वीकार नहीं करते और प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय के दार्शनिक जिनके लिये ईश्वर को सिद्ध करना अनिवार्य है वे भी ईश्वर की उत्पत्ति नहीं मान सकते हैं। अगर इसके उत्तर में कहा जाय कि पूर्वोक्त सिद्धि उत्पत्ति रूप नहीं, है परन्तु वह सिद्धि व्याप्ति अर्थात् प्रकाश रूप है, तो यह भी पूर्व पक्षी के लिये कहना उचित नहीं है, कारण, ईश्वर स्वप्रकाश है। इसीलिये वे सतत अवभासमान हैं। निष्कर्ष यही है कि वे नित्य प्रकाश रूप हैं। इसी अभिप्राय से मूल ग्रंथ में ईश्वर का अनवच्छिन्न प्रकाश शब्द से उल्लेख किया गया है। अगर यही हो जाय तब तो प्रमाण व्यापार के द्वारा निष्पाद्य जो प्रकाश रूप

ज्ञप्ति अर्थात् तदात्मिका सिद्धि है उसका ईश्वर के विषय में सर्वथा अनुपयोग है।

ननु ईश्वरस्य सिद्धिरेव कर्त्तव्या, केयं सिद्धिः? न तावत् उत्पत्तिः नित्यत्वात् नापि ईश्वरसिद्धि कारादयस्तस्योत्पत्ति विदधते। ज्ञप्तिः सिद्धिरिति चेत्, अनवच्छिन्नप्रकाशस्य प्रमाणव्यापारोपाधेयप्रकाशात्मकसिद्ध्यनुपयोग एव। (ई० प्र० पृ० २८)

लोक व्यवहार में देखने में आता है कि ज्ञप्ति अर्थात् प्रकाश प्रमाण व्यापार के द्वारा ही उत्पन्न होती है। प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय के आचार्यगण जब ईश्वर का अनवच्छिन्न प्रकाश स्वीकार करते हैं, तब तो ज्ञप्ति रूप सिद्धि ईश्वर में संभावित नहीं है। कारण ज्ञप्ति प्रकाश है और यह प्रकाश प्रमाण व्यापार के द्वारा निष्पाद्य है। ईश्वर अनवच्छिन्न नित्यस्वप्रकाश स्वरूप है। उसका प्रमाण के द्वारा निष्पाद्य ज्ञप्ति रूप प्रकाश कैसे संभावित हो सकता है? प्रमाण के द्वारा विषय का प्रकाश होता है—यह साधारण रूप में स्वीकार करने पर भी स्वप्रकाश परमेश्वर का प्रकाश प्रमाण के द्वारा किसी भी हालत में नहीं हो सकता है। स्वप्रकाश सूर्य के प्रकाशन में प्रदीपजन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं है। कहा गया है कि ज्ञानोपाय समूह अर्थात् प्रमाण समूह शिव को प्रकाशित नहीं कर सकता है। घट के द्वारा क्या सूर्य का प्रकाश हो सकता है? सूर्य के प्रकाश को लेकर ही तो घट का प्रकाश है। प्रकाश तो परमेश्वर परमशिव को छोड़कर और किसी के पास नहीं है। प्रमाण—जो किसी विषय को प्रकाशित करेगा वह तो परम शिव का प्रकाश लेकर ही करेगा। इसलिये सिद्धान्ती का यही कहना है कि स्वयं प्रकाश शिव में ज्ञप्ति रूप सिद्धि संभावित नहीं है।

उपायजालं न शिवं प्रकाशयेत् घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः।
विचारयन्नित्यमुदारदर्शनः स्वयं प्रकाशं शिवमात्मवित् खलु॥
(ई० प्र० वि० व्या० भा० पृ० ४८)

इसमें पूर्वपक्षवादी पुनः शंका करना चाहते हैं कि परमेश्वर के प्रकाश को अनवच्छिन्न प्रकाश कहना तो युक्ति संगत नहीं है। कारण बाह्य नीलादि एवं आन्तर सुखादि का प्रकाश होने से परमेश्वर का प्रकाश क्यों नहीं होता है? परमेश्वर का प्रकाश अगर अनवच्छिन्न प्रकाश हो जाय तब तो नीलादि का ज्ञान, अर्थात्

प्रकाश के साथ ईश्वर का ज्ञान अभिन्न होना चाहिये। परन्तु लोक में देखने में आता है कि नीलादि का ज्ञान ही ईश्वर का ज्ञान नहीं है। दोनों प्रकाश सर्वथा भिन्न हैं। इसलिये ईश्वरीय प्रकाश को अनवच्छिन्न अर्थात् परिच्छेद रहित स्वीकार करना उचित नहीं है। ईश्वरीय प्रकाश परिच्छेद रहित होता है तब तो नील प्रकाश तथा सुख प्रकाश के साथ ईश्वर का प्रकाश भी अभिन्न हो जाता। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहना चाहते हैं कि तब तो नीलादि के अप्रकाश में ही ईश्वर का प्रकाश स्वीकार करना पड़ा। इसके उत्तर में पूर्वपक्षी कहना चाहते हैं कि ऐसा कहना समीचीन नहीं है कारण सुषुप्ति और मूर्च्छा में (साधारण रूप में प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीया—ये चार प्रकार की अवस्थायें बताई गई हैं। इन्द्रिय के द्वारा विषय के ज्ञान का नाम है जाग्रत्। इन्द्रिय को छोड़कर मन के द्वारा जिस विषय का स्मरण होता है उसका नाम है स्वप्न। जहाँ विषय भी नहीं और स्मरण भी नहीं उसे सुषुप्ति कहा जाता है एवं शुद्ध बोध रूप अवस्था का नाम तुरीया अवस्था है। मूर्च्छादि के बराबर सुप्तावस्था भी दो प्रकार की होती है—संवेद्य एवं अवेद्य। मैं सुखी हूँ—यह संवेद्य है। मुझे किंचित् भी ज्ञात नहीं हुआ—यह अवेद्य है।) में जहां नीलादि बाह्य पदार्थ का प्रकाश नहीं है उस स्थल में तो ईश्वर का प्रकाश और भी नहीं है। इसलिये सिद्धान्ती का पूर्वोक्त कथन असंगत है। पूर्वपक्षी यह भी कहना चाहते हैं कि ईश्वर का प्रकाश स्वप्रकाश है, ईश्वर का प्रकाश अनवच्छिन्न प्रकाश है। ईश्वर का स्वप्रकाशत्व ईश्वर के अनवच्छिन्न प्रकाशत्व का साधक है—स्वीकार करने पर भी ईश्वर की सिद्धि में प्रमाण व्यापार का अनुपयोग कैसे हो सकता है? ईश्वर के प्रमाता समूह में कौन विशेष उत्पन्न होता है इसके फलस्वरूप उन लोगों के लिये प्रमाण व्यापार उपयोगरहित हो जाता है।

ननु ईश्वरस्य सिद्धिरेव कर्तव्या, केयं सिद्धिः। न तावत् उत्पत्तिः, नित्यत्वात् नापि ईश्वरसिद्धिकारादेयस्तस्योत्पत्तिं विदधते। ज्ञप्तिः सिद्धिरिति चेत् अनवच्छिन्नप्रकाशस्य प्रमाणव्यापारोपाधेयप्रकाशत्मकसिद्ध्यनुपयोग एव। ननु अनवच्छिन्नस्तदीयः प्रकाश—इति कथमेतत् घटसुखादिप्रकाशे हि तत्प्रकाशः कुतः? तदप्रकाशेऽपि

सुप्तमूर्च्छादौ नतरां स्वप्रकाशेऽपि वा ईश्वरे प्रमातृणां किं वृत्तं येन तेषां प्रमाणाव्यापारानुपयोग ? ( ई० प्र० वि० पृ० २८–२९ )

पूर्वोक्त प्रकार से प्रश्न एवं उत्तर के रूप में शंका प्रदर्शन कर उसका समाधान प्रदर्शन कर रहे हैं। इसलिये इस जगत् के अन्तर्गत कौन किस प्रमाण के द्वारा गुण विशिष्ट ईश्वर के अस्तित्व अथवा नास्तित्व का ज्ञान उत्पन्न करेगा ? अगर कहा जाय कि वर्तमान प्रकरण में न्याय-वैशेषिक मतानुयायी तार्किकादि प्रमाता हैं और वही प्रकृतस्थल में प्रमाता का व्यापार निष्पन्न करेगा तो इसमें सिद्धान्ती प्रश्न करना चाहते हैं कि वे प्रमाता कौन हैं ? क्या जड़ देह प्रभृति बुद्धि है अथवा इससे भिन्न आत्मादि शब्द प्रतिपाद्य चिन्मात्ररूप है ? द्वितीय पक्ष यदि स्वीकार किया जाय तब वह चिद् रूप आत्मा स्वप्रकाश स्वभाव है अथवा नहीं ? इसमें प्रथम पक्ष अयुक्त है कारण जड़ देहादि स्वयं असिद्ध है। उसको सिद्धि प्रमाता के अधीन होने के कारण वह स्वयं सिद्धि रहित है। प्रमाता ही अबतक स्वयं सिद्ध नहीं हुआ और प्रमाताके अधीन जिसकी सिद्धि है वह तो स्वयं असिद्ध है। स्वयं असिद्ध होकर कैसे अपने से भिन्न ईश्वर की सिद्धि उत्पादन करेगा ? पूर्वोक्त पक्ष में दोनों प्रकार प्रदर्शन किया गया है—अर्थात् आत्मा स्वप्रकाश स्वभाव है अथवा नहीं। इसमें द्वितीय पक्ष में जो प्रथम प्रकार है उसमें बहुत सी बातें हैं अतः उन्हें छोड़कर द्वितीय प्रकार का ही निरसन किया जा रहा है। आत्मा को अगर अस्वप्रकाश स्वीकार किया जाय तब तो उसको देहादि की तरह जड़ स्वीकार करना पड़ेगा। और इसका फल यही होगा कि देहादि जड़ पक्ष में जो दोष दिया गया वही दोष इसमें भी हो जायगा। अब द्वितीय पक्ष में जो प्रथम प्रकार को शंका की गई—अर्थात् प्रमाता आत्मा स्वप्रकाश स्वभाव है उसमें भी बहुत सा विकल्प हो सकता है। परन्तु यह पक्ष प्रत्यभिज्ञा दर्शन का अभीष्ट है। अतः अभिनवगुप्त इसका स्पष्ट प्रतिपादन कर रहे हैं। आत्मा को अगर स्वप्रकाश स्वभाव स्वीकार किया जाय तब इसमें प्रश्न होता है कि वह किस प्रकार अपने रूप के द्वारा स्वयं अपने पास प्रकाशित होता है ? अगर यह कहा जाय कि परिनिष्ठित शान्त अपरिणामी अर्थात् स्वरूपमात्र में विश्रान्त जो संवित् मात्र है उसी के द्वारा प्रकाशमान है—तो यह कहना अनुचित है, कारण तब तो विषय के ज्ञान काल में संवित् का विभक्त होकर

परस्पर से भिन्न रूप में भासमान सम्भव नहीं होगा। इसी प्रकार स्मृति के समय में भिन्न संवित का अभिन्न रूप में एकीकरण सम्भव नहीं होगा। और इसका फल यही होगा कि भिन्न-भिन्न संवित का आभ्यन्तरीण अनुसन्धान के द्वारा एकीकरण करना भी संभव नहीं होगा। फलस्वरूप स्मृति का ही असम्भव प्रसग हो जायगा। स्मर्ता पुरुष स्मृति काल में नीलादि विषयक पूर्वकाल में एवं परवर्त्ती काल में उत्पन्न हुए ज्ञान द्वय को एक विषयता आपादन कर एकीकरण अर्थात् अभिन्न करता है। उसी का नाम स्मरण है। इसलिये पूर्वोक्त अनुपपत्ति के कारण स्वीकार करना पड़ेगा कि आत्मा स्वतन्त्र स्वप्रकाश रूप में ही भासमान होता है। स्वतन्त्र शब्द का तात्पर्य यही है कि आत्मा संवित् समूह का भेदाभेद करने में समर्थ है। अब प्रश्न यह होता है कि पूर्वोक्त स्वरूप आत्मा किस प्रकार ईश्वर का साधन अथवा निषेध करेगा। कर्तृत्वादि रहित होने से ईश्वरत्व ही नहीं रहेगा। इसलिये कर्तृत्वादि विरहित स्वभाव ईश्वर की सिद्धि करे—यह तो सम्भव ही नहीं। इसलिये कहना पड़ेगा कि कर्तृ, ज्ञातृ, स्वभाव ईश्वर को ही साधन करेगा। तब तो वह ईश्वर कर्तृ, ज्ञातृ स्वभाव प्रमाता के साथ अभिन्न हो जायगा और इसका फल यह होगा कि प्रमेय एवं प्रमाता के साथ जो भेद सर्ववादी स्वीकृत है उस भेद का अपलाप करना पड़ेगा। निष्कर्ष यह होगा कि पूर्वाभास में अवस्थित आत्मा ( प्रमाता ) ही अगर ईश्वर हो जाय तब अन्य ईश्वर को किसके लिये साधन बनाया जायगा। इसमें प्रश्न होता है कि ईश्वर में सर्व-कर्तृत्व एवं सर्वज्ञत्व विद्यमान है और वह प्रमाता में है नहीं इसलिये प्रमाता के साथ ईश्वर को अभिन्न समझना उचित नहीं है। यह भी कहना अनुचित है। सर्व शब्द का योग रहने से ही इसके द्वारा ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व का स्वरूप भेद नहीं हो सकता है। लोक व्यव-हार में देखने में आता है कि कणावस्था एवं उपचयावस्था के द्वारा सूक्ष्मावस्था और स्थूलावस्था के द्वारा अग्नि का स्वरूप भेद नहीं होता है। कणावस्था में अग्नि अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता है एवं उपचयावस्था में भी अग्नि स्वरूप का आधिक्य नहीं होता है। बाह्यावस्था के तारतम्य से पदार्थों के स्वरूप का तारतम्य नहीं होता है। पूर्वोक्त कारण से जिस अंश का तारतम्य होता है वह स्वरूप ही नहीं है। अग्नि की सुक्ष्मावस्था एवं स्थूलावस्था के द्वारा

जैसे अग्नि स्वरूप में भेद नहीं हो सकता है ऐसे ही सर्वकर्तृत्व एवं किंचित् कर्तृत्व के द्वारा इस प्रकार सर्वज्ञत्व एवं किंचित्ज्ञत्व के द्वारा कर्तृत्व स्वरूप में एवं ज्ञातृत्व स्वरूप में भेद नहीं हो सकता है। सर्वज्ञों का जो ज्ञान है वह सर्व पदार्थ विषयक होता है। उन सब विषयों के द्वारा ज्ञान में कोई विशेष उत्पन्न नहीं होता है। भेदवादी नैयायिक भी यह स्वीकार करते हैं, कारण न्याय मत में ईश्वर का जो ज्ञान चिकीर्षा एवं प्रयत्न है वह नित्य है। परन्तु ईश्वर के ज्ञान चिकीर्षा एवं प्रयत्न विषय ईश्वरीय ज्ञानादि का कारण नहीं है। वे सब विषय आलम्बन मात्र हैं। आलम्बन विषय के द्वारा ईश्वर ज्ञानादि में कोई अतिशय उत्पन्न नहीं होता है, कारण, तब तो ईश्वरीय ज्ञान का नित्यत्व सम्भव नहीं होगा। अगर इसके उत्तर में कहा जाय कि पूर्वोक्त दृष्टान्त असमीचीन है कारण भेदवादी नैयायिक विषय को ज्ञान का कारण नहीं मानते हैं। वे विषय में केवल आलम्बन कारकत्व रूप विषयत्व स्वीकार करते हैं।

यह पक्ष में प्रत्यभिज्ञा दर्शनानुसारी नहीं हैं। इसलिये भेदवादी नैयायिकों के मत में विषय के द्वारा ईश्वरीय ज्ञान में अतिशय उत्पन्न नहीं किया जाता है—इसको दृष्टान्त रूप में ग्रहण करना समीचीन नहीं हुआ। परन्तु ज्ञान के द्वारा प्रकाशमान होना ही विषय का विषयत्व है। इसलिये विषय के द्वारा ईश्वरीय ज्ञानादि में कोई अतिशय उत्पन्न नहीं होता है। इसको दृष्टान्त रूप में उपस्थापन करना युक्ति विरुद्ध है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहना चाहते हैं कि ज्ञान के द्वारा प्रकाशमानता प्राप्ति विषय का विषयत्व स्वीकार करना अनुचित है, कारण इस तरह स्वीकार करने का तात्पर्य होगा विषय को अप्रकाश स्वभाव स्वीकार करना और जिसका जो स्वभाव व स्वरूप है उसका परिवर्त्तन तो किसी रूप में नहीं हो सकता है। विषय अगर भिन्न स्वभाव हो जाय तब किसी भी उपाय से ज्ञान के द्वारा उसमें प्रकाशमानता अर्पित नहीं हो सकती है। सहस्र प्रयत्न के द्वारा भी अग्नि को अनग्नि नहीं किया जा सकता है। अगर विषय को प्रकाशमान स्वभाव ही स्वीकार किया जाय तब तो यही मानना पड़ेगा कि विषय भी सर्वात्मना प्रकाश में ही निमग्न है। और जैसे अग्निकण अग्नि राशि में निमग्न है ऐसे ही विषय और प्रकाश के सम्बन्ध में समझना चाहिये। विषय प्रकाश में निमग्न होने से क्या होता है—इस प्रश्न

के उत्तर में सिद्धान्ती कहना चाहते हैं कि विषय रूप प्रकाशलेश साक्षात् महाप्रकाश रूप में प्रकाशित हो रहा है। अगर पारमार्थिक स्थिति यही है तब तो—'यह जीव असर्वज्ञ है', 'यह ईश्वर सर्वज्ञ है'—इस प्रकार विभाग नहीं रहेगा। कारण, परमार्थतः सर्वत्र प्रकाश प्रकाशरूप में एकरूप है। प्रकाश कहीं अधिक तो कहीं कम, यह बात नहीं हो सकती है, कारण वस्तु के स्वरूप में न्यूनाधिक्य नहीं हो सकता है। इसलिये शैव सिद्धान्त में कहा गया है कि नील पीतादि बाह्य वस्तु एवं सुखादि आन्तर्वस्तु प्रकाशरूप है, शिव रूप है। परम अद्वैत प्रकाशरूप को छोड़कर इस संसार में और कौन है? ऐसे ही प्रमाता के बराबर प्रमाण के भी सम्बन्ध में समझना चाहिये। प्रमाण जड़ है अथवा अजड़ यह प्रश्न का विषय हो जायगा। प्रमाण अगर प्रमाता के बराबर प्रकाशरूप हो जाय तब उसे ईश्वर रूप ही समझना चाहिये। प्रश्न होता है कि अजड़ात्मा निषेधं वा सिद्धि वा विदधीत कः ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-कारिका (ई० प्र० १–१–२ पृ० २९) में जो सिद्धि ग्रहण किया गया यह तो भेदरूप में ही स्फुरणशील है। इसकी गति क्या होगी? इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहना चाहते हैं कि प्रमातादि जैसे प्रकाशरूप है वैसे ही शैव सिद्धान्त में सिद्धि को भी प्रकाशरूप समझना चाहिये। शैव सिद्धान्त में सभी प्रकाश रूप है, जड़ नामक कोई वस्तु ही नहीं। केवल सिद्धि ही क्यों, पूर्वोक्त कारिका में निषेध भी प्रकाशरूप ही है। ऐसे ही जिस वस्तु को विषय रूप से लोक व्यवहार में ग्रहण किया जाता है जैसे—नील पीतादि बाह्य एवं सुखादि आभ्यन्तर वस्तुएँ हैं, उसे अपने स्वरूप में ग्रहण कर परिच्छेद रहित आत्मा ही भासमान हो रहा है। नील, सुखादि का प्रकाश आत्मा का ही प्रकाश है। प्रश्न होता है कि जाग्रत अवस्था में पूर्वोक्त युक्तियाँ संगत होने पर भी सुषुप्ति एवं मूर्च्छा में वस्तु का अप्रकाश तो अनुभव सिद्ध है। इसके उत्तर में प्रत्यभिज्ञावादी कहना चाहते हैं कि सुषुप्ना अवस्था में भी सुषुप्त व्यक्ति के पास आत्म प्रकाश विद्यमान रहता है। इसको तीन युक्तियां दी गई है—

( १ ) सुषुप्ति अवस्था में अगर आत्मा का अप्रकाश रहे तब तो सुप्तोत्थित व्यक्ति 'सुषुप्ति अवस्था में मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ'—इस प्रकार सुषुप्तावस्था को स्मरण नहीं कर सकेगा। परन्तु यह अनुभव सिद्ध है कि सुप्तोत्थित पुरुष सुप्ति से जाग्रत होकर

'हमें कोई भी विषय ज्ञात नहीं हुआ था'--इस प्रकार सुषुप्तावस्था को स्मरण करता है। स्मरण ज्ञात वस्तु का ही सम्भव होता है। और यह ज्ञान भी आत्मा नहीं रहने से सम्भव नहीं हो सकता है। इसलिये सुषुप्ति के बाद जो स्मृति अंगीकार करता है उसके लिये आत्मा के प्रकाश को भी अंगीकार अवश्य करना पड़ेगा। अगर कहा जाय कि यह स्मृति नहीं है तब तो अपने अनुभव का ही अपलाप करना पड़ेगा।

( २ ) आत्मप्रकाश नित्य है, उसके परिच्छेद का कोई कारण नहीं है। लोक व्यवहार में देखने में आता है कि देश एवं काल परिच्छेद का कारण होता है परन्तु प्रकाश-स्वभाव आत्मा को देश कालादि परिच्छिन्न करने में समर्थ नहीं हैं।

( ३ ) तृतीय युक्ति यह है कि एक व्यक्ति के सुषुप्त हो जाने पर अन्य व्यक्ति सुप्त नहीं होता है और उसी के पास आत्मा का प्रकाश स्फुट है। प्रश्न हो सकता है कि अन्य प्रमाता के पास अगर आत्मा प्रकाशमान रहे तब सुप्त प्रमाता का क्या होता है? उसके पास आत्मा प्रकाशमान है--यह तो नहीं कहा जा सकता है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहना चाहते हैं कि एक प्रमाता से दूसरा प्रमाता भिन्न है--प्रमाता का स्व-पर विभाग प्रकाश के द्वारा ही उत्पादित हुआ है। एवं यह स्व-पर विभाग माया द्वारा निर्मित है। प्रकाश द्वारा सृष्ट प्रमाता का स्व-पर विभाग प्रकाश में विच्छेद ( परिच्छेद ) उत्पादन नहीं कर सकता है। जो जिसके द्वारा सृष्ट है वह वस्तु उसी में विच्छेद उत्पादन नहीं कर सकता है। जब यह स्थिति है--तब प्रकाश के द्वारा सृष्टि जो प्रमाता का स्व-पर विभाग है, वह माया कल्पित है। वह कैसे प्रकाश में यथार्थ परिच्छेद उत्पादन करेगा? इस विषय को लौकिक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया जा सकता है। आकाश का भाग-विशेष सदा प्रकाशमान है--तथापि मेघ निर्मुक्त आकाश में लौकिक व्यक्ति, आकाश प्रकाशमान हो रहा है--ऐसा व्यवहार करता है। इसी प्रकार आत्मा के प्रकाश सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। आत्मप्रकाश सदा सर्वत्र भासमान है। कहीं अस्फुट प्रकाश होने पर भी मेघ निर्मुक्त आकाश के बराबर उसमें स्फुटता का व्यवहार होता है। मेघ द्वारा आवृत्त आकाश एवं मेघ द्वारा अनावृत्त आकाश--

इसमें कोई भेद नहीं है। आकाश रूप में वह अपरिच्छिन्न है। ऐसे ही आत्मा के स्फुट प्रकाश एवं अस्फुट प्रकाश के द्वारा आत्म प्रकाश में कोई परिच्छेद उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसमें ध्यान देने की विशेष बात है कि प्रमाता केवल प्रकाशरूप ही नहीं है, स्वतन्त्र भी है। स्वतंत्र के स्वरूप में विशेष वैलक्षण्य है। नीलादि संवित् ( ज्ञान ) सुखादि संवित प्रभृति में, संवित्रूप में अभेद रहने पर भी नील सुखादि रूप भिन्न-भिन्न जो विषय हैं--उन विषयों द्वारा अभिन्न संवित् भिन्न रूप में भासमान होता है। संवित् संविद् रूप में अभिन्न होने पर भी जिस विषय के भेद के कारण वह भिन्न रूप में भासमान होता है, उसका नाम है उपाधि। इस प्रकार अभिन्न संवित् विषय रूप उपाधि के कारण भिन्न रूप में भासमान होने पर भी एवं भिन्न रूप में संवित् के ज्ञात होने पर ही स्मृति के समय में एवं अलौकिक मोक्ष के समय में एक ही विषय को अवलम्बन करके भासमान होता है। वह स्वस्वरूप में विश्रान्ति लाभ कर प्रलीनभेद होकर अवस्थान करती है। निष्कर्ष यह है कि अभेद में भेद एवं भेद में अभेद--यही स्वातन्त्र्य है। भेद में जो अभेद है वह आभ्यन्तरीण अनुसन्धान के द्वारा निष्पन्न होता है। उत्पलाचार्य ने पाणिनि के 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' सूत्र का अवलम्बन कर स्वातन्त्र्य रूप कर्तृत्व का ही पहले उल्लेख किया है। यही स्वातन्त्र्य आत्मा का पारमैश्वर्य रूप है। यह प्रधान है तथा आनन्दमय स्वरूप है। यह स्वातन्त्र्यरूप पारमैश्वर्य ( माहैश्वर्य ) आनन्दमय इसलिये है कि पारमैश्वर्य के कारण परमेश्वर विश्व का प्रकाश करते हैं। विश्व प्रकाशक परमेश्वर आनन्द के द्वारा पूर्ण है। नहीं तो पूर्ण-काम परमेश्वर विश्व को क्यों अवभासन करते ? इसी कर्तृत्वरूप स्वातन्त्र्य का रूपान्तर प्रदर्शन करने के लिये विभाग कर उत्पलाचार्य ने इसका ज्ञप्ति शब्द के द्वारा निर्देश किया है।

क्रिया को अभिनवगुप्तपाद ने ज्ञानपल्लवस्वभावा कहा है। इसका अर्थ है कि क्रिया ज्ञान की पुष्टिरूप है। बीज की पुष्टिरूप एवं उक्त प्रकार बीज सहस्र का उत्पादक जो वृक्ष है वह जैसे बीज की अपेक्षा प्रधान है ऐसे ही क्रिया के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। निष्कर्ष यह हुआ कि उत्पलाचार्य ने महेश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिये जो कर्त्ता एवं ज्ञाता रूप में उल्लेख किया है उसका अर्थ है, सर्वक्रिया में स्वतन्त्र एवं सर्व शक्ति का

आधार। पूर्वोक्त स्वतन्त्ररूपता को ही संवित् स्वभावता कहा गया है। यही स्वातन्त्र्य संवित् ( ज्ञान ) का स्वभाव है। स्वातन्त्र्य को संवित् के विषय रूप में उल्लेख करने से तो वह स्वातन्त्र्य विकल्प ज्ञान का विषय हो जायगा। शब्द के साथ स्पर्श होने के कारण विकल्प ज्ञान के विषय रूप में भासमान होगा। परन्तु उसकी संवित् स्वभावता नहीं रहेगी। शब्द प्रमा का विषय होने के कारण उसमें स्वातन्त्र्य प्रमेयता का स्पर्श अवश्य रह जायगा और इसलिये वह सृज्यमान हो जायगा। प्रमेयता को जो स्पर्श करता है वह सृष्ट अर्थात् उत्पन्न है। इसलिये संवित् का विषय जो स्वातन्त्र्य है उसे संवित् के विषय रूप में--परमार्थ संवित् रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता है। इसमें प्रश्न होता है कि कर्तृत्व, ज्ञातृत्व-रूप स्वातन्त्र्य को विधिरूप में क्यों नहीं उल्लेख किया गया ?

उत्पलाचार्य ने कर्तरि ज्ञातरि महेश्वरे--सप्तमी विभक्ति का प्रयोग कर कर्त्ता, ज्ञाता च महेश्वरः--इस प्रकार प्रथमा विभक्ति का प्रयोग क्यों नहीं किया ? सप्तमी विभक्ति का प्रयोग करने से ही कर्तृत्व, ज्ञातृत्व रूप स्वातन्त्र्य प्रमेय बन गया है। सप्तमी विभक्ति प्रमेयता का आपादक है। सप्तमी विभक्ति का अर्थ विधि रूप नहीं हो सकता है। उसमें अनुवाद रूपता आ जायगी। इसका फल होगा कि कर्तृत्व, ज्ञातृत्व रूप स्वातन्त्र्य प्रमेय रूप होने के नाते परमार्थसंवित् रूप नहीं हो पाएगा। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहना चाहते हैं कि पूर्वोक्त प्रकार से प्रथमा विभक्ति के द्वारा विधि रूप में निर्देश करने पर भी स्वातन्त्र्य में प्रमेयता का स्पर्श रह ही जायगा। कारण, जिसमें शब्द का स्पर्श है वह प्रमेय होकर रहेगा। वह किसी प्रकार से प्रमेयता का लंघन नहीं कर पायगा। इसलिये प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त में कहा गया है कि जो संवित् रूप में अपने साथ अभिन्न है वही जब दूसरे के लिये कहा जाता है तब वह भिन्न के बराबर मालूम पड़ता है, कारण, शब्द के साथ स्पर्श होना ही इसका कारण है। दूसरे को समझाने के समय शब्द का प्रयोग करना ही पड़ेगा और इसके लिये शब्द का विषय होकर ही स्वातन्त्र्य प्रकाशमान हो जायगा और इस अवस्था में संवित् रूपता नहीं रहेगी।

उत्पलाचार्य ने 'कर्तृ, ज्ञातृ स्वातन्त्र्यादि सिद्धे महेश्वरे'--इस प्रकार जो सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया है उसका गूढ़ अभिप्राय

यह है कि जिस प्रकार से प्रमेयावस्था का उपादान-परिहार हो सके, इसके लिये विषय में जितने उपाय संभावित है, सभी करने का प्रयत्न करना चाहिये। यद्यपि आन्तरिक परामर्श से भी प्रमेयता स्पर्श का परिहार संभव नहीं है--कारण, वहाँ भी शब्द के द्वारा ही चिन्तन करना पड़ेगा, तथापि शिष्य जैसे स्वातन्त्र्य की निर्विकल्प संवित् रूप में इसकी अवगति करे, इसीलिये उत्पलाचार्य ने पूर्वोक्त-रूप से सप्तमी विभक्ति के रूप से निर्देश किया है। सप्तमी विभक्ति का वैशिष्ट्य यह है कि यह विभक्ति अनुवाद के योग्य सिद्ध वस्तु-वाची है। निष्कर्ष यही है कि उपदेश के समय में स्वातन्त्र्य की प्रमेयता का परिहार करना असंभव है।

प्रमाणमपि एवं सिद्धत्वा-सिद्धत्वाभ्यां पर्यनुयोज्यम्, एवं सिद्धिरपि। तस्मात् विषयाभिमतं वस्तु शरीरतया गृहीत्वा तावत् निर्मामान आत्मैव प्रकाशते विच्छेदशून्यः, सुषुप्तमपि प्रति प्रकाशत एव, अन्यथा स्मृत्ययोगात्, प्रकाशस्य च नित्यत्वात् विच्छेदहेतोर-भावेन अन्यप्रमात्रपेक्षया च प्रकाशमानत्वात्, स्वपर-प्रमातृविभागस्य तत्सृष्टस्य मायीयत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्। स चायं स्वतन्त्रः। स्वातन्त्र्यं च अस्य अभेदे भेदनम्, भेदिते च अन्तरनुसंधानेन अभेदनम्--इति बहुप्रकारं वक्ष्यामः। एतदेव अस्य पारमैश्वर्यमुख्यमानन्दमयं रूपम् इति पूर्वमुपात्तं कर्त्तरि इति। तदेव तु स्वातन्त्र्यं विभज्य वक्तुं ज्ञातरि इति पश्चान्निर्दिष्टम्। ज्ञानं पत्नवस्वभावमेवहि क्रिया--इति वक्ष्यते। तेन सर्वक्रिया स्वतन्त्रे सर्वशक्तिके इति यावद् उक्तं भवेत् तावदेव कर्तरि ज्ञातरि इति। इयमेव च संवित्स्वभावता। संविदिति तु उच्य-माना विकल्प्यत्वेन प्रमेयतां स्पृशन्ती सृष्टत्वात् न परमार्थसंवित् इति वक्ष्यामः। कर्त्ता ज्ञाता च महेश्वर इत्याभिधानेऽपि स एव प्रकार आपतेत् इति यथा यथा प्रमेयभूमिकापादनन्यक्कारकलंकपरि-हारः शक्यः तथा तथा यावद्गति यतितव्यम् इति भूतविभक्त्या निर्देशः कृतः। उपदेशावसरे हि सर्वात्मना तावत् सा प्रमेयता अस्य परि-हर्तुम् अशक्या। स्वात्मनि इति स्वस्मिन् अनपायिरूपे स्वभावे इत्य-नेन वैशेषिकाद्यभिमतजडात्मवादनिरासः। आदिसिद्धे इति अविच्छिन्न प्रकाशे इत्यर्थः। महेश्वरे इति एतदेव माहेश्वर्यं यद् अनवच्छिन्न-प्रकाशत्वेन ज्ञातृकर्तृत्वधारोपारोहः। अजडात्मा इति, यस्य तु वैशेषिकादि जडात्मा स सिद्धिं करोतु ईश्वरविषयाम्।

( ई० प्र० वि० व्या० भा० पृ० ५१-५५ )

## पंचकृत्य, विमर्श शक्ति, विश्व का कारण एवं माया तत्व निरूपण

शैव सिद्धान्त के अनुसार ये प्रपंच षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मक परम शिव से अभिन्न है। तात्पर्य यह है कि अनुत्तर प्रकाश पंचाशिक स्तोत्र के रचयिता श्रीमत् आद्यनाथ ने कहा है कि अकृत्रिम अहं--इस प्रकार का आमर्श अर्थात् विस्फुरण परमशिव का स्वरूप है। अहं के स्वरूप पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि इसमें अकार एवं हकार है। अकार आदि एवं हकारान्त वण समूह के अभ्यन्तर में समस्त विश्व गर्भीकृत है। विश्व वर्णात्मक है। इस प्रकार जिस शब्द राशि में सभी विषय अन्तर्भूत हैं वह शब्दराशिमय एवं अन्य-निरपेक्ष स्वातन्त्र्य में विश्रान्ति लाभ करता है--मैं ही प्रकाशस्वरूप प्रकाशित हो रहा हूं। इस प्रकार पूर्ण अहन्ता ( अहं का भाव है अहन्ता। अहं + भावार्थक तल् प्रत्यय करके अहन्ता शब्द निष्पन्न होता है। इसी प्रकार इदन्ता शब्द भी निष्पन्न होता है। शैव-दर्शन में अहन्ता शब्द का अद्वैतवेदान्त दर्शन से भिन्न अर्थ में व्यवहार किया गया है। । का स्फुरण परम शिवावस्था में होता है। अकृत्रिम अहं आमर्श का विषय, प्रकाशैकस्वभाव शिव अपनी विमर्श शक्ति के द्वारा युक्त होकर शिव से लेकर क्षिति पर्यन्त षट्त्रिंशत्तत्त्व रूप में प्रकाश लाभ करते हैं। पहले कहा जा चुका है कि यह विमर्श शक्ति परमशिव से अभिन्न है एवं शिव से लेकर भूमि तक जो छत्तीस प्रकार के तत्व हैं ये भी शिव रूप ही हैं। छत्तीस प्रकार तत्त्व को क्षेमराज ने परा प्रावेशिका ग्रन्थ में इस प्रकार संकलन किया है--
( १ ) शिव, ( २ ) शक्ति, ( ३ ) सदाशिव, ( ४ ) ईश्वर ( ५ ) शुद्ध विद्या, ( ६ ) माया, ( ७ ) कला, ( ८ ) विद्या, ( ९ ) राग (१०) काल, (११) नियति, (१२) पुरुष, (१३) प्रकृति, (१४) बुद्धि, (१५) अहंकार (१६) मन, (१७) श्रोत्र, (१८) त्वक्, (१९) चक्षु, (२०) जिह्वा, (२१) घ्राण, (२२) वाक्, (२३) पाणि, (२४) पाद, (२५) वायु, (२६) उपस्थ, (२७) शब्द, (२८) स्पर्श, (२९) रूप, (३०) रस, (३१) गंध, (३२) आकाश, (३३) वायु, (३४) वह्नि, (३५) सलिल, (३६) भूमि। ( परा प्रावेशिका पृ० ६ )

षट्त्रिंशत्तत्त्व के स्वरूप-पर्यालोचन के प्रसंग में एक विषय का उल्लेख करना मैं उचित समझता हूँ। अद्वैत-वेदान्त के प्रधान आचार्य

शंकराचार्य ने अध्यास भाष्य में कहा है कि "अहम् इदम्" ( मैं यह वस्तु हूँ ), मम इदम् ( यह वस्तु हमारी है ) इस प्रकार अध्यास जीवलोक में अनादिकाल से सिद्ध है। लौकिक शुक्ति-रजत के दृष्टान्त से भाष्यकार ने कृत्स्न प्रपंच को ब्रह्म में अध्यस्त स्वीकार किया है। ब्रह्म का अद्वैतत्व प्रतिपादन करने के लिये भाष्यकार को समग्र बाह्य प्रपंच को मिथ्या सिद्ध करना पड़ा। अध्यस्त वस्तु कल्पित होने के कारण मिथ्या है, ऐसे ही ब्रह्म चैतन्य में अध्यस्त जगत् भी मिथ्या है। प्रपंचारोप का अधिष्ठान ब्रह्म ही केवल पारमार्थिक सद् वस्तु है। इसलिये भाष्यकार शंकराचार्य ने स्पष्ट रूप से कहा है कि युष्मत् शब्द का ज्ञान का विषय जो इदम् वस्तु है एवं अस्मत् प्रत्यक्ष का विषय जो अहं वस्तु है--दोनों तम एवं प्रकाश के बराबर विरुद्ध स्वभाव होने पर भी अहं वस्तु में इदन्ता का एवं इदमंशावच्छिन्न चैतन्य में अहं वस्तु के आरोप द्वारा लौकिक व्यवहार निष्पन्न कर रहा है। पंचपादिका ग्रंथ के प्रसिद्ध टीकाकार विवरणाचार्य ने स्पष्ट रूप से कहा है कि यह लोक व्यवहार भी अध्यास रूप ही है। अन्य वस्तु का अन्य रूप में अवभास अध्यास है। शुक्ति का रजत रूप में अवभास, शुद्ध चैतन्य का अहं रूप में अवभास--अध्यास है। इस प्रकार "अहम् इदम्" "ममेदम्" यह भी अध्यास ही है। इस अध्यास को ही भाष्यकार शंकराचार्य ने सत्यानृतमिथुनीकरण शब्द से प्रतिपादित किया है। इसमें अध्यास का अधिष्ठान चैतन्य सद् वस्तु है एवं आरोपित कृत्स्न प्रपंच मिथ्या है। यही सत्य एवं मिथ्या युक्त होकर जागतिक व्यवहार निष्पन्न हो रहा है। अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तानुसार इदं तू वस्तु के समान अहं वस्तु भी अध्यस्त है। चैतन्य में अन्तःकरण का तादात्म्य अध्यास होने से ही अहं इत्याकारक प्रतीति होती है। पहले कहा जा चुका है कि ब्रह्म का अद्वैतत्व प्रतिपादित करने के लिये अद्वैत विद्या के परमाचार्य शंकराचार्य ने विपुल प्रयास अवलम्बन कर अध्यास भाष्य प्रणयन किया है। शंकराचार्य प्रदर्शित अध्यास को अन्य किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय के आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया है। यह अध्यास ही अद्वैत वेदान्त दर्शन को एक अनन्य साधारणरूपता प्रदान करता है। परन्तु शैवदर्शन के आचार्यगण शंकराचार्य से भी आगे बढ़ गये हैं। शंकराचार्य ने जहां से शुरू किया है उससे भी पूर्व में जाकर शैवाचार्यों ने विषय का चिन्तन किया है। शैव दर्शन के आचार्यगण कहना चाहते

हैं कि समग्र प्रपंच परमशिव के साथ अभिन्न है। यह प्रपंच वैसा जड़ नहीं है जैसा कि अद्वैतवादियों ने स्वीकार किया है। यह भी परम-शिव के समान चिद् रूप है। इसलिये परमशिव के साथ सर्वथा अभिन्न है। स्वयं प्रकाश रूप, अकृत्रिम, अहम् इत्याकार रूप में स्फुरण स्वभाव परमेश्वर पारमेश्वरीय शक्ति के द्वारा शिव से लेकर भूमि पर्यन्त जो जगत् का स्वरूप बतलाया गया--उन सभी रूपों में स्फुरित होता है। उन्हीं रूपों में वह प्रकाशमान है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन शिवाद्वय दर्शन के नाम से भी परिचित है। परमेश्वर स्वतन्त्र है। वह चिद्घनसवित्स्वभाव है। शिव स्वयं अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा निरन्तर शिवादि से लेकर धरणी पर्यन्त षट्त्रिंशत्तत्त्व शिव का स्वरूप भून हैं। जैसे कोई महानाट्य रसिक नट भिन्न-भिन्न भूमिका धारण कर अभिनय क्रीड़ा में व्याप्त रहता है। वैसे ही महानाट्य रसिक महानट शिव से लेकर क्षितिज पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों का निरन्तर विकास कर रहे है। प्रश्न हो रहा है कि जीव शिव स्वरूप है इसका प्रमाण क्या है? क्या संसारावस्था में कोई शिवतावस्था के अनुरूप अभिज्ञान मिलता है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि शिव ही जीवरूप में अवस्थान कर रहा है। इसके उत्तर में प्रत्यभिज्ञा के रचयिता क्षेमराज कहते हैं कि पंचकृत्य के द्वारा पूर्वोक्त सिद्धान्त पूर्णरूप से समर्थित होता है। ईश्वराद्वयवादी दर्शन से ब्रह्मवादियों का यही वैलक्षण्य है कि चिदात्मा भगवान् शिव निरन्तर पाँच प्रकार के प्रयोजन को निष्पन्न कर रहे हैं। ये पाँच प्रकार के कृत्य स्वच्छन्द प्रभृति आगम अनुशासन शास्त्र में स्पष्टरूप से प्रतिपादित किये गये हैं। इस पंचकृत्य का स्वरूप इस प्रकार है--सृष्टि-कर्तृत्व, संहार-कर्तृत्व, विलय-कर्तृत्व, स्थिति-कर्तृत्व और अनुग्रह-कर्तृत्व। जिसके फलस्वरूप प्रणत व्यक्तियों का दुःख विनाश होता है। प्रदर्शित पंचकृत्य में जो संहार एवं विलय कहा गया है वह सम्पूर्ण पृथक् कृत्य है। और फिर सम्पूर्ण सृष्ट विश्व शिव में प्रविष्ट हो जाता है उसी का नाम संहार है। संहृत अवस्था में विश्व का विलीन अथवा अनभिव्यक्त रहना ही विलयावस्था है।

### विमर्श शक्ति निरूपण

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार परमेश्वर प्रकाश स्वरूप है। यह

प्रकाश विमर्श स्वभाव है। विमर्श का स्वरूप महामाहेश्वराचार्य क्षेमराज ने अपने परा प्रावेशिका ग्रंथ में संक्षिप्त रूप में प्रदर्शित किया है। विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं संहार काल में पूर्ण अहं रूप के स्फुरण का नाम विमर्श है। विश्व के आकार लाभ करने को सृष्टि कहते हैं। विश्व का प्रकाश ही विश्व की स्थिति है। विश्व का परमेश्वर स्वरूप के साथ अभिन्न अवस्था प्राप्त होना ही संहारावस्था है। इन तीनों अवस्थाओं में अहं रूप जो चमत्कारात्मक स्फुरण है उसे विमर्श कहते हैं। परमेश्वर में विमर्श शक्ति स्वीकार करने का विशेष तात्पर्य है। विमर्श शक्ति नहीं रहने से परमेश्वर अनीश्वर एवं जड़ हो जायगा। शैव सिद्धान्त में संवित् प्रकाश स्वरूप है। संवित् स्वरूप होने के कारण परमेश्वर भी प्रकाश रूप हैं। परन्तु सूर्यादि के प्रकाश में विमर्श नहीं है इसलिये सूर्यादि प्रकाश की स्वयं प्रकाशरूपता नहीं है। सूर्यादि प्रकाश जड़ रूप होने के कारण स्वयं प्रकाश नहीं है। इन दोनों प्रकाशों को भिन्न प्रकाश की अपेक्षा है। इसका फल होगा कि परापेक्षाप्रयुक्त होने से सूर्यादि प्रकाश में स्वातन्त्र्य नहीं रहता है। इस प्रकार संवित् प्रकाश परमेश्वर भी यदि विमर्श शक्ति शून्य हो जाय तब वह भी जड़ एवं अस्वतन्त्र हो जायगा। शैवागम में संवित् प्रकाश में विमर्श की विद्यमानता के कारण प्राधान्य स्वीकार किया गया है।

इस विमर्श शक्ति का भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा प्रतिपादन किया गया है। इसी विमर्श का नाम है चित्। इसका चैतन्य शब्द के द्वारा भी प्रतिपादन किया गया है। चेतन का धर्म है चैतन्य। धर्मवाची चैतन्य शब्द के द्वारा विमर्श को प्रतिपादित किया जाता है। इसी प्रकार विमर्श शक्ति का, स्वरसोदिता परावाक्, स्वातन्त्र्य परमात्मा का मुख्य ऐश्वर्य, कर्तृत्व स्फुरता-सार, हृदय, स्पन्द इत्यादि शब्दों के द्वारा भी शैवागम में उल्लेख किया गया है। इह खलु परमेश्वरः प्रकाशात्मा प्रकाशश्च विमर्शस्वभावः विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्व प्रकाशेन विश्वसंहरणेन च अकृत्रिमाहम् इति विस्फुरणम्। यदि निर्विमर्शः स्यात् अनीशव्यो जड़श्च प्रसज्यते। एष एव च विमर्शः—चित्, चैतन्यं, स्वरसोदिता पारवाक्, स्वातन्त्र्य, परामत्मनो मुख्यमैश्वर्यं कर्तृत्वं, स्फुरता-सारो, हृदयं स्पन्दः इत्यादि—शब्दैरागमेषूद्घोष्यते।

( प० प्रा० पृ० १२ )

## प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार विश्व कारण का निरूपण

सदाशिव से लेकर भूमि तक चौतीस तत्त्व हैं। इनकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय किस रूप में संभावित हैं, इसके सम्बन्ध में प्रत्यभिज्ञा हृदय के रचयिता क्षेमराज ने कहा है कि शैव सिद्धान्त में इन सब तत्त्वों के अभिनवउत्पाद को स्वीकार नहीं किया गया है। शिव अपने भीतर से ही विश्व का विक्षेप करते हैं। उसी में प्रकाश-रूप स्थिति रूपता प्रदान करते हैं एवं परप्रमाता के रूप में अपने में ही संहार कर लेते हैं। परमशिवाद्वय दर्शन में परमेश्वर को स्वतन्त्र कहा गया है। वे अपने कार्य निष्पादन में किसी के अधीन नहीं है। केवल यही नहीं वे चिद् घन संवित् स्वभाव है। ( चित् एवं संवित् के स्वभाव के सम्बन्ध में हम लोगों ने इस ग्रन्थ में पर्यालोचन किया है। )

ये परमेश्वर नामिक शक्ति के द्वारा निरन्तर शिवादि से लेकर भूमि तक षट्त्रिंशत्तत्त्व के स्वरूप में क्रीड़ारत हैं। ये पंचकृत्य के निष्पादक हैं। विश्व की सृष्टि में वस्तुतः क्रम नहीं है। कारण, परमेश्वर के द्वारा विश्व सृष्टि कोई नवीन सृष्टि नहीं है। इसी विश्व सृष्टि को शैव सिद्धान्त ने आभासन शब्द से कहा गया है। यही विश्व का आभासन दर्शनान्तर के सिद्धान्तानुसार कार्य कारण भाव स्थानापन्न है। और इसी के द्वारा विश्व सृष्टि में क्रम नहीं रहने पर भी—अर्थात् षट्त्रिंशत् तत्त्व को लेकर विश्व निर्मित है उसका पौर्वापर्य रूप क्रम नहीं रहने पर भी विश्व के आभासन कार्य में क्रम का उद्भावन करता है। परमेश्वर जिस प्रकार चिद् रूप है उसी प्रकार उनके साथ अभिन्न विश्व भी चिद् रूप है। सृष्टि के पहले विश्व जब परमेश्वर के साथ अभिन्न रूप से अवस्थान करता है उस समय वह पृथक् रूप से ज्ञान का विषय नहीं होता है। इस प्रकार परमेश्वर अपनी इच्छा के द्वारा ही विश्व की भित्ति में चित्र के बराबर तत्त्वतः शिवादि तत्त्व के स्वरूप से पृथक् रूप में अवभासन करते हैं। इस अवस्था में भी परमेश्वर अपने षट्त्रिंशत् तत्त्वमय स्वरूप के ज्ञान से युक्त रहते हैं। उस समय अपनी अखंडता के द्वारा विश्व को भर देने में जो अनुत्तर ( चित् शक्ति ) आनन्द घनावस्था है उसे नहीं त्याग करते हैं। इस अवस्था में परमशिव का जो अपना चमत्कार है—अर्थात् अपने आनन्द का जो ज्ञान है वही उसका सार है। ये परमशिव यद्यपि अनन्त शक्ति के आश्रय हैं तथापि परमशिव की

शक्ति मुख्यतः पांच भागों में विभाजित की जा रही है। शिव के पांच प्रकार के कृत्य हैं—सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय एवं अनुग्रह। प्रथम चार कृत्य विश्व सृष्टि के साथ सम्बद्ध है। पंचम प्रकार के कृत्य अर्थात् अनुग्रह का सृष्टि तत्त्व के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इस अनुग्रह को शैव सिद्धान्त में शक्तिपात या शक्ति निपात कहा जाता है। विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं संहार का जिस प्रकार शैव सिद्धान्त में प्रतिपादित किया गया है उसके साथ सांख्य दर्शन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। चौंतीस प्रकार के तत्त्व शिवस्वरूप हैं अर्थात् शिव के साथ अभिन्न हैं। इसलिये इन सबों की अभिनव उत्पत्ति अथवा निरन्वय विनाश को शैव सिद्धान्त में स्वीकार नहीं किया गया है। जैसे सत्कार्यवादी सांख्य सिद्धान्त में सद् रूप वस्तु की अभिव्यक्ति ही उत्पत्ति है एवं कारण में लीन हो जाना ही नाश है उसी प्रकार की चिन्ताधारा का किंचित् आभास शैव सिद्धान्त में मिलता है। चौबीस प्रकार के तत्वों की निष्पत्ति, स्थिति एवं संहार का कारण है चिति। यह चिति पराशक्ति रूपा है। शक्ति की संख्या यद्यपि अनन्त है परन्तु सभी शक्तियों को अप्रधान कर पराशक्ति ही सर्व प्रधान है। यही विश्व को व्यापन कर विराजमान है। एवं कृत्स्न विश्व-बन्ध-मोक्ष एवं शुभाशुभ का कारण है। इसके स्वरूप निर्वचन के प्रसंग में प्रत्यभिज्ञाहृदयकार ने कहा है कि यह पराशक्तिरूपा चिति सर्व प्रकार के ऐश्वर्यों से युक्त है एवं स्वतन्त्र है।

स्वतन्त्र का स्वरूप क्या है? इसके उत्तर में कहा गया है कि वे अनुत्तर विमर्शमयी है। पराप्रावेशिका ग्रंथ में विमर्श शक्ति के परिचय प्रसंग में कहा गया है कि विश्वाकार के द्वारा, विश्व प्रकाश द्वारा एवं विश्व संहरण के द्वारा जो अकृत्रिम अहं विस्फुरण है वही विमर्श शक्ति है। विमर्श शक्ति का विवेचन हमलोग पहले कर चुके हैं। जहां विमर्श रूपता पराकाष्ठा लाभ करती है उसी का नाम अनुत्तर ( अनुत्तर–अर्थात् जिसके बाद कुछ नहीं हो सकता है। ) विमर्श है। यह चिति शिव भट्टारक ( संस्कृत साहित्य में गौरव का बोधक है, शिव भट्टारक परमशिव से अभिन्न है। ) से अभिन्न है। इस चिति के प्रसार से ही जगत् का उन्मेष होता है एवं अवस्थान करता है। चिति के प्रसार के निवृत्त हो जाने के बाद जगत् अस्तमित हो जाता है। जगत् की इस अस्तमित अवस्था को निमेष शब्द से कहा गया है। ( शैव दर्शन में स्फुर् धातु, उत् मिल धातु एवं उत्मिष्

धातु का पुनः पुनः प्रयोग किया गया है। स्फुरण, उन्मीलन एवं उन्मेष शब्द प्रत्यभिज्ञा दर्शन में गंभीर तात्पर्य का व्यंजक है।

ध्वन्यालोक ग्रन्थ की लोचन टीका में अभिनवगुप्तपाद ने कहा है कि उन्मीलन शक्ति के प्रभाव से विश्व मुहूर्त काल में उन्मीलित हो जाता है। इसमें किसी कारणान्तर की अपेक्षा नहीं रहती है। 'स्वात्मरूप आयतन में जिसने विश्रान्ति लाभ की है इस प्रकार प्रतिभारूपिणी शिवा की मैं वन्दन कर रहा हूं' :—

यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम्॥
(ध्व० लो० पृ० १९४)

इस पूर्वोक्त भाव का किंचित् सादृश्य शंकर भाष्य की टीका भामती में मिलता है :—

निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पंचभूतानि।
स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्त महाप्रलयः॥
(ब्र० सू० शा० भा० पृ० ४)

इसी प्रतिभा का अभिनवगुप्त पाद ने विमर्शशक्ति के साथ अभिन्न रूप में उल्लेख किया है। इस प्रकार कल्लट ने स्पन्दकारिका के प्रथम श्लोक में कहा है कि शङ्कर के उन्मेष से जगत् का उदय एवं प्रलय होता है :—

यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ।
तं शक्तिचक्रविभवं प्रभवं शंकरं स्तुमः॥
(स्प० का० पृ० ३)

अद्वैतवादियों ने माया को जगत् का उपादान स्वीकार किया है। माया सत्त्व-रजस्तमोगुणात्मिका है। इसलिये वह निरन्तर परिणामशील है। यद्यपि ब्रह्म को भी जगत् का उपादान कहा गया है तथापि जगत् का परिणामी उपादान माया है। माया जड़रूपिणी है। क्योंकि जड़ जगत् के उपादान को जड़ होना उचित है। इसलिये अद्वैतवादियों ने त्रिगुणात्मिका माया को ही जड़ जगत् के परिणामी उपादान रूप में स्वीकार किया है। ब्रह्म चिद्रूप है। इसलिये ब्रह्म जगत् विवर्त्त का अधिष्ठान रूप उपादान होता है—अद्वैतवादियों ने ऐसा ही स्वीकार किया है। जगत् के उपादान का निरूपण करने के

लिये सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों ने अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार प्रचेष्टा की है। न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय ने जगत् के कारण का निरूपण करने के लिये प्रवृत होकर आरम्भवाद की अवतारणा की है। द्वयणुकादि क्रम से जगत् की उत्पत्ति होती है—यही वैशेषिक सिद्धान्त है। नैयायिकों ने भी इसी सिद्धान्त का अनुवर्तन किया है। चार प्रकार के परमाणु-पार्थिव, जलीय, तैजस एवं वायवीय मिलित होकर द्वयणुकादि क्रम से जगत् की सृष्टि करती है—यही उनका कहना है। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के आचार्यों ने जगत् के मूलकारण की कल्पना में चार कारणों को स्वीकार किया है। सांख्य योग सम्प्रदाय के आचार्यों ने जड़ प्रकृति को ही जड़ जगत् का उपादान स्वीकार किया है। प्रकृति मूल कारण है—उसका कोई कारणान्तर नहीं हो सकता है। यह प्रकृति सर्वथा दुर्लक्ष्य है एवं परमाणु की तरह अतीन्द्रिय है। प्रकृति का अस्तित्व अनुमान प्रमाण के द्वारा ही सिद्ध किया गया है। सांख्य-योग सिद्धान्त की उपादेयता इसलिये है कि न्याय-वैशेषिक के आचार्यों ने जहाँ चार कारणों को स्वीकार किया है वहाँ सांख्य-योग ने केवल एक ही कारण को स्वीकार किया है। इसलिये सांख्य-योग मत में कल्पनालाघव है। अद्वैतवेदान्तियों ने मिथ्याभूत माया को मिथ्या जगत् का उपादान स्वीकार किया है।

मध्वन्यायामृत में व्यासतीर्थ ने एक शंका की है। उनका कथन है कि उपादान एवं उपादेय को सजातीय होना उचित है। उपादेय के समानजातीय उपादान से ही उपादेय की उत्पत्ति होती है—यही नियम अनुभव सिद्ध है। उपादेय के विजातीय उपादान से उपादेय उत्पन्न नहीं होता है। विजातीय वस्तुओं में उपादान-उपादेय भाव नहीं है। उपादान एवं उपादेय सजातीय होता है—इस नियम को स्वीकार नहीं करने से असत्य वस्तु का भी उपादान सत्य वस्तु हो सकेगी। तात्पर्य यह है कि सत्य ब्रह्म ही असत्य प्रपंच का उपादान हो सकेगा। इसके फलस्वरूप अज्ञान स्वीकार करने की कोई ह्यकता नहीं रहेगी। इसलिये अज्ञान को जगत् का उपादान कहने से अद्वैतवेदान्त मत में अनुपपत्ति हो जायगी। अद्वैत वेदान्तियों के मत में अज्ञान अभाव विलक्षण है। इसलिये जहाँ अभाव का आरोप किया जाता है उस आरोपित अभाव का उपादान अज्ञान कैसे होगा? आरोपित अभाव ही जगत् में अन्तर्भूत है। द्वैतवादी यह नहीं कह

सकते हैं कि आरोपित अभाव जगत् से बहिर्भूत है। उपादान और उपादेय में जब सजातीयत्व अपेक्षित है तब इसी नियम के अनुसार अज्ञान जगत् का उपादान कैसे बन सकता है? कारण, आरोपित अभाव भी जगत् में अन्तर्भूत है। इस आरोपित अभाव का उपादान अभाव विलक्षण अज्ञान कैसे हो सकता है? अगर अद्वैतवादी इस नियम को अस्वीकार करें तबतो सत्य ब्रह्म ही असत्य प्रपंच का उपादान हो जायगा और तब अज्ञान को जगत् उपादान स्वीकार करने का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा। न्यायामृतकार की यह शंका अनुचित है। कारण, जैसे सर्वथा विजातीय दो वस्तुओं में उपादान-उपादेय भाव नहीं होता है उसी प्रकार सर्वथा सजातीय दो वस्तुओं में भी उपादान-उपादेय भाव नहीं हो सकता है। इसलिये उपादान एवं उपादेय सर्वथा सजातीय होगा—इस प्रकार का नियम असिद्ध है। पूर्वपक्षी न्यायामृतकार अगर उपादेय के साथ सर्वथा सजातीय उपादान स्वीकार करना चाहें, तबतो महा अनर्थ हो जायगा। कारण ऐसा कोई भी उपादान वे प्रदर्शित नहीं कर सकेंगे जो उपादेय का सर्वथा सजातीय हो। उपादेय का सर्वथा सजातीय उपादान अगर अप्रसिद्ध हो जाय तब किस दृष्टान्त के बल से उपादानत्व युक्त उपादेय का सर्वथा सजातीयत्व सिद्ध करेंगे?

उपादान एवं उपादेय में किंचित् वैजात्य नहीं रहने से उपादान-उपादेय भाव नहीं हो सकता है। अन्ततोगत्वा उपादान एवं उपादेय का भेद सिद्ध करने के लिये ही भेद का अनुमापक विरुद्ध धर्म स्वीकार करना पड़ेगा। जो दार्शनिक सम्प्रदाय उपादान एवं उपादेय का अभेद स्वीकार करते हैं। वे भी उपादान के साथ उपादेय का अत्यन्ताभेद स्वीकार नहीं करते—कर भी नहीं सकते हैं, कारण, तब तो अत्यन्त अभेद प्रयुक्त उपादान—व्यक्ति ही उस उपादान का उपादेय हो जायगा। इसलिये अभेदवादियों को भी बाध्य होकर उपादान एवं उपादेय का भेदाभेद स्वीकार करना पड़ेगा। अर्थात् उपादान एवं उपादेय का किंचित् रूप में भेद एवं किंचित् रूप में अभेद स्वीकार करना पड़ेगा और इसी भेदाभेद के कारण उपादान एवं उपादेय का तादात्म्य स्वीकार किया जाता है। उपादान के साथ उपादेय का सर्वथा भेद अथवा सर्वथा अभेद रहने से उपादान-उपादेय भाव ही नहीं हो सकेगा। यही अभेदवादियों का उपादान-उपादेय का सिद्धान्त है। इसलिये पूर्वपक्षी न्यायामृतकार उपादानत्व को आपादक रूप में

ग्रहण कर उपादान में उपादेय के सर्वथा साजात्य की अनुमिति अथवा आपत्ति-इन दोनों में पूर्वपक्षी कुछ भी प्रदर्शित नहीं कर सकते हैं। कारण, साध्य एवं साधन का आपाद्य एवं आपादक में व्याप्ति ग्रहण के लिये कोई उपयुक्त दृष्टान्त वे प्रदर्शित नहीं कर सकते हैं। उपादान एवं उपादेय का सर्वथा साजात्य जो अपेक्षित नहीं है, यह वेदान्त दर्शन के न विलक्षणत्वाधिकरण में दृश्यते तु ( ब्र० सू० २. १. ६ ) सूत्र द्वारा सूत्रकार बादरायण ने विशेष रूप से प्रदर्शित किया है। शंकराचार्य ने भी उसी सूत्र के भाष्य में विलक्षण उत्पत्ति का प्रदर्शन किया है। पूर्वपक्षी न्यायामृतकार उस सूत्र के व्याख्यान में क्या कहना चाहते हैं ? अगर उपादान एवं उपादेय में यत्किंचित् सारूप्य अपेक्षित हो जाय तब तो उस आरोपित अभाव का उपादान अज्ञान में हैं। आरोपित अभाव एवं उसका उपादान अज्ञान--ये दोनो ही मिथ्या है, दोनों ही दृश्य हैं एवं दोनों ही जड़ हैं। कार्य के आकार के साथ कारण के आकार का अभेद स्वीकार करने से अर्थात् कार्यवस्तु एवं कारण वस्तु इन दोनों के आकार से भी अभेद स्वीकार करने से कार्य-कारण-भाव हो नहीं हो सकता है :--

( न च--सजातीयोपादानकत्वनियमः अन्यथा असत्यस्यापि सत्यमुपादनं स्यादिति वाध्यम् । सर्वथा साजात्ये सर्वथा वैजात्ये वोपादानोपादेयभावादर्शनेन तथा साजात्यञ्च वैजात्यस्य वा आपादयितुमशक्यत्वात्--नहि कार्यकारः कारणाकारोतोऽप्यभेदे कार्यकारणभावः।

( अ० सि० पृ० ५४४ )

न्यायामृतकार ने कहा है कि सारूप्य के नहीं रहने पर भी अगर उपादान उपादेय भाव हो जाय तब तो सत्य वस्तु भी असत्य वस्तुओं का उपादान हो सकेगी, अर्थात् सत्य ब्रह्म भी मिथ्या प्रपंच का उपादान हो जायगा। पूर्वपक्षी का ऐसा कहना नितान्त असंगत है। कारण, सत्य वस्तु यदि मिथ्या वस्तु का उपादान बन जाय तबतो मिथ्या वस्तु की कभी भी निवृत्ति नहीं होगी। असत्य वस्तु के उपादान से सत्य वस्तु की निवृत्ति संभावित ही नहीं है। सत्य वस्तुओं का कभी विनाश नहीं होता। उपादान का विनाश संभावित है अतः उपादेय मिथ्या वस्तु की भी कभी निवृत्ति नहीं हो सकेगी। उपादान की निवृत्ति को छोड़कर उपादेय का विनाश नहीं हो सकता है।

दूसरी बात है कि सत्य वस्तु अपरिणामी है। सत्यवस्तु का मिथ्या वस्तु परिणाम भी संभव नहीं हो सकता है :—

( सत्यस्य त्वसत्योपादानात्वे सत्यस्य निवृत्त्यसंभवेन तदुपादेयस्यासत्यस्यापि निवृत्तिर्न स्यात्। उपादाननिवृत्तिमन्तरेणोपादेयानिवृत्तेः, अतो न सत्यमसत्यस्योपादानम् सत्यस्यापरिणामित्वाच्च।

( अ० सि० पृ० ५४४ )

इस स्थल में तरंगिणीकार ने कहा है कि सत्य दुग्धादि भी परिणामी होता है और इस प्रकार सत्य ब्रह्म भी परिणामी हो जायगा :—

सत्यस्य दुग्धादेः परिणामदर्शनाच्च। ( न्या० त० २२४ )

इसके उत्तर में गौड़ ब्रह्मानन्द ने कहा है कि दुग्धादि भी सत्य नहीं है, कारण दुग्धादि दृश्य है, परिच्छिन्न है एवं जड़ है। यह मिथ्या है इसलिये सत्य कभी परिणामी नहीं हो सकता है :—

परिच्छिन्नत्वस्य मिथ्यात्वव्याप्यत्वात्।

( ल० च० पृ० ५४४ )

इस प्रकार तरंगिणीकार ने कहा है कि सत्य वस्तु का भी नाश हो सकता है—समवायि-कारण-नाशादि द्वारा सत्य वस्तु का भी नाश हो सकता है ( न्या० त० पृ० २२४ )।

इसके उत्तर में गौड़ ब्रह्मानन्द कहना चाहते हैं कि नाशत्व, मिथ्यात्व का व्याप्य है। जो वस्तु मिथ्या नहीं है उसका नाश नहीं होता है। सत्य ब्रह्म एवं असत्य वन्ध्यापुत्रादि का नाश नहीं होता है। अतएव नाश्य होने से ही मिथ्या हो जायगा। एवं जन्म मिथ्या वस्तु का उपादान होता है। इसलिये जन्म मिथ्या वस्तु के अज्ञान एवं उपादान को कल्पना करनी पड़ेगी :—

निमित्तनाशादिनेवासत्यस्य नाश इतिनुमयुक्तं दृश्य मात्रे ज्ञाननाश्यत्वमस्य श्रुतत्यतुमवादिसिद्धत्वेन उपादानाज्ञाननाशस्यावश्यकत्वात् ( ल० च०, पृ० ५४४ )।

इसमें प्रश्न हो सकता है कि अगर सत्य वस्तु मिथ्या वस्तु का उपादान ही नहीं हो तो श्रुति में कहे गये—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इस वचन को एवं जन्माद्यस्य यतः ब्र. १।१।२ इस ब्रह्मसूत्र

की भी उपपत्ति कैसे होगी ? इसके उत्तर में अद्वैतसिद्धिकार कहना चाहते हैं कि विवर्त्ताधिष्ठानत्वं त्वभ्युपेयत एव (अ० सि० पृ० ५४४)।

अभिप्राय यही है कि सत्य ब्रह्म के मिथ्या प्रपञ्च के परिणामी उपादान नहीं होने पर भी मिथ्या प्रपञ्चाध्यास का अधिष्ठान सत्य ब्रह्म ही होता है। सत्य वस्तु ही विवर्त का अधिष्ठान होता है। इसलिये अधिष्ठानत्वरूप उपादानत्व ब्रह्म में है। इसलिये प्रदर्शित श्रुति एवं सूत्र का कोई विरोध नहीं है।

## माया तत्त्व

शुद्धविद्यातत्त्व के बाद माया तत्त्व का प्रकाश होता है। शिव-तत्त्व, शक्तितत्त्व, सदाशिव अथवा सादाख्यतत्त्व, ईश्वरतत्त्व एवं शुद्धविद्यातत्त्व--इन पाँच प्रकार के तत्त्वों का उल्लेख शुद्ध-अध्वन् शब्द से किया गया है। कारण पूर्वोक्त पांच अवस्थाओं में परमेश्वर का रूप अनावृत रहता है। परन्तु मायातत्त्व से लेकर भूमि तत्त्व तक का निर्देश अशुद्ध अध्वन् से किया गया है। कारण, इस अवस्था में माया एवं माया से उत्पन्न पाँच प्रकार कंचुकों के द्वारा पारमेश्वर रूप आवृत्त हो जाता है। अद्वैतवेदान्त दर्शन में भी माया की आवरणशक्ति एवं विक्षेपशक्ति स्वीकार की गई है। उस सिद्धान्त के अनुसार माया ब्रह्म चैतन्य के स्वरूप का आवरण कर मिथ्या वस्तु की सृष्टि करती है। विक्षेप शब्द सृष्टि अर्थ में व्यवहृत है। माया तत्त्व में दुर्घट सम्पादन की सामर्थ्य है। परा प्रावेशिका ग्रंथ में क्षेमराज ने कहा है कि माया भावमात्र के चिद्रूप होने पर एवं परम शिव के साथ अभिन्न होने पर भी उसे भिन्न रूप में ज्ञान करा देती है। माया शब्द मा धातु से निष्पन्न हुआ है। मा धातु का अर्थ है परिमाप करना। इयत्ता का अवधारण करना परिमाप है। स्वभावतः चित् अखंड होने पर भी माया उसे परिच्छिन्न कर देती है। शुद्ध विद्या तत्त्व में जो परमेश्वर बाह्य पदार्थ के साथ अहमिदम्--इस प्रकार अभिन्न रूप से भासमान हुआ था। माया तत्त्व में आकर--ये दोनों भिन्न रूप में भासमान होते हैं। केवल यही नहीं, माया तत्त्व के बल से जड़ वर्ग भी परस्पर भिन्न रूप से भासमान होता है। शुद्ध विद्या तत्त्व तक चित् में किसी प्रकार परिच्छेद नहीं था। वह सर्वव्यापिनी थी एवं अहमिदम्--इस विमर्श में इदम् अंश

जड़ मात्र को ही अपने में अन्तर्गत कर अवस्थित था। परन्तु माया तत्त्व के प्रभाव से इदम् अंश जड़ सामान्य का परित्याग कर जड़ विशेष को ही समझाता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि माया तत्त्व से लेकर क्षिति तत्त्व तक का अशुद्ध अध्वन् शब्द से निर्देश किया जाता है। अशुद्ध अध्वन् में परमेश्वर स्वयं अपने स्वरूप के प्रच्छादन रूप क्रीड़ा में मग्न रहता है।

इस स्थिति में परमेश्वर अघोर भट्टारक की अवस्था में विद्यमान मन्त्र महेश्वर रूप का जो प्रमातृत्व रूप हैं, ग्रहण करते हैं। एवं इस स्वरूप को ग्रहण कर परमेश्वर दुर्घट सम्पादन सामर्थ्ययुक्त माया शक्ति के द्वारा अपने से भिन्न एवं परस्पर से भिन्न जो अणु ( जीव ) है। ( प्रत्यभिज्ञा दर्शन में अणु शब्द के द्वारा पुरुष समझा जाता है। परमशिव में जो पूर्णता है वह आणवमल के प्रभाव से परिच्छिन्न हो जाती है। इसके फलस्वरूप पूर्णपरमशिव अनुत्तर लाभ करते हैं।) उसकी भोग सिद्धि के लिये कला तत्त्व से प्रारम्भ कर क्षिति तत्त्व तक जड़ एवं अजड़ वर्ग को क्रमिक रूप में एवं अक्रमिक रूप में अवभासन करती है। उस समय परमेश्वर मायामल के द्वारा युक्त है। मायामल के प्रभाव से सभी वेद्य पदार्थ भिन्न-भिन्न रूप में भासमान होता है। और इसके फलस्वरूप जड़वर्ग के परमेश्वर का अङ्ग होने पर भी जड़ वेद्य वर्ग में जो भेद ज्ञान उत्पन्न होता है उसी का नाम माया तत्त्व है। इसी माया तत्त्व के द्वारा ईश्वर का अप्रतिहत स्वातन्त्र्य प्रतिहत होता है। जैसे वेला में भूमि समुद्र तरंग के ऐश्वर्य का अवरोध करती है उसी प्रकार माया तत्त्व भी परमेश्वर के स्वातन्त्र्य का अवरोध कर विद्यमान है :

माया विभेदबुद्धिर्निजांशजातुषु निखिलजीवेषु।
नित्यं तस्य निरंकुश विभवं वेलेव वारिधे रुन्धे ॥

अशुद्धे पुनरध्वनि परमेश्वर एव स्वात्मप्रच्छादनक्रीडया अघोरभट्टारकभ्रमि मंत्रमहेश्वररूपां गृहीत्वा दुर्घटसंपादनसामर्थ्येन मायाशक्त्या स्वतोऽन्योन्यतश्च भिन्नम् अणूनां भोगसिद्धये कलादिक्षित्यन्त् जड़ाजडवर्गं क्रमतो क्रमोऽपि अवभासयति, तत्र भिन्नभिन्नप्रथात्मकमायीयमलेन स्वांगकल्पेष्वपि जडवेद्यवर्गेषु विभिन्नतया बुद्धिरेव मायाख्यतत्त्वम्। येन तस्य निरर्गलं स्वातन्त्र्यं प्रतिहन्यते, वेलयेव अब्धितरङ्गाणां वैभवम् ॥ ( ष० त० सं० पृ० ४-५ )

## परमेश्वर एवं संवित् का स्वरूप विवेचन

प्रत्यभिज्ञाहृदय के निर्माता क्षेमराज ने परमेश्वर के साथ विश्व के सम्बन्ध को सुचारु रूप से प्रतिपादित किया है। ( उत्पलाचार्य ने प्रत्यभिज्ञा सूत्र नामक जिस ग्रन्थ की रचना की है उसी के सारांश को स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करने के लिये क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञाहृदय की रचना की है। ) इसमें कहा गया है कि स्वतंत्रा चिति शिव भट्टारक से अभिन्न है। विश्व के प्रकाश स्थिति एवं परप्रमाता में विश्रान्तिरूप संहार में चिति कारण है। विश्व का विशेष अर्थ है सदाशिवतत्त्व से लेकर भूमितत्त्व तक जिन्हें विश्व शब्द के द्वारा ग्रहण किया जाता है। चिति साक्षात् भगवती है, स्वतंत्रा है एवं अनुत्तर विमर्शमयी है। जिस विमर्श के बाद और कोई विमर्श नहीं है, वह अनुत्तर ( अनुत्तर शब्द का प्रयोग प्रत्यभिज्ञा दर्शन में पुनः पुनः किया गया है। बौद्ध दर्शन में अनुत्तरा सम्यक् सम्बोधि शब्द का व्यवहार किया गया है। इसमें कौन उत्तमर्ण कौन अधमर्ण है, इस विषय के निरूपण करने के लिये मैं विद्वान् व्यक्तियों पर भार अर्पण करता हूँ। ) विमर्श ( शैव दर्शन में विमर्श शब्द का पारिभाषिक अर्थ में व्यवहार किया गया है। वि + मृश धातु का अर्थ है स्पर्श करना ( विमर्श शब्द को मनोव्यापार समझाने के लिये प्रयोग किया जाता है। परमशिव के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे स्वयं केवल चिद्रूप ही नहीं, विमर्श रूप भी हैं। यह विमर्श अभिनवगुप्तपाद की उक्ति के अनुसार अनुव्यवसायस्थानापन्न है। व्यवसाय का जो व्यवसाय है अर्थात् ज्ञान का ज्ञान अनुव्यवसाय है। दार्शनिकों की परिभाषा में ज्ञान के मानस प्रत्यक्ष को अनुव्यवसाय समझना चाहिये। "यह घट है, उसे घट रूप में मैं जानता हूँ"—यह व्यवसाय एवं अनुव्यवसाय का प्रसिद्ध दृष्टान्त है। इस प्रकार विमर्श शब्द का भी अर्थ है ज्ञान का ज्ञान। परमशिव अपने ज्ञान विषय का ज्ञानवान् है इसलिये उनमें विमर्श शक्ति स्वीकार की जाती है। "मैं हूँ"—एतद् विषयक, अकृत्रिम अर्थात् अनारोपित अहं विषयक जो ज्ञान है, वही विमर्श है। इसी विमर्श से विश्व की सृष्टि स्थिति एवं संहार निष्पन्न होता है। सृष्टि शब्द के द्वारा विश्व की अभिव्यक्ति या प्रकाश समझना चाहिये। अन्यान्य दर्शन में जैसे अभिनव उत्पाद ग्रहण किया जाता है, प्रत्यभिज्ञा दर्शन में

वह बात नहीं। इस दर्शन में सृष्टि शब्द का अर्थ है प्रकाश या अभिव्यक्ति। इसलिये शैव दर्शन के साथ सांख्य दर्शन का ऐक्य प्रतीत होता है। सत्कार्यवादी सांख्य में कार्यों का अभिनव उत्पाद स्वीकार नहीं किया गया है। उनके मत में अभिव्यक्ति ही सृष्टि है। इसमें ध्यान देने का विषय है कि अभिनवगुप्त पाद ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन के इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर अभिनव भारती एवं लोचन में इसके उत्पत्तिवाद का निरसन कर अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की है। परमेश्वर में अन्तर्लीन जो विश्व है उसी का बाह्य देश में प्रकाश होना सृष्टि है। इस प्रकार प्रकाशावस्था प्राप्त विश्व का अवस्थान ही स्थिति है एवं पुनः परमशिव में विश्व का विलीन हो जाना ही संहार है। यह संहार विनाश नहीं है, किन्तु अनभिव्यक्ति मात्र है। परा प्रावेशिका ग्रन्थ में कहा गया है कि--इह खलु परमेश्वरः प्रकाशात्मा--प्रकाशस्य विमर्शः स्वभावः--विमर्शानाम् विश्वाकारेण विश्वप्रकाशनेन विश्वसंहरणेन च अकृत्रिमाहम् इति विस्फुरणम्। इस विषय को समझाने के लिये प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय के आचार्यगणों ने मयूरांडरसन्याय की अवतारणा की है। जिस प्रकार मयूरांडरस में विचित्र भाव मयूर पिच्छयुक्त अवस्थान करता है, उसी प्रकार विचित्र विश्व परम शिव के अभ्यन्तर में अनभिव्यक्त होकर अवस्थान करता है।--कहा जाता है।

चिति अथवा चित् पराशक्ति रूपा है। यद्यपि शक्ति अनन्त है तथापि यही ज्ञानरूप पारमेश्वरी शक्ति अपरिच्छिन्न एवं स्वतन्त्र है। इसलिये यह भिन्न शक्तियों से विलक्षण है। यह चिति जो शिव से अभिन्न कही गई है इसके द्वारा स्पष्ट प्रतीत होता है कि शिव ही विश्व का सदाशिवतत्त्व से लेकर भूमि तत्त्व तक के सिद्धि का कारण है। पराशक्तिरूप चिति को जो स्वतन्त्र कही गई है, इसका गम्भीर तात्पर्य है। लोकव्यवहार में देखने में आता है कि किसी कार्य का कर्त्ता उपादान सापेक्ष होकर उस कार्य का उत्पादन करता है। परन्तु जगत् के प्रकाश स्थिति एवं पर प्रमाता में विश्रान्तिरूप संहार के कारण भगवती चिति में कोई उपादान अपेक्षित नहीं है। पर प्रमाता शब्द के द्वारा परमशिव का ही ग्रहण करना चाहिये। उपादान निरपेक्षता ही चिति का स्वातन्त्र्य है। यह चिति जब प्रसार लाभ करती है तब जगत् का उन्मेष अथवा अभिव्यक्ति होती है। उन्मेष शब्द विशेष तात्पर्यपूर्ण है। चक्षु के उन्मेष के समान

जगत् का उन्मेष होता है एवं चिति के प्रसार से अभिव्यक्त जगत् अवस्थान करता है। इस प्रकार चिति जब विरतव्यापार अर्थात् निवृत्त प्रसर हो जाती है उस समय जगत् विलीन हो जाता है। इस स्थिति का नयन निमेष के साथ सादृश्य प्रतिपादित किया गया है। वेदान्त दर्शन में माया अथवा अविद्या को जगत् का परिणामी उपादान कहा गया है। इस प्रकार सांख्य दर्शन में जगत् को प्रकृति का परिणाम कहा गया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार ये दोनों मत असमीचीन हैं। माया एवं प्रकृति--ये दोनों ही जड़ात्मिका हैं। भगवती चिति स्वप्रकाशात्मिका है। इसलिये चित् प्रकाश से भिन्न जड़ात्मिका माया एवं प्रकृति कैसे जगत् का उपादान कारण हो सकती है ? विश्व तो प्रकाशमान है। जड़ अगर विश्व का उपादान हो जाय तब विश्व का प्रकाश नहीं होगा। इसलिये प्रकाशमान विश्व का सप्रकाश चिति ही उपादान कारण बन सकती है। शैव सिद्धान्त के अनुसार प्रकाशमानता वस्तु का स्वरूप है। जो अप्रकाशमान है वह असत् है, फिर असत् माया एवं प्रकृति प्रकाशमान विश्व का उपादान कारण कैसे बनेगी ? यदि उसे भी प्रकाशमान स्वीकार किया जाय तब तो प्रकाशरूपा चिति से अभिन्न होने के कारण इन दोनों को ( माया एवं प्रकृति ) कारण नहीं स्वीकार कर, चिति को ही कारण स्वीकार करना उचित है। विश्व में देश, काल एवं आकार भासमान होता है, वे चिति के द्वारा ही सृष्टि हैं। इस चिति के द्वारा ही अनुप्राणित हैं। इसलिये देश काल एवं आकार अखण्ड अपरिच्छिन्न चिति के स्वरूप में परिवर्तन लाने में समर्थ नहीं है। चिति से ही जब इन सबको अस्तित्व मिला है तब यह कैसे चिति में भेद उपादान करेगा ? विश्वोपादानभूतचिति व्यापक है। सदा विद्यमान होकर क्रियाशील है। परिपूर्ण रूप है :--

अस्यां हि प्रसरन्त्यां जगत् उन्मिषति व्यवतिष्ठते च, निवृत्तप्रसरायां च निमिषति, इति स्वानुभव एव अत्र साक्षी। अन्यस्य तु मायाप्रकृत्यादेः चित्प्रकाशभिन्नस्य अप्रकाशमानत्वेन असत्त्वात् न क्वचिदपि हेतुत्वम्, प्रकाशमानत्वे तु प्रकाशैकात्म्यात् प्रकाशरूपा चितिरेव हेतुः, न त्वसौ कश्चित्। अतएव देशकालाकारा एतत्सृष्टा एतदनुप्राणिताश्च नैतत्स्वरूपं भेत्तुमलम्, इति व्यापकनित्योचित--परिपूर्णरूपा इयम्--इत्यर्थलभ्यमेव एतत्। ( प्र० ह्०, पृ० ३५ )

प्रश्न हो सकता है कि जगत् चिति से अगर भिन्न हो जाय तब तो जगत् का कोई अस्तित्व ही नहीं रहेगा। वह शशविषाणादि की तरह असद्रूप हो जायगा। अगर चिति के साथ जगत् अभिन्न हो तब दोनों में कार्य-कारण भाव कैसे रह सकता है? कारण, दो अभिन्न वस्तुओं में कार्य-कारण भाव नहीं हो सकता है। स्व ही स्व का उपादान नहीं हो सकता है। इस प्रसंग में मध्यमक शास्त्र में आचार्य नागार्जुन ने, स्व से स्व क्यों नहीं उत्पन्न हो सकता है, इस विषय का सूक्ष्मेक्षिका के साथ प्रतिपादन किया है। इसके उत्तर में निष्कर्ष यह है कि कार्य उपादान से भिन्न होना चाहिये। विश्व अगर चिति से अभिन्न हो जाय तब उसके उपादान रूप में चिति को कैसे स्वीकार किया जा सकता है? इसके उत्तर में हृदयकार ने कहा है कि भगवती चिति स्वयं स्वच्छ है, अर्थात् स्वप्रकाशमान है एवं स्वतन्त्र है। इसलिये किसी बाह्य उपादान की अपेक्षा नहीं कर वे तत्तत् अनन्त जगदाकार में स्फुरित हो रहा है। जगत् के साथ चिति का जो कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है, इसका परम तात्पर्य यह है कि वह लोकव्यवहार में विद्यमान कार्य-कारण भाव से विलक्षण है। लोक व्यवहार में विद्यमान कार्य-कारण भाव में पौर्वापर्य अर्थात् कारण कार्य के अव्यवहित पूर्व में रहेगा एवं कार्य कारण के अव्यवहित उत्तर में रहेगा--यही नियम है। परन्तु चिति जो विश्व का उपादान है उसमें ये पौर्वापर्य क्रम नहीं है। चिति युगपत् अनन्त जगदाकार में प्रकाशमान हो रही है। चिति का जो अनन्त विश्व रूप में युगपत् स्फुरण है--इसमें किसी क्रम की अपेक्षा नहीं है :—

( ननु जगदपि चितो भिन्नं नैव किंचित्। अभेदे च कथं हेतु हेतुमद्भावः, उच्यते। चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा सत्तदनन्त-जगदात्मना स्फुरति, इत्येतावत्परमार्थोऽयं कार्यकारणभाव )।

( प्र० हृ० पृ० ३६ )

भिन्न-भिन्न दार्शनिक प्रस्थानों के सिद्धान्तानुसार प्रमाता प्रमाण के द्वारा वस्तु ( प्रमेय ) की सिद्धि करने में समर्थ होता है। किसी वस्तु की सिद्धि इन तीनों ( प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय ) के अधीन है। परन्तु प्रत्यभिज्ञा दर्शन में प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय रूप में व्यवस्थित विश्व के प्रकाशन में चिति ही हेतु है। अभिनव अर्थ का प्रकाशन रूप ही प्रमाण है। बौद्ध, जैन प्रभृति दार्शनिक सम्प्रदायों

के अनुसार ज्ञान ही प्रमाण है। इस अभिनव अर्थ प्रकाशन रूप ज्ञान को ही प्रमाण कहा जाता है। परन्तु पूर्वोक्त प्रकार प्रमाण स्वतन्त्र, अपरिच्छिन्न एवं सप्रकाश रूप चिति की सिद्धि कराने में उपयोग-शून्य है। जब प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय रूप विश्व का प्रकाश ही चिति के अधीन है तब परिच्छिन्न प्रकाश प्रमाण ज्ञान कैसे अपरिच्छिन्न सप्रकाश वस्तु का प्रकाशक हो सकता है? इस सम्बन्ध में त्रिकसार ( त्रिक–शिव, शक्ति एवं नर––इन तीनों का स्वरूप जिस दर्शन में निरूपित किया गया उसका नाम है त्रिक दर्शन्। ) नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि जैसे कोई व्यक्ति अपने पद के द्वारा अपने शिर की छाया उल्लंघन करने की प्रचेष्टा करे तो उसका सिर जैसे पांव के स्थान में कभी नहीं आयगा ऐसे ही वैन्दवी ( यह वैन्दवी कला शब्द पारिभाषिक अर्थ में व्यवहृत किया गया है। विद् धातु से विन्दु शब्द निष्पन्न होता है। ज्ञाता को विन्दु शब्द से कहा जाता है। चितरूप परमात्मा है। विन्दु की सम्बन्धिनी है वैन्दवी। विन्दु + अण् + डीप्। इस प्रसंग में कला एवं शक्ति शब्द पर्यायवाचक होते हैं। चिद्रूप ज्ञाता सम्बन्धी जो ज्ञातृत्व शक्ति है वही वैन्दवी कला है। ) कला के सम्बन्ध में समझना चाहिये। वैन्दवी कला, पर प्रमाता एवं परमशिव एक ही अर्थ में व्यवहृत हुआ है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में पुनः पुनः चिति का स्वातन्त्र्य कहा गया है।

विश्व के प्रकाशन स्थिति एवं संहार में परम शिव से अभिन्न स्वतन्त्र चिति ही एकमात्र कारण है। विश्व का जो संहार कहा गया है––यह संहार है पराद्वय परमशिव के साथ सामरस्य लाभ। सामरस्य शब्द का अर्थ है अभेद। पहले ही कहा जा चुका है कि प्रलय दशा में विश्व प्रलीन होकर अभेदावस्था लाभ करता है। चिति का स्वातन्त्र्य जब प्रत्यभिज्ञात होता है तब भोग एवं मोक्ष रूप विश्व सिद्धि कारण रूप में अवधृत होती है। दोनों में ही इस प्रसङ्ग में ऐसा उल्लेख करना उचित है कि विश्व का प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार भिन्न प्रकार से विभाजन किया गया है। बाह्य नील पीतादि द्रव्य, सुख, दुःखादि आन्तर पदार्थ एवं देह प्राणादि प्रमाता––इनकी जो सिद्धि है वह चिति के ज्ञान में उपाय है। यह जो सिद्धि कही गई है, इसका अर्थ है आवेश। यह आवेश विमर्शमय आत्मा रूप परमात्मा के साथ अभेद रूपता प्राप्ति है। शैव सिद्धान्त में प्रमाता विश्रान्ति स्थान है।

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृत्ति विमर्शिनी में प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मौलिक सिद्धान्त के ऊपर आक्षेप प्रदर्शन कर उसका निराकरण अभिनवगुप्तपाद ने किया है। इस प्रसंग में गुप्तपाद ने जो विचार विमर्श प्रदर्शन किया है वह प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मुख्य सिद्धान्त के ऊपर प्रकाश डालता है। यह पुनः पुनः कहा जा चुका है कि अशेष-वेद्य-वेदक प्रपञ्च परम शिव के स्वरूप में अवस्थान करता है। इसको परम शिव अपनी इच्छा के द्वारा अपने स्वरूप से बाह्य रूप में प्रकाशन करता है। एवं जिसे वह बाह्य रूप में प्रकाशन करता है उसे अपने स्वरूप में आभासन करता है। अवभास्यमान बाह्यपदार्थ जितने हैं सबों की आत्मा परमशिव है। परन्तु यह युक्ति-विरुद्ध मालूम पड़ता है। कारण, (१) ये सभी लोकयात्राएँ चिदात्मा भगवान परमशिव के स्वरूप में विश्रान्त हैं। यही प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त है। (२) परमशिव की इच्छा से ही अगर बाह्य प्रपञ्च का बाहर अवभास होता है तब उसी समय में परमात्मा में बाह्य प्रपञ्च का अवभास होता है—यह कैसे सम्भव हो सकता है? कारण, स्वात्मा में अविभिन्न रूप में अवभासन से विरूत होता है बाह्य अवभासन। (३) जो भासमान होकर निर्दिष्ट स्थान में ही भासमान होता है, जो भासमान वस्तु आत्मा में ही भासमान होती है—वही वस्तु उसी समय में उससे बहिर्भूत स्थान में कैसे भासमान होगी? जो घट जिस समय में गृह के अभ्यन्तर में भासमान है वही घट उसी समय में गृह के बाहर कैसे भासमान होगा? दूसरी बात है कि इस रूप में भासमान सभी पदार्थों की आत्मा यह परम शिव ही है—यह भी किसी प्रकार से प्रतीत नहीं होता है। बाह्य का भासमानत्व भेदावभास के द्वारा व्याप्त है। जहाँ-जहाँ जो वस्तु बाह्य देश में भासमान होती है वह वस्तु परमशिव से भिन्न होनी चाहिये। अगर उससे भिन्न नहीं होगी तो बाह्य देश में कैसे भासमान होगी? और सब वस्तुओं को शिव स्वरूप कहना, तो यही कहना होगा कि वे सब वस्तुएँ शिव से अभिन्न होती है। इसलिये पूर्वोक्त भेदावभास के विरुद्ध अभेदावभास के द्वारा बाह्य वस्तुओं का भासमानत्व व्याप्त होता है। और इसका फल यह होगा कि वे सभी पदार्थ नाना स्वरूप हैं एवं एक शिव स्वरूप में युगपत् विद्यमान हैं। यह कहने से कौन क्या समझेगा? आत्मा में व्यवस्थित वेद्य वेदक-प्रपञ्चों को बाह्य देश में अवभासन कराने के लिये परम शिव को क्यों इच्छा

उत्पन्न होगी ? अथवा इस इच्छा की उत्पत्ति में कोई भी कारण नहीं है। निष्कारण इच्छा की उत्पत्ति स्वीकार करने से तो निरन्तर ही इच्छा विद्यमान रहेगी अथवा कभी भी विद्यमान नहीं रहेगी। कारण, जिसका कोई कारण नहीं है वह या तो सभी समय विद्यमान रहेगा या कभी भी विद्यमान नहीं रहेगा। इसलिये प्रत्यभिज्ञा दार्शनिकों के जो मूलभूत सिद्धान्त हैं उनके पर्यालोचन करने से मालूम पड़ता है कि वे युक्ति विरुद्ध हैं।

ननु स्वरूपावस्थितमशेषं वेद्यवेदकप्रपञ्चं ततः स्वरूपात् बहिर्भावेन निजया इच्छया वहिर्भावयन्नसां बहिर्भूतानपि स्वात्मनि एव अवभासयति, तथा अवभास्यमानानामपि तेषां स एव आत्मेति सर्वमिदं विरुद्धमालक्ष्यते। तथा हि समस्ता इहं लोकयात्रा भगवत्येव चिदात्मनि स्वरूपे विश्रान्तेत्येतदेव तावत् कथं प्रत्येयम्। तदीययैव च इच्छया यदि बहिरवभास्यते तदिदानीं तत्रैव स्वात्मनि अवभास्यते इति किमेतत्। स्वात्मनि अविभेदेन हि यदवभासनं तद्विरुद्धं बहिरव भासनम् ( नहि यद् भासमानं तत्रैव भाति, तत् तदैव तद्वहिर्भूतं युक्तं घट इव गृहान्तर्भूतस्तद्वहिर्भूतश्च। किञ्च तथा भासमानानामपि एषां स एव शिव आत्मेति नितरामप्रातीतिकम्। तथा भासमानत्वं हि भेदावभासनेन व्याप्तम्, शिवात्मकत्वं च एषामेकात्मकत्वेन तद्विरुद्धेन व्याप्तम् तत् नानात्मानश्च एकात्मानश्च युगपदेव अमी भावा इत्युक्तं कः प्रतीयात्। स्वात्मनि च व्यवस्थितं वेद्यवेदकराशिं बहिरवभासयितुं किमर्थमस्य इच्छा उत्पद्यते, निस्कारणमेव वा। तथेच्छोत्पादाभ्युपगमे सततमेव तथाभावो स्यात्, न कदाचिद्वेति।

तत्सर्वमिदमसम्भवत्वसप्रायमिति। (ई० प्र० वि० वि०, पृ० ४)

इस प्रकार पूर्वपक्षियों ने जो शंकाएं प्रदर्शित की हैं, उनका क्रमशः अभिनवगुप्तपाद विरोध उपस्थापन कर रहे हैं। यह जो कहा गया है कि शिवात्मा में विश्व विश्रान्त है—यह कैसे हो सकता है ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि पदार्थों की सत्ता एवं असत्ता संवित् में बिना विश्रान्ति लाभ किये किसी भी हालत में युक्ति युक्त नहीं हो सकती है। जो भाव संवित् में विश्रान्त होती है वही प्रकाशमान होते हैं। भावों की प्रकाशमानता संवित् के साथ अभिन्न है कारण प्रकाश ही संवित् है। पूर्व पक्षी कहते हैं कि भावराशि प्रकाश से अतिरिक्त है एवं प्रकाश होता है—यह कहने का

तो निष्कर्ष यही होगा कि बाह्य नीलादि पदार्थ स्वरूप से अतिरिक्त हैं एवं नील स्वरूप से अतिरिक्त नील को नील कहा जाता है। परन्तु इस प्रकार कहना तो युक्ति विरुद्ध है। प्रकाश ही संवित् है। प्रत्यभिज्ञावादियों के मत में संवित् में विश्रान्त भावराशि संवित् से अनतिरिक्त वृत्ति है। एवं संवित् का भी कोई भेद अभ्यन्तर में सम्भव नहीं है। संवित् प्रकाशक स्वभाव है। इसलिये एक संवित् का अन्य संवित् से संवित् स्वरूप भेदकृत भेद व्यवहार अगर अस्वीकार किया जाय तब तो एक संवित् को अप्रकाशत्व रूप स्वीकार करना पड़ेगा। और इसके फलस्वरूप अप्रकाशरूप एक संवित् असंवित् रूप हो जायगा।

इसलिये संवित् में परस्पर कोई भेद नहीं हो सकता है। वेद्यभाववर्ग अपने स्वरूप के साथ एकात्म अर्थात् अभिन्न है। इस स्थिति में वे अगर स्वयं स्वरूप के साथ भिन्न हो जायँ तबतो उनका स्वरूप भेद संवित् भेद का प्रयोजक हो जायगा। ( वस्तु का स्वरूप ही भेद है—यह स्वरूप भेदवादी स्वीकार करते हैं। भेद ज्ञान अनुयोगी प्रतियोगी ज्ञान सापेक्ष होने से अन्योन्याश्रय एवं अनवस्था दोष दुष्ट हो जायगा। इसलिये, वस्तु का स्वरूप ही भेद है—यह स्वरूप भेदवादी स्वीकार करते हैं। ) परन्तु वेद्य वर्ग अपने स्वरूप से भिन्न नहीं हो सकते हैं। घट अगर घट स्वरूप से भिन्न हो जाय तब तो वह घट ही नहीं होगा। अगर यही स्वीकार किया जाय कि संवित् एवं वेद्य भिन्न स्वभाव के हैं, संवित् के द्वारा ही वेद्य का भेद होता है। कहने का तात्पर्य यही है कि वेद्य को अगर वेद्य स्वरूप से भिन्न नहीं स्वीकार किया जाय तो भी संवित् के द्वारा वेद्य का भेद हो सकता है और वेद्य के भेद के कारण उसके संवित् का भी भेद हो जायगा, तब भी अन्योन्याश्रय दोष हो जायगा। कारण संवित् के द्वारा वेद्य का भेद सिद्ध होने से संवित् का भेद सिद्ध होगा। और संवित् का भेद सिद्ध होने से वेद्य का भेद सिद्ध होगा। वेद्य की भेद सिद्धि एवं संवित् की भेद सिद्धि परस्पर सापेक्ष होने के नाते अन्योन्याश्रय दोष दुर्निवार हो जायगा। देश एव काल भी संवित् का भेदक नहीं हो सकता है। कारण देश काल भी वेद्य राशि में अन्तर्भूत है। इसलिये पूर्वोक्त युक्ति से संवित् के साथ अभिन्न हैं। जब स्थिति यही है तब तो संवित् के साथ अभिन्न होकर वही कैसे संवित्

को भिन्न करेगा। जो जिसके साथ अभिन्न है वह अपने से कैसे भिन्न हो सकता है। "अ" अगर "ब" के साथ अभिन्न है तो "अ" अपने को कैसे भिन्न कर सकता है? दो के अभाव में भेद की कल्पना ही असम्भव है।

( आशंक्य आह, शाश्वत इति। यत् तावदुक्तं शिवात्मन्येव विश्वं विश्रान्तमिति वायमेतदिति। तत्रोच्यते। इह भावनां सत्त्वं असत्त्वं वा व्यवतिष्ठमानं संविद्विश्रान्तिमन्तरेण न उपपद्यते। संविद्विश्रान्ता हि भावाः प्रकाशमाना भवन्ति। प्रकाशमानता च एषां संविदभेद एव। प्रकाश एव संविद्यतः। तत्प्रकाशादतिरिच्यन्ते च, प्रकाशन्ते चेति उच्यमाने नीलं स्वरूपात् व्यतिरिक्तम्, अथ च नीलमिति उच्यते। तदमी संविदि तावत् विश्रान्ता भावाः संविदनधिकवृत्त्य इति आयातम्। न च संविदा भेद उपपद्यते। प्रकाशैकरूपायां हि संविदि संविदन्तरात् स्वरूपभेदकृते भेदव्यवहारे एकतरत्र अप्रकाशरूपत्वमुक्तं स्यादिति असंविदसत्त्वमापतेत्। वेद्याश्च अमी तत्स्वरूपैकात्म्यभाजः स्वयंभिद्यमानत्वं चेत् सहेरन्, तत् स्वमहिम्ना संविदं भेदयेयुरपि। त एव तु न स्वती भेदमालम्बितुं समर्थाः। अथ संवेदनकृत एवं एषां भेदः सुस्पष्टमन्योन्याश्रयम्। देशकालावपि वेद्यराशिमधिशयानौ वेद्यत्वादेव संवितादात्म्यमविद्यावन्तौ कर्मकारं संविदं भिद्यताम्। वेद्यराशिहि समस्त एवं प्रकाशादभिन्नः। यत्प्रकाशते तत् प्रकाशाभिन्नम् संवित्प्रकाशवत् इव। नहि प्रकाशभिन्नस्य अप्रकाशमानस्य प्रकाशमानता युक्ता विरोधादिति।

( ई० प्र० वि० वि०, पृ० ४–५ )

सभी वेद्यराशि प्रकाश के साथ अभिन्न है। जो प्रकाशित होता है वह प्रकाश के साथ अभिन्न हैं, जैसे संवित् प्रकाशमान होने के कारण प्रकाश के साथ अभिन्न है। प्रकाश एवं संवित् एक ही पदार्थ है—यह पहले कहा जा चुका है। प्रकाश से जो भिन्न है एवं अप्रकाशमान है उसकी प्रकाशमान तो संभव नहीं है, कारण, इसमें विरोध स्पष्ट है। प्रकाशमानत्व अप्रकाशमानता का स्वभाव विरुद्ध है, कारण अप्रकाशमानता प्रकाश भिन्नत्व है। इसलिये अप्रकाशमानतो प्रकाशमानत्य का विपक्ष है। प्रकाशमानत्व अपने स्वभाव-विरुद्ध अप्रकाशमानता को निवृत्त कर अप्रकाशमानता से व्यावृत्त होता है एवं प्रकाश के साथ अभिन्न रूप में व्यापन करता

है। जहाँ जहाँ प्रकाशमानत्व है वहाँ वहाँ प्रकाश के साथ अभेद है। इस प्रकार व्याप्तिस्वभाव हेतु के बल से सिद्ध होती है।

स्वभाव हेतु का विवरण देते हुए कल्पतरुकार ( कल्पतरु पृ० ५४४ ) ने कहा है कि जो पदार्थ जनमात्रानुबन्धी है ( अनुगामी है ) एवं यदात्मा ( स्वभाव ) है वह उसका स्वभाव हेतु है। इसलिये कहा गया है कि तद्भावमात्रान्वयिनि स्वभावो हेतुरात्मनि। इसके दृष्टान्त में भामतीकार ने कहा है कि जो प्रत्यय ( ज्ञान ) है वह सभी बाह्य पदार्थ को आलम्बन नहीं करता है, जैसे स्वप्नज्ञान, मायाज्ञान प्रभृति। इसलिये विवादास्पदीभूत प्रत्यय स्वभाव हेतु है। जो प्रत्यय बाह्य का आलम्बन नहीं करता है उसमें प्रत्यय तो अनुबन्धी मात्र है। जिस प्रकार वृक्षता शिंशपात्व मात्र का अनुबन्धिनी है। इसलिये प्रत्ययत्वमात्रानुबन्धो निरालम्बनत्व ( आलम्बन रहित ) जहाँ साध्य है, वहाँ प्रत्ययत्व स्वभाव हेतु है। न्यायबिन्दु की टीका में धर्मोत्तराचार्य ने कहा है कि जो साध्य धर्म-साधन धर्म मात्र का अनुबन्ध युक्त है वही साध्य धर्म पूर्वोक्त साधन धर्म का स्वभाव है। निष्कर्ष यह हुआ कि साधन का स्वभाव जहाँ साध्य का धर्म होता है वहीं स्वभाव हेतु होता है। परमार्थतः उस स्थल में साध्य साधन का तादात्म्य विद्यमान है। जहाँ स्वभाव हेतु का प्रयोग होता है वहाँ साध्य-साधन का तादात्म्य ( अभेद ) विद्यमान है, जैसे शिंशपात्व एवं वृक्षत्व। अगर शिंशपात्व वृक्ष के स्वभाव का अतिक्रम करे तब वह वृक्ष ही नहीं होगा। इसलिये शिंशपात्व धर्म वृक्षत्व का स्वभाव हेतु है।

यो यन्मात्रानुबन्धी यदात्मा च स तत्र स्वभावहेतुः उक्तं हि तद्भावमात्रान्वयिनि स्वभावो हेतुरात्मनीति।

( वे० क० त०, पृ० ५४४ )

यो यः प्रत्ययः सर्वो बाह्यानलम्बनः यथा स्वप्नमायादिप्रत्ययः तथा चैव विवादाध्यासितः प्रत्यय इति स्वभावहेतुः, बाह्यालाम्बनता हि प्रत्ययत्वमात्रानुबन्धिनी वृक्षतैव शिंशपात्वमात्रानुबन्धिनीति तन्मात्रानुबन्धिनि निरालम्बनत्वे साध्ये भवति प्रत्ययत्वं स्वभावहेतुः। ( ब्र० सू० भा० भा० पृ० ५४४ )

न्याय वैशेषिक दार्शनिकवृन्द संवित् की स्वप्रकाशता स्वीकार नहीं करते हैं वे पूर्वोक्त युक्तियों के द्वारा निरस्त हो जाते हैं। जैसे

घट पटादि वेद्य पदार्थों का भेद संवित् का भेदक नहीं हो सकता है, इसी प्रकार देश काल का भेद भी संवित् का भेदक नहीं हो सकता है। किसी देश या काल में हमारा ज्ञान हुआ था--इस प्रकार जनसाधारण को बोध होता है। इसलिये अगर किसी व्यक्ति के मन में हो कि देश एवं काल संवित् का भेदक हो सकता है तो यह भी अनुचित होगा। कारण, देश काल का प्रकाश भी संवित् के प्रकाश से अतिरिक्त नहीं है। केवल यही नहीं, देश काल वेद्य वस्तुओं का जो स्वरूप है उस स्वरूप के साथ वेद्य घट पटादि वस्तुओं का भेद नहीं कर सकता है। संवित् को बात और क्या कहें? देश-काल प्रभृति घट पटादि के वेद्य होने में उपाधि है। वह केवल घट पटादि को अपने रूप में भिन्न भिन्न रूपों में अवस्थान कराने में उपयोगी होते हैं। ये तो हुई वेद्य की बातें, परन्तु संवित् में तो किसी भी प्रकार से स्वरूप भेद भी नहीं है, कारण, संवित् प्रकाश रूप है। प्रकाशरूपता छोड़कर संवित् का कोई रूपान्तर नहीं है। तब यही सिद्ध होता है कि सभी पदार्थ संवित् प्रकाश में ही विश्रान्त है और यह प्रकाश विमर्श-शून्य नहीं है।

संविदश्च स्वप्रकाशत्वमसहमाना अमुनैव प्रतिक्षिप्ता मन्तव्याः तत् वेद्यभेदवत् देशकालभेदोऽपि न संविदो भेदकः किंच वेद्यदेशकाल-प्रभृतय उपाधयो न जातुचित् स्वरूपाभिन्नं भावं भेतुं शक्ताः। केवलं स्वरूपभेदो भवन्नेव तैः परिनिष्ठीयते। न च संविदि कथंचिदपि स्वरूपभेदः प्रकाशैकरूपत्वादिति हि उक्तम्। तदमी प्रकाशा एव तावद्विश्रान्ता भावाः। प्रकाशश्च विमर्शशून्यो न भवति।

( ई० प्र० वि० वि०, पृ० ५ )

प्रकाशावस्था में अकृत्रिम अहं--ज्ञान का स्फुरण होता है। परमेश्वर की विमर्शरूपिणी इच्छा नित्य है। यह रुद्र, क्षेत्रज, प्रभृति प्रमातृवर्ग सुख, दुःख, नील पीतादि प्रमेय समूह को अवभासन करती है। इस तरह अवभासमान होकर पूर्वोक्त प्रमातृ एवं प्रमेय-वर्ग संवित्मय प्रकाश में ही विश्राम लाभ करता है। प्रकृत प्रसंग में विश्राम लाभ शब्द का अर्थ है एक रूपता या अभेदरूपता। अन्यथा भासमानत्व ही शशविषाणादि के बराबर असद्रूप हो जायगा। कारण, प्रकाश के साथ अभिन्न नहीं होकर प्रमातृ-प्रमेय-वर्ग कैसे अवभासमान हो सकता है? अवभासमानता एक ही चीज है। प्रमातृ प्रमेय वर्ग अगर प्रकाशमानता को त्याग करे तब तो

उसका भान नहीं हो सकता है। केवल यही नहीं ? तृण मात्र भी अप्रकाश स्वरूप रह जायगा। इस प्रकार निर्भासमानता को पूर्वपक्षी कैसे अस्वीकार कर सकता है ?

प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त के अनुसार नीलादि आत्म स्वभाव का न हो कर ही प्रकाशमान होता है, एवं इस रूप से प्रकाशमान होकर प्रकाश के साथ अभेद रूप में अवस्थान करता है। परमेश्वर का स्वाच्छन्द्य है जो संविद् रूप होकर भी विचित्र प्रमातृ एवं प्रमेय में भासमान होता है। यद्यपि प्रमातृ-प्रमेय वर्ग संवित् से अतिरिक्त नहीं है संवित् से अतिरिक्त रूप में प्रकाशमान होता है एवं उस प्रकाश में विमर्श भी करता रहता है। जो जिससे परमार्थतः अधिक ( भिन्न ) नहीं हैं वह अगर अधिक रूप में भासमान हो जाय तब उसे स्वच्छता कहा जाता है, जैसे दर्पण में प्रतिविम्बत वस्तुएं दर्पण से अतिरिक्त नहीं है—यही दर्पण का स्वच्छ भाव है जो अधिक एवं अभिन्न को अधिकरूप में भासमान कराता है।

ततश्च विमर्श एव भगवत इच्छा नित्यैव रुद्रक्षेत्रज्ञप्रमातृवर्गसुखदः, स्वनीलपीतादिप्रमेयसंचयं न अवभासयतीति, तथा अवभासमानमपि च संविन्मये प्रकाश एव विश्राम्यति, अन्यथा तथात्वस्यैव असत्कल्पत्वात्। न च प्रकाशमात्रतामुज्झति प्रकाशादतिरिक्तस्य तृण-मात्रस्यापि अप्रकाशनप्रसंगात्। तदेवं भूतं निर्भासमानं कथमपह्नि-यतामिति विरोधोऽपि अत्र न कश्चित्। यदि हि नीलमनुज्झन्नील-प्रकाशमानमेव अनीलप्रकाशतया निर्भायात्, को नीलानीलयोरपि विरोधवैधुर्यमुद्घोषयेत्। इह पुनर्नीलादयोऽनुज्झितनीलादिभावा एव प्रकाशमानाः सन्तः प्रकाशभेदमयाः। तदिदमेव भगवतः स्वाच्छ-न्द्यम्—यत् संविदात्मक एव भवन् विचित्रप्रमातृप्रमेयात्मनः संविद्मानाधिकेनापि संविद्दूराधिकतया निर्भासनवपुषा प्रकाशते च तथा विमृशति च। ( ई० प्र० वि० वि०, ख० १, पृ० ५६ )

लोक व्यवहार में देखने आता है कि हस्ती, अश्व एवं पुरुष और घट एवं कुम्भकार इत्यादि विशेष रूप में एवं इनमें विद्यमान अवयवावयविभाव-सम्बन्ध और कार्य कारण के द्वारा जो व्यवहार समूह देखने में आता है वह स्वल्प मात्र भी अपने स्वरूप से अति-रिक्त नहीं है। तथापि अनधिक होने पर भी जो अतिरिक्त रूप में निर्भासमान प्रतीत होता है उसी का नाम है स्वच्छ, इनमें जो पूर्वोक्त

प्रकार विमर्श नहीं है वही इसका अस्वाच्छन्द्य रूप जड़त्व है। मैं अनतिरिक्त हूं तथापि मैं भासमान हो रहा हूँ--इस प्रकार विमर्श के नहीं रहने के कारण प्राकार गृहादि में अस्वाच्छन्द्य जड़त्व को अंगीकार किया जाता है।

परमेश्वर यद्यपि परमार्थतः अनतिरिक्ति होकर भी अतिरिक्त रूप में भासमान होता है तथापि परमेश्वर अपने स्वरूप का विमर्श करता है। अहम् इदं--यह ज्ञान उनको विद्यमान है। कारण, परमेश्वर संवित् रूप है, एवं यह संवित् विमर्श स्वभाव है। पूर्वपक्षी ने जो कहा है कि वेद्य-वेदक वर्ग जो बाह्य देश में अवभासन कराने के लिये परमेश्वर की इच्छा होती है--यह अगर निष्कारण हो जाय तब तो बाह्य देश में वेद्य-वेदक राशियों का अवभास बना रहेगा। यह भी अनुचित है। कारण, सर्वदा, कदाचित् इत्यादि शब्दों द्वारा अगर पूर्वपक्षी काल को समझना चाहें--जो काल परमशिव द्वारा निर्मित नहीं हुआ, तबतो पूर्वपक्षी को आपत्ति हो सकती है। क्योंकि, इस में वह काल परमशिव द्वारा निर्मित नहीं होने के कारण स्वतन्त्र स्वीकार किया जा सकता है और इसे अवलम्बन कर पूर्वोक्त आपत्ति भी लागू हो सकती है। परन्तु बात तो भिन्न प्रकार की है।

अनाधिकस्यापि अधिकस्य इव भासनं स्वच्छभाव उच्यते दर्पणस्य इव। स हि प्राकारगृहहस्त्यश्वपुरुषघटकुम्भकारभेदैस्तद्गतावयवावयविभावाधाराधेयभावकार्यकारणभावप्रभृतिभिश्च व्यवहारनिवहैर्मनोमात्रमपि स्वरूपानधिकैरपि अतिरिक्तं च यत् निर्भासते तदेवं स्वच्छ इति उच्यते। केवलमस्य तथा विमर्शाभावादस्वाच्छन्द्यं जडत्वम्। परमेश्वरस्तु तथा भासमानमात्मानं विमृशत्येव संविदो विमर्शपर्यन्तत्वात्। यच्च उक्तं सर्वदैव तथा भासमानं स्यादिति। तत्र सर्वदेति कदाचिदिति च यदि कालः कश्चित् तन्निर्माणनिरपेक्षः स्वतन्त्रस्तत् तदवलम्बनेन चोद्येतापि। न च एवम्।

( ई० प्र० वि० वि, पृ० ६ ख० १ )

संवित् प्रकाश से काल नामक कोई भिन्न वस्तु नहीं है। काल भी संवित् रूप ही है। इसलिये "सर्वदा", "कदाचित्" इन सब शब्दों के द्वारा संवित् प्रकाश से अतिरिक्त किसी काल को नहीं समझा जा सकता लोक व्यवहार में जो कहा जाता है "इस काल में यह द्योत्य अर्थात् अवभास्य है"--इसका अर्थ भासमान सूर्य परि-

स्पन्दित से अधिक नहीं है। प्रकाशमान सूर्य परिस्पन्दित ही काल है। पूर्वोक्त युक्ति से स्पष्ट है कि सूर्य परिस्पन्दित प्रकाशरूपता से अतिरिक्त नहीं है, अतिरिक्त होने से सूर्य परिस्पन्दित का भी प्रकाश नहीं होगा। इसलिये संवित् से अतिरिक्त काल नामक कोई पदार्थ नहीं है। इसमें प्रश्न होता है कि तत्त्वतः सूर्यादि का जो विस्पन्दित है उसके साथ युगपत् नीलादि विश्व क्यों भासमान होता है ? इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहना चाहते हैं कि सूर्यादि विस्पन्दित विशेष के साथ अगर नीलादि विश्व के भासन का सम्बन्ध नहीं स्वीकार किया जाय तब तो विषय विशेष का उल्लेखकारी कोई ज्ञान सम्भव नहीं होगा। ऐसी स्थिति में सामान्यरूप में सभी विषय भासमान होगा। निकर्ष यही होगा कि नील भी पीत रूप में भासमान हो जायगा। तत्त्वतः सूर्य परिस्पन्दित विशेष के साथ सम्बन्ध रहने के कारण ही नील, पीतादि पृथक् पृथक् रूप में भासमान होता है। इसको अस्वीकार करने से पूर्वपक्षी ऐसा भी तो प्रश्न कर सकते है--नील ही पीत रूप में क्यों नहीं भासमान हो सकता है ?

तदिदमपि किं न चोद्यते—नीलमेव पीतं किं न भातीति। ननु एवं न नीलं भासितं स्यात्। यदि एवम् अन्यथा भासने तदेव तत्सूर्यविस्पन्दितं नावभासमेव स्यात्। सप्तार्णवमिलननिर्भासित्वे हि प्रलयदिनमेव अद्यतनं स्यात् नाद्यतनं दिनं तद्भावे तदुभयात्मनापि।

( ई० प्र० वि० वि०, ख १, पृ, ६-७ )

इसके उत्तर में अगर कहें कि तब तो नील भासित नहीं होगा तो प्रत्यभिज्ञावादी भी इस उत्तर का अनुसरण कर कहना चाहते है कि सूर्य परिस्पन्दित के विशेष को लेकर अगर नीलादि भासमान नहीं हो जाय तब तो प्रकारान्तर में सामान्य रूप में भासमान होने से सूर्य परिस्पन्दित का विशेष भासमान नहीं होगा। यह परिस्पन्दित विशेष है--यह अवभास यदि नहीं हो तब तो अनिष्टापत्ति हो जायगी। कारण, इस रूप से सूर्य परिस्पन्दित का विशेष यदि अवभास नहीं हो तो कोई परिच्छेद नहीं रहेगा। और इसका फल यह होगा कि अद्यतन—आज, कल, परसों—इस रूप को सूर्य-परिस्पन्दित को लेकर लोकव्यवहार में परिच्छेद है, जो पुराणादि में कहा गया है कि प्रलय काल में सप्तसमुद्र एक हो जाते हैं। जब

काल का परिच्छेद नहीं है--तब तो सप्तसमुद्र का मिलन भी सूर्य परिस्पन्दित में ही रह जायगा। क्योंकि, सामान्य रूप में सूर्य परिस्पन्दित को पूर्वपक्षी ग्रहण करना चाहते हैं। सूर्य परिस्पन्द के समय विशेष के साथ सम्बद्ध नहीं होने के कारण सात समुद्रों का मिलन उसमें निर्भासित रह जायगा। इसका फल यह होगा कि अद्यतन दिन प्रलय दिन में परिणत हो जायगा। अद्यतन दिन नाम का और कुछ नहीं रहेगा। यदि रूप में सूर्य विस्पन्दित के ग्रहण के कारण अद्यतन दिन का भी अस्तित्व स्वीकार किया जाय तबतो एक ही दिन में अद्यतन दिन एवं प्रलय दिन दोनों भासमान हो जायगा। परन्तु यह तो अनुभव विरुद्ध है। इसलिये तत्त्वतः सूर्य परिस्पन्दित के साथ नीलादि युगपत् भासमान होता है।

## प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार आत्मा का स्वरूप

भारतीय दर्शन शास्त्र के जो विभिन्न प्रस्थान हैं, उन में आत्मतत्त्व एक प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। न्याय, लोकायत, वैशेषिक सांख्य, पातंजल, वेदान्त, मीमांसा, जैन, बौद्ध सभी दर्शनों में आत्मा के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करने के लिए विपुल प्रयास किया गया है। यह तो सकल-जनगम्य है कि पूर्वोक्त दर्शन प्रस्थान के विभिन्न प्रवेत्ता आचार्यगण आत्मा का यथार्थरूप निर्धारण करने में एक मत नहीं हैं। आचार्यों ने अपने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार आत्मा का स्वरूप निरूपण किया है और भिन्न प्रस्थानों पर दोष प्रदर्शन भी किया है। भारतीय दार्शनिक चिन्ता-स्रोत परस्पर सम्बद्ध रहने के कारण एक सिद्धान्त को समझने के लिए भिन्न दर्शन प्रस्थानों का पर्यालोचन नितान्त आवश्यक हो जाता है। अतिप्राचीन काल से प्रचलित इन दार्शनिक मतों का विच्छिन्न रूप से अध्ययन नहीं किया जा सकता है। कारण, इस प्रकार का अध्ययन असंपूर्ण रहेगा और प्रतिपाद्य विषय पर आलोक सम्पात करना भी असंभव हो जायगा। यद्यपि इस वर्तमान ग्रन्थ का आलोच्य विषय काश्मीर प्रत्यभिज्ञा दर्शन है, तथापि इन दार्शनिक मतों में आत्मा का स्वरूप स्पष्ट रूप से समझाने के लिए अन्य दर्शन प्रस्थान में जिस प्रकार आत्मस्वरूप का प्रदर्शन किया गया है, उसी को पहले उपस्थापन करना आवश्यक है।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि इससे प्रत्यभिज्ञा दर्शन में आत्म-स्वरूप जिस प्रकार प्रतिपादित किया गया है उसको समझने में सुलभता होगी। केवल यही नहीं, तुलनामूलक समीक्षण भी करना सुलभ हो जायगा। इसके लिये प्रथमतः लोकायत सम्मत आत्मा का स्वरूप प्रदर्शन किया जा रहा है।

## चार्वाक-मत

लोकायतमतानुसारी आचार्यगण कहना चाहते हैं कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु--ये चार भूत शरीर रूप में परिणत होते हैं और इस परिणाम विशेष का स्वभाव ही है कि उससे चैतन्य उत्पन्न होता है। शरीर के विनाश होने के बाद चैतन्य भी विनष्ट हो जाता है। जिस तरह गुड़, तण्डुल प्रभृति से मद शक्ति उत्पन्न होती है उसी तरह पूर्वोक्त भूत चतुष्टय से चैतन्य उत्पन्न होता है। इसलिये इसका नाम है भूतचैतन्यवाद। वृक्ष विशेष का निर्यास जो किण्व नाम से प्रसिद्ध है, सूरा का उपादान है। जबतक यह निर्यास निर्विकार रूप में अवस्थान करता है, तबतक उसमें मद शक्ति नहीं रहती है। जब वह सुरा के रूप में विकृत हो जाता है तब उसमें मद शक्ति उत्पन्न होती है। इसी तरह देहाकार में परिणत भूत-चतुष्टय से ही चैतन्य की उत्पत्ति होती है। इस प्रसंग में चार्वाक यह भी कहना चाहते हैं कि वृहदारण्यक उपनिषद् में भी कहा गया है कि चैतन्य रूप आत्मा भूत से उत्पन्न होकर. भूत के विनाश के साथ विनष्ट हो जाता है। विनाश के बाद चैतन्य विनष्ट हो जाता है। विनाश के बाद चैतन्य अर्थात् ज्ञान नाम की कोई वस्तु ही नहीं रहती है। यही चैतन्य विशिष्ट देह आत्मा है। देह से अतिरिक्त आत्मा के लिये कोई प्रमाण नहीं है। ( तत्र पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारि तत्त्वानि। तेभ्य एव देहाकारः परिणतेभ्यः किण्वादिभ्यः मदशक्तिवत् चैतन्यमुपजायते। विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनश्यति। तदाहुः--विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञास्तीति (वृह० उप० २।४।१२)। तच्चैतन्यविशिष्ट-देह एवात्मा। देहातिरिक्ते आत्मनि प्रमाणाभावात्। प्रत्यक्षैक-प्रमाणवादितया अनुमानादेः अनंगीकारेण प्रामाण्याभावात्)।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि चैतन्य शब्द का अर्थ है ज्ञान। देह का उच्छेद ही मोक्ष है। देह के अतिरिक्त अगर आत्मा को स्वीकार किया जाय तब अनुपपत्ति हो जायगी। कारण, मृत्यु के समय देह से बहिर्गमन के समय में उसका दर्शन नहीं होता है। इसलिये देहातिरिक्त आत्मवादी दार्शनिकों को उसे अमूर्त स्वीकार करना पड़ेगा और इससे उस आत्मा में कृशत्व अथवा स्थूलत्व संभव नहीं हो सकता, इसलिये अहं पद का अर्थ जो आत्मा है उसके साथ कृश, कृष्णादि पद की एक अधिकरण में स्थिति संभव नहीं हो सकती है। और लोक में यह अनुभवसिद्ध है कि "मैं कृश हूँ", "मैं कृष्ण हूँ"। एक शरीर रूप अधिकरण में पूर्वोक्त कृश, स्थूल, कृष्ण रूप का अनुभव तभी सम्भव हो सकता है जब देहात्मवाद ही स्वीकार किया जाय। इसमें प्रश्न यह होता है कि अगर शरीर को ही आत्मा स्वीकार किया जाय तब तो अहं पद का अर्थ शरीर ही होगा और इसमें "अहं शरीरम्" "मैं शरीर हूँ" इस प्रकार के अनुभव और लोक व्यवहार का होना उचित होगा। परन्तु लोक में तो हमारा शरीर है–ऐसा ही व्यवहार होता है।

इनके उत्तर में लोकायत मतानुसारी कहना चाहते हैं कि जैसे राहु के शिरोमात्र होने पर भी "राहु का शिर" इस प्रकार औपचारिक व्यवहार होता है––प्रकृत स्थल में भी हमारा शरीर––इस प्रकार का गौण व्यवहार उत्पन्न हो जायगा। ( देहच्छेदो मोक्षः। देहात्मवादे च स्थूलोऽहं कृशोऽहं कृष्णोऽहं इत्यादि सामानाधिकरण्योपपत्तिः। मम शरीरम् इति व्यवहारो राहोः शिरः इत्यादिवदौपचारिकः। ) ( स० द० सं०, पृ० ६ ) अतएव यह सिद्ध हुआ कि "मैं स्थूल हूँ", "मैं कृश हूँ"––इस प्रकार के लौकिक व्यवहार में स्थौल्य और कृशत्व अहं पदार्थ के साथ देहरूप एक अधिकरण में प्रतीत होते हैं इससे प्रतीत होता है कि देह ही आत्मा है।

पूर्वोक्त लोकायत मत असमीचीन है। कारण, भूतचतुष्टय जड़ है। जड़ से चेतन की उत्पत्ति कैसे होगी ? चैतन्य शरीराकार में परिणत भूत से उत्पन्न होता है––यह कहना ही असमीचीन है। कारण, इससे अपने स्वरूप का अभेद ज्ञान नहीं होगा। क्योंकि, शरीर का प्रतिक्षण परिणाम हो रहा है। बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्थायें शरीर में पैदा हो जाती हैं। यह अनुभव सिद्ध

है। परन्तु चैतन्य के अभेद का अनुभव सर्वदा होता है। शरीर से यदि चैतन्य की उत्पत्ति स्वीकार की जाय तब तो बाल्यादि अवस्था में शरीर भेद से चैतन्य का भी भेद स्वीकार करना होगा। परन्तु प्रत्यह शरीर का परिणाम हो रहा है। बाल्यावस्था का शरीर विनष्ट होता है और युवावस्था का शरीर उत्पन्न होता है। परन्तु "अहम्" अनुभव सर्वत्र अनुस्यूत है। शरीर भेद से उसका भेद नहीं देखा जाता है। वृद्धावस्था और युवावस्था के शरीर में जो अभेद का अनुभव होता है उसको भ्रम समझना चाहिए। जैसे प्रतिक्षण विशरणशील प्रदीप शिखा में अभेद भ्रम होता है। इस भ्रम का मूल है सादृश्यज्ञान। इसी प्रकार शैशवावस्था और युवावस्था के शरीर में जो अभेद ज्ञान और सादृश्य ज्ञान है उसी के कारण भ्रम होता है। शुक्ति रजत भ्रम में सादृश्य भ्रम के कारण शुक्ति रजत के रूप में देखी जाती है। देह से चैतन्य की उत्पत्ति होती है ऐसा स्वीकार करने से देह को कारण और चैतन्य को कार्य के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। कार्यकारणभाव सम्बन्ध अन्वय-व्यतिरेक ज्ञान के अधीन है। देह के रहने से चैतन्य की उत्पत्ति और देह के नहीं रहने से चैतन्य को अनुपपत्ति इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक ज्ञान नहीं होने से देह के साथ चैतन्य का कार्य-कारणभाव सम्बन्ध भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अब प्रश्न यह है कि यहाँ पर अन्वय व्यतिरेक ज्ञान चैतन्य का ही स्वीकार करना पड़ेगा और इससे चैतन्य की पूर्व सत्ता माननी होगी। कारण, चैतन्य के नहीं रहने से देह के साथ चैतन्य का अन्वय व्यतिरेक ज्ञान भी संभव नहीं होगा। देहात्मवाद का सिद्धान्त सम्पूर्ण रूप में व्यस्त हो जायगा इससे यही सिद्ध हुआ कि लोकायत मत सर्वथा असार है।

इसमें यह भी सोचने का विषय है कि भूत मात्र जड़ है। आत्मा का स्वभाव है चैतन्य। जड़ और चैतन्य दो विलक्षण पदार्थ हैं। कारण और कार्य में किंचिद् साजात्य रहना चाहिये। कार्य-कारण से सम्पूर्ण अभेद होने पर भी कार्यकारण का सम्बन्ध उपपन्न नहीं हो सकता है। इस प्रकार आत्यान्तिक भेद के रहने पर भी यह सम्बन्ध उपपन्न नहीं हो सकता है, इसलिये चैतन्य और जड़ इन दोनों में आत्यान्तिक भेद रहने के कारण इन दोनों में कार्य-कारण-भाव असंगत है।

## बौद्ध-मत

बौद्ध दार्शनिक देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व तो स्वीकार करते हैं परन्तु यह आत्मा बौद्ध मत में क्षणिक है। क्षणिक विज्ञान-धारा को छोड़कर स्वतन्त्र आत्मा का अस्तित्व यह मत नहीं मानता है। चैतन्य से चैतन्यान्तर की उत्पत्ति विज्ञानवादी के द्वारा स्वीकार करने पर भी आत्मा को स्थिर स्वीकार नहीं करने से ऐहलौकिक एवं पारलौकिक फल निष्पादन करने के लिये साधन सम्पादन निष्फल हो जायगा। यह तो संभव नहीं हो सकता है कि एक व्यक्ति कर्म का अनुष्ठान करे और दूसरा उसका फल भोग करे। यह अनुभव सिद्ध है कि मैंने जो पूर्वकाल में कर्म का अनुष्ठान किया है उसी की समृद्धि फल भोग कर रहा हूँ। कर्म का अनुष्ठाता पुरुष कर्म का फल भोग करता है--यही सभी दार्शनिकों का सिद्धान्त है। एक व्यक्ति कर्म का अनुष्ठान करेगा और उससे भिन्न व्यक्ति कर्म का फल भोग करेगा---अगर यह हो जाय तो कर्मवाद विच्छिन्न हो जायगा। बौद्ध सिद्धान्त का निष्कर्ष यह है कि आत्मा क्षणिक है, क्षणिक विज्ञान-सन्तान रूप में अनुवृत होता है और यह विज्ञान-सन्तान प्रतिव्यक्ति भिन्न है।

आत्म शब्द का विभिन्न अर्थों में व्यवहार कोषकारों ने किया है। स्वभाव, बुद्धि, देह, अज, संकल्प, यत्न, धृति, जीव, ब्रह्म, प्रभृति विभिन्न प्रकार के अर्थ का प्रतिपादन आत्म शब्द से होता है। इन्द्रिय एवं देह के निकट रहने के कारण इन दोनों में आत्मरूप से भ्रम होना स्वाभाविक है। तत्त्वज्ञान-शून्य मनुष्य देह से पृथक् आत्मा के अस्तित्व का अवधारण करने में समर्थ नहीं होता है। आत्मस्वरूप सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। साधारणतः अहं ( मैं ) ज्ञान का विषय आत्मा है--ऐसा कुछ दार्शनिक प्रस्थान के आचार्य स्वीकार करते हैं। परन्तु यह अहम् शब्द यथार्थ ब्रह्म स्वरूप आत्मा का प्रतिपादक नहीं है। इसे भामतीकार और विवरणकार ने विस्तृत रूप में प्रतिपादित किया है। मनुष्यमात्र को ही अहं ज्ञान होता है। किन्तु यह अहं ज्ञान अनारोपित आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है। लोकायत मतानुसारी आचार्यगण देह व्यतिरिक्त आत्मा को स्वीकार नहीं करते हैं। इसलिये इन लोगों के मतानुसार देह के विनाश के साथ-साथ ही आत्मा का भी नाश हो जाता हैं। परन्तु इस सिद्धान्त को

अन्य भारतीय दार्शनिकों ने स्वीकार नहीं किया है, देहातिरिक्त आत्मा अगर नहीं रहे तो मनुष्यों का धर्माधर्म तथा पाप-पुण्य का जो भेद अनादि काल से आ रहा है, उसका मूल ही उच्छिन्न हो जायगा। कर्मवाद का मूल शिथिल हो जायगा। मनुष्य देह, इन्द्रिय को तृप्त करने में ही व्याकुल हो जायगा। इसलिये लोकायतमत के निरस्त करने के लिए सभी दार्शनिक सम्प्रदाय बद्धपरिकर हो गये हैं। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् ने एक वाक्य में घोषणा की है कि आत्मा देह से अतिरिक्त है। आत्मा के स्वरूप के निरूपण के प्रसङ्ग में वैदिक ऋषियों ने घोषणा की है कि आत्मा जरा-मृत्यु-शून्य है। आत्मा अणु से भी अणीयान् है, महत् से भी महीयान् है। इसको शस्त्र के द्वारा छिन्न नहीं किया जा सकता है। पावक इसको दग्ध नहीं कर सकता है। मरुत् इसको शुष्क नहीं कर सकता है। यह दृश्य प्रपञ्च के अतीत होने पर भी उसी का अन्तर्यामी है। इसी का अनुशासन मानकर नदी का जल प्रवाहित हो रहा है। इसी की दीप्ति लेकर चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र देदीप्यमान हैं। इसी के सत्त्व के कारण बाह्य पदार्थ सत्त्व लाभ करते हैं। इसी आत्म-स्वरूप के अपरोक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय-ग्राम को नियन्त्रित करके योगी एवं तपस्विगण तपस्या एवं अनुष्ठान करते हैं। किन्तु प्रत्यगात्मस्वरूप का इन्द्रिय अथवा मन के द्वारा अवधारण नहीं किया जा सकता है। वेद से लेकर पुराण तक सभी ने एक कण्ठ से घोषणा की है कि यह आत्म-ज्योति, वाणी और मन से परे—अवाङ्मनसगोचर है। यह आत्मा प्राण से भी भिन्न है। प्राण आत्मा के सबसे निकट रहते हैं। इसलिये प्राण को ही मनुष्य आत्मा के रूप में समझता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में इसी प्राण को अयास् अंगिरस् कह कर निर्देश किया गया है और प्राणात्मदर्शी का उल्लेख किया गया है। इसी आत्मा के स्वरूप निर्धारण करने के लिए भारतीय दार्शनिक प्रस्थान विभिन्न प्रवाहों में प्रवाहित हो चुके हैं। जिस प्रकार नदी का अलग प्रवाह एक महासमुद्र में जाकर विलीन हो जाता है, उसी प्रकार आत्म समुद्र में सभी दार्शनिकों की विभिन्न दार्शनिक चिन्तायें आकर मिल गई हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् में तारस्वर से कहा गया है—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ( २।४।५ )। इस

उक्ति से मोक्ष के लिये आत्मदर्शन अपेक्षित है, यही प्रतिपादित होता है। केवल उपनिषदानुगामी वेदान्त दर्शन ही नहीं परन्तु सांख्य, पातंजल, न्याय, वैशेषिक और बौद्ध, जैन प्रभृति सभी दर्शन प्रस्थानों में पूर्वोक्त बृहदारण्यक उपनिषद् की वाणी अवलम्बन कर ही आत्म दर्शन के उपाय निर्धारण में प्रवृत्त हुए हैं। सभी दार्शनिकों का आत्म-साक्षात्कार के साधन निरूपण करने में ही परम तात्पर्य है। आत्म स्वरूप अपरोक्ष ज्ञान का विषय नहीं होने से अहर्निश आवर्त्तमान जन्म-मृत्यु रूप संसार शत्रु से निस्तार लाभ करने का अन्य कोई उपाय नहीं है। करुणामयी श्रुति निर्देश करती है कि आत्मा को जानकर ज्ञानी शोकयुक्त नहीं होते हैं। आत्मवित् शोक अतिक्रम करने में समर्थ हैं। अतः आत्मज्ञान के द्वारा संसार बन्धन से मुक्त होने के लिए जाग्रत हो जाओ। आत्मनं चेत्वा धीरो न शोचति ( क० १।२।२२ )। तरति शोकमात्मवित् ( छा० ७।१।३ )। आत्म दर्शन पर उपदेश करने के प्रसंग में उपनिषद् स्पष्टरूप से घोषणा करती है कि प्रवचन (शास्त्र तत्त्व पर्यालोचन) पांडित्य अथवा बुद्धि-द्वारा आत्मलाभ नहीं होता है—नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः ( क० १।२।२३ )। जो पुरुष एकाग्रमन होकर आत्मा के तात्त्विक रूप का मनन करते हैं, उन्हीं के सामने यह प्रकाशमान होता है। अशान्त अदान्त, दुराचारपरायण व्यक्ति आत्म-स्वरूप की उपलब्धि करने में समर्थ नहीं होता है। जो व्यक्ति अपनी बुद्धि को नियन्ता के रूप में कल्पना कर जीव को नियंत्रित करने में समर्थ होता है वही व्यक्ति आत्मस्वरूप का अपरोक्ष साक्षात्कार करके शोक, दुःख, जन्म, जरा व्याधि से मुक्त होता है। यह आत्मा सभी प्राणियों का अन्तर्यामी है। यह सर्वभूत में प्रविष्ट है एवं ब्रह्मैकपरायण बुद्धि के द्वारा इसका ज्ञान संभव है। विषय सुख के लिये विषय की ओर अविद्वान आकृष्ट होते हैं। और इसके फलस्वरूप अधिकतर क्लेश और मृत्यु के बन्धन के द्वारा आबद्ध होते हैं। दुःखों के द्वारा उत्पीडित होकर उनके परिहार करने के लिये मनुष्य विषय सुख के प्रति आसक्त हो जाते हैं और बाद में इसकी दुरन्तता का अनुभव करते हैं। वृश्चिक के भय से भीत होकर जैसे मनुष्य आशीविष ( सर्प ) के मुख पर निपतित होते हैं ऐसे ही सुखार्थी व्यक्ति विषयानुवासित होकर विषय के महापंक में निमग्न हो जाते हैं। विद्वान् इस प्रपञ्च को भंगुर समझकर अभंगुर अनश्वर आत्मा का ज्ञान करने के लिए

व्यापारशील हो जाते हैं और इसी के द्वारा अमृतत्व (परमानन्द) लाभ करके, जन्म मृत्यु प्रवाह में विच्छेद लाने में समर्थ हो जाते हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा गथा है कि जिन को नित्य और अनित्य वस्तु का भेद ज्ञान विद्यमान है, ऐहलौकिक एवं पारलौकिक सुख रूप फल में जो वैराग्य सम्पन्न है, इन्द्रिय व्यापार से उपरत होकर तितिक्षायुक्त है, समाहित एवं मुमुक्षु है वही आत्मा के अपरोक्ष साक्षात्कार करने में समर्थ है और आत्म दर्शन के उपायभूत वेदान्तवाक्य-श्रवण में भी अधिकारी है। ( शान्तो दान्त उपरस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति। वृ० ४।४।२३ )

अब यह शंका होती है कि पूर्वोक्त साधन चतुष्टय का निष्पादन करना तो सहज नहीं हैं। संसारी पुरुष निसर्गतः विषयसुख के भोग करने के लिए प्रवृत्त होता है। इसलिये उसको विवेक ज्ञान तो उत्पन्न नहीं होता है, विषयराग निबन्धन संसारवृत्ति पुरुष का विषय से निवृत्त होना तो संभव नहीं है। इस प्रकार के निःश्रेयस् के लिये श्रुति ने कौन सा उपदेश दिया है ? इस प्रसङ्ग में यह कहना है कि याग यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करने से ही मनुष्य का चित्त निर्मल होता है। उस निर्मल चित्त में ही तत्त्वज्ञान उत्पन्न होकर मोक्ष लाभ संभव होता है। बाह्य विषय के भोग से उत्पन्न सुख अनित्य और विनाशी है। यज्ञादि का फल स्वर्गादि पुत्रपश्वादि क्षयी है, यह अनुभव कर ही मनुष्य उससे विरत होता है। कारण, परिक्षीण और विनाशी सुख मनुष्य का काम्य नहीं है। स्वयं श्रुति कहती है "अस्ति भूमैव सुखम्" ( छा० ७।२३।१ )। सर्व प्रकार परिच्छेद रहित अनन्त आनन्द ही मनुष्य का अभिलक्षित है। इसलिये इस भूमानन्द का लाभ करने के लिए मनुष्य इन्द्रिय-द्वार को अवरुद्ध करके प्रत्यगात्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार करने के लिये प्रयास करेगा। वैदिक एवं स्मार्त कर्म-समुदायों की चरितार्थता आत्मान्वेषण में प्रवृत्ति के उत्पादन में है। छान्दोग्य उपनिषद् में स्पष्टतया कहा गया है कि जैसे जाल के द्वारा निबद्ध पक्षी इतस्ततः विचरण करके श्रान्त होकर अपने वासस्थान में प्रत्यावर्तन करता है, वैसे ही मनुष्य का मन विषय रूप अरण्य में भ्रमण करके श्रान्त ही जाता है एवं अन्त में अपने अधिष्ठानभूत आत्म-चैतन्य में प्रतिनिवृत्त होता है। पहले कहा जा चुका है कि मननिदिध्यासन सहकृत श्रवण से ही आत्मा का साक्षात्कार होता है।

## न्याय-दर्शन के अनुसार आत्मा का स्वरूप-निरूपण

अक्षपाद ने न्यायसूत्र के तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय में आत्मादि द्वादश प्रकार के प्रमेय पदार्थों की परीक्षा की है। आत्मादि प्रमेय में मिथ्या ज्ञान संसार रूप बन्धन का कारण होता है। अतएव पूर्वोक्त प्रमेय-विषयक तत्त्वज्ञान ही विषय के मिथ्या ज्ञान का अपनोदन कराकर मोक्ष का कारण बनता है। यह तत्त्वज्ञान मनन रूप है। इसीलिए अक्षपाद ने आत्मादि द्वादश प्रकार के प्रमेयों का अवलम्बन करके मनन रूप तत्त्वज्ञाननिष्पादन कराने के लिये न्यायसूत्र-में प्रमेय पदार्थों की परीक्षा की है। सूत्रकार ने प्रमेय सूत्र में पहले आत्मा का ही उद्देश और लक्षण का निरूपण किया है। इसलिये उद्देश और लक्षण क्रम का परिपालन करके ही प्रथमतः आत्म-परीक्षा की अवतारणा की है। यह परीक्षा विचारात्मक है। विचार्य विषय में संशय होने से ही विचार प्रवृत्त होता है। अब विचारणीय है कि आत्म स्वरूप जब विचार्य है तब आत्मस्वरूप में संशय किस प्रकार होगा? आत्मा के विषय में अगर संशय ही नहीं रहे तब आत्मा के विषय में विचार के अवतारण का कोई अवकाश नहीं रहेगा। यही समझकर न्याय-भाष्यकार वात्स्यायन ने आत्मपरीक्षा-प्रसंग में परीक्षा के पूर्वाङ्ग आत्मविषयक संशय का इस रूप में प्रदर्शन किया है। क्या आत्मा देह, इन्द्रिय मन, बुद्धि एवं सुख-दुःख का संघात रूप है अथवा देहादि से आत्मा व्यतिरिक्त है।

अक्षपाद के न्यायसूत्र में इच्छादि गुण आत्मा के अनुमापक लिंग हैं इच्छाद्वेष प्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगमिति (न्याय-सूत्र १, १, १०)--ऐसा कहकर आत्मा के अस्तित्व में प्रमाण प्रदर्शन किया है। इसलिए आत्मा का अस्तित्व संशयास्पद नहीं हो सकता है। भाष्यकार वात्स्यायन ने आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में संशय का आकार प्रदर्शन नहीं किया है। इसलिये इच्छादि गुण विशिष्ट पूर्वोक्त आत्मा क्या देहादि समुदाय मात्र है अथवा उससे अतिरिक्त है--इस प्रकार आत्मा के स्वरूप में संशय होता है। लोकव्यवहार होता है कि चक्षु के द्वारा दर्शन कर रहा है, मन के द्वारा विचार कर रहा है, शरीर के द्वारा सुख-दुःख का अनुभव कर रहा है, पूर्वोक्त व्यवहारों के आकार सर्वानुभव सिद्ध है। प्रथम प्रकार के व्यपदेश के द्वारा प्रतीत होता है कि चक्षुरादि करण है और दर्शन क्रिया

का कर्ता आत्मा है। इससे सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त आत्मा देहादि का समष्टि मात्र है, उससे अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। प्रथम प्रकार का व्यवहार अवयव के द्वारा अवयवी का व्यपदेश है। क्रिया एवं करण के साथ कर्ता का जो सम्बन्ध कथन है उसी का नाम व्यपदेश है। यह दो प्रकार का है---अवयव के द्वारा अवयवी का व्यपदेश तथा अन्य के द्वारा अन्य का व्यपदेश है। पूर्वोक्त प्रकार के व्यपदेश का दृष्टान्त है---

जैसे मूल के द्वारा वृक्ष अवस्थान कर रहा है, स्तम्भ के द्वारा प्रासाद अवस्थान कर रहा है---इस दृष्टान्त में अवस्थान क्रिया है, मूल एवं स्तम्भ करण है, वृक्ष और प्रासाद कर्ता है। क्रिया एवं करण के साथ कर्ता के सम्बन्ध का बोध होने के कारण पूर्वोक्त वाक्य को व्यपदेश कहा जाता है। मूल, वृक्ष का अवयव है और स्तम्भ प्रासाद का अवयव है। अत एव प्रकृतस्थल में अवयव के द्वारा समुदाय का व्यपदेश किया गया है। द्वितीय प्रकार के व्यपदेश का दृष्टान्त है कुठार के द्वारा छेदन कर रहा है, प्रदीप के द्वारा दर्शन कर रहा है। इन वाक्यों में छेदन क्रिया है, कुठार एवं प्रदीप करण है। यहाँ क्रिया और करण का कर्ता के साथ सम्बन्ध कहा जाता है। इस वाक्य में छेदन और दर्शन के कर्ता से कुठार एवं प्रदीप भिन्न हैं। इसलिए यह व्यपदेश अन्य के द्वारा अन्य के व्यपदेश में हैं। तच्चात्मादीति आत्मा विविच्यते किं देहेन्द्रियमनोबुद्धिवेदनासंघातमात्रमात्मा ? आहोस्वित् तद्व्यतिरिक्तः ? इति। कुतः संशयः ? व्यपदेशस्योभयथा सिद्धेः, क्रियाकरणयोः कर्ता संबन्धस्याभिधानं व्यपदेशः, स द्विविधः अवयवेन समुदायस्य मूलैर्वृक्षस्तिष्ठति स्तम्भैः प्रासादो ध्रियते इति। अन्येनान्यस्य व्यपदेशः—परशुना व्रश्चति प्रदीपेन पश्यति ( इति ), अस्ति चायं व्यपदेशः चक्षुषा पश्यति मनसा विजानाति बुद्धया विचारयति शरीरेण सुखदुःखमनुभवति इति, तत्र नावधार्यते—किमयवेन समुदायस्य—देहादिसंघातस्य अन्येनान्यस्य तद्व्यतिरिक्तस्य ? इति। अन्येनायमन्यस्य व्यपदेशः कस्मात् ? ( न्या० द०, पृ० २१७–२१८ ) और यदि द्वितीय प्रकार का व्यपदेश स्वीकार किया जाय तब तो आत्मा चक्षुरादि करण से भिन्न हो जायगा और यह सिद्ध हो जायगा कि आत्मा देहादि का समष्टि मात्र नहीं है। अबप्रश्न होता है कि "चक्षु के द्वारा दर्शन कर रहा है" इत्यादि

व्यपदेश क्या अवयव के द्वारा संघात का व्यपदेश है अथवा भिन्न वस्तु के द्वारा भिन्न वस्तु का व्यपदेश है ? इस प्रश्न के उत्तर का अवधारण नहीं होने के कारण आत्मा के विषय में प्रदर्शित रूप में संशय होता है। संशयात्मक ज्ञान में जो कोटिद्वय भासमान होता है उनमें एक कोटि के निश्चय नहीं होने से संशय उच्छिन्न नहीं होता है। इसलिए अक्षपाद ने आत्म विषयक परीक्षा के द्वारा आत्मा में प्रदर्शित संशय की निवृत्ति का प्रकार प्रदर्शित किया है।

आत्मा नहीं है अथवा देहादि व्यतिरिक्त आत्मा नहीं है--यही सिद्धान्त नैरात्म्यवाद कहलाता है। कठोपनिषद् में नचिकेता ( येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके एतद्विद्यामनुशिष्यस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः। कठ० १।१।१० पृ० १४ ) ने इसी नैरात्म्यवाद का उल्लेख किया है और इसका खण्डन भी प्रदर्शित किया गया है। इसी प्रकार मैत्रायणी उपनिषद् में भी नैरात्म्यवाद की कुहक शब्द से निन्दा की गई है। भाष्यकार वात्स्यायन ने न्याय-भाष्य के प्रथम अध्यायस्थ द्वितीय सूत्र में आत्मा के सम्बन्ध में मिथ्या ज्ञान का आकार प्रदर्शन किया है। भाष्यकार ने कहा है कि आत्मा नहीं है--इस प्रकार का ज्ञान मिथ्या ज्ञान है। पुनः अक्षपादीय संशय लक्षण सूत्र भाष्य में विप्रतिपत्ति वाक्य से संशय उत्पन्न होता है--ऐसा कहा गया है। इस प्रसङ्ग में भाष्यकार ने कहा है कि ऐसा कुछ सम्प्रदायवाले हो स्वीकार करते हैं। शून्यवादी बौद्ध दार्शनिकों ने सर्वथा आत्मा का अस्तित्व अस्वीकार कर आत्मा का नास्तित्व प्रतिपादित किया है। बौद्ध दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थ लङ्कावतार सूत्र में भी नैरात्म्यवाद का स्पष्ट निर्देश किया गया है। उद्योतकर ने अपने न्याय-वार्त्तिक ग्रन्थ में बौद्ध मत का खण्डन किया है कि सभी बौद्ध दार्शनिक अनुमान के द्वारा आत्मा का नास्तित्व साधन करना चाहते हैं। अतिप्राचीन काल से ही बौद्ध-धर्मावलम्बियों में इस प्रकार के अगण्य दार्शनिक हुए जिन्होंने आत्मा का अस्तित्व सम्पूर्ण रूप में अस्वीकार किया है। उद्योतकर के बाद वाचस्पति मिश्र ने अपने न्याय-वार्त्तिक-तात्पर्य ग्रन्थ में नैरात्मवादी बौद्ध दार्शनिकों के मत को विस्तृत रूप से निरस्त किया है। वाचस्पति के बाद यह धारा आगे बढ़ती चली एवं उदयनाचार्य ने आत्मतत्त्व-विवेक ( तत्र बाधकं

कि बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार नैरात्म्य ज्ञान मोक्ष का करण है। इसमें विशेष यही कहा जा सकता है कि उद्योतकर अपने न्याय-वार्त्तिक में बौद्ध सम्मत नैरात्म्यवाद यथार्थ नहीं है—यही कहना चाहते हैं। शून्यवादी माध्यमिक आचार्यों ने आत्मा को अनंगीकार करने के लिये अनुमान प्रमाण का उपस्थापन किया है। उस अनुमान का आकार इस प्रकार है—आत्मा ( पक्ष ), नहीं है ( साध्य ), क्योंकि उसकी उत्पत्ति नहीं है ( हेतु ) जैसे शश-शृंग ( दृष्टान्त ) न आत्मास्त्यज्ञातत्वादित्येके-नास्त्यात्मा अजातत्वात् शशविषाणवदिति-न्या० वा० पृ०—३२६। आत्मवादी दार्शनिकगण यही स्वीकार करते हैं कि आत्मा की उत्पत्ति नहीं है। शश-विषाण की भी उत्पत्ति नहीं है। इसलिये वह अलीक है—यह सर्वानुभव सिद्ध है। यह स्पष्ट है कि जिसकी उत्पत्ति नहीं है उसका अस्तित्व भी नहीं है। वह तुच्छ अलीक है। इस अंश में शश शृंग के दृष्टान्त के साथ आत्मा का सादृश्य है। शून्यवादी कहना चाहते हैं कि आत्मा की जब उत्पत्ति नहीं है तब वह शश शृंग की तरह अलीक हो जायगा। उत्पत्ति का अभाव पूर्वोक्त अनुमान में हेतु है, आत्मा का नास्तित्व साध्य है।

यह नास्तित्व अलीकत्व के ही समान है; माध्यमिक प्रदर्शित अनुमान में शश-शृंग दृष्टान्त है। उद्योतकर ने शून्यवादी के द्वारा प्रदर्शित अनुमान के खंडन के प्रसंग में कहा है कि 'आत्मा नहीं' है—यह अनुमान का प्रतिज्ञा-वाक्य है। परन्तु इसमें शून्यवादियों को एक विषय में ध्यान देना उचित है कि आत्मा अगर सर्वथा अलीक है; तब तो उसके द्वारा प्रदर्शित प्रतिज्ञा संभव ही नहीं हो सकती है, क्योंकि जो वस्तु किसी भी काल या देश में प्रतीत नहीं होती है अर्थात् जिसकी सत्ता ही असम्भव है ऐसी असत् वस्तु के अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता है। यदि अभाव का ज्ञान कराना हो तो जिस पदार्थ का अभाव है, उस वस्तु का ज्ञान अपेक्षित है। परन्तु शून्यवादी आत्मा को सर्वथा असत्य मानते हैं! इसलिये उसका ज्ञान किसी प्रकार देश और काल में सम्भव नहीं हो सकता है। इस परिस्थिति में उसका अभाव ज्ञान कैसे होगा? 'आत्मा का अभाव'—यह कहने से ही आत्मा का किसी देश-विशेष में या किसी काल-विशेष में अस्तित्व को अंगीकार करना ही पड़ेगा।

शून्यवादियों का आशय यह है कि शश-शृङ्ग तो अलीक है, फिर भी शशशृङ्ग नहीं है--इस प्रकार के वाक्य के द्वारा उसका अभाव प्रकाशित किया जाता है। देश-विशेष अथवा कालविशेष में शश-शृङ्ग की सत्ता स्वीकार करके देशान्तर अथवा कालान्तर में उसका अभाव नहीं कहा जाता है। वैसे ही आत्मा नहीं है--इस प्रकार के वाक्य के द्वारा भी असत् आत्मा का अभाव कहा जा सकता है। इस प्रकार की प्रतिज्ञा करने में देश विशेष अथवा काल विशेष में आत्मा की सत्ता एवं उसका ज्ञान अपेक्षित नहीं होता है।

इसके उत्तर में उद्योतकर कहना है कि शून्यवादियों का पूर्वोक्त कथन सर्वथा असंगत है। शश शृङ्ग सर्वदेश और सर्वकाल में ही सर्वथा अलीक है। इसमें किसी की विप्रतिपत्ति नहीं है। शश-शृङ्ग नहीं है--इस प्रतिज्ञा वाक्य के द्वारा शश-शृङ्ग का अभाव ही नहीं समझा जा सकता है। प्रदर्शित वाक्य का आशय यह है कि शश को शृङ्ग नहीं होता है। इस वाक्य के द्वारा शश-शृङ्ग रूप असत् पदार्थ का नास्तित्व प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है। शृङ्ग में शश का सम्बन्ध नहीं है--यही प्रकाशित किया जाता है। शश एवं शृङ्ग पृथक्-पृथक् रूप में लोक में परिज्ञात ही है। गवादि पशुओं में शृङ्ग का सम्बन्ध ज्ञान एवं लाङ्गूलादि के साथ शश का सम्बन्ध ज्ञान सभी को है। इसलिये पूर्वोक्त वाक्य के द्वारा शश में शृङ्ग के सम्बन्ध का अभाव ज्ञात होता है। परन्तु आत्मा को अगर अलीक स्वीकार किया जाय तो किसी प्रकार से अलीक आत्मा का अभाव ज्ञान नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में सिद्ध हुआ कि आत्मा नहीं है, इस प्रतिज्ञा वाक्य के द्वारा सर्वदेश एवं सर्वकाल में आत्मा का अभाव ज्ञान सम्भव नहीं है। और इससे शून्वादी की प्रतिज्ञा 'आत्मा नहीं है'--यह भी संभव नहीं है। इस प्रकार अनुमान में जो शश-शृङ्ग को दृष्टान्त रूप में कहा गया है वह भी संभव नहीं है। क्योंकि, यह पहले ही कहा जा चुका है कि शश-शृङ्ग का अभाव प्रमाणित करना संभव नहीं है। शश-शृङ्ग नहीं है--इस वाक्य के द्वारा शश-शृङ्ग का जो नास्तित्व सिद्ध होता है वह पहले ही कहा जा चुका हैं। इतना हीं नहीं, अन्य दोष भी है--शून्यवादियों द्वारा प्रदर्शित अनुमान में अजा-तत्व अर्थात् जन्माभाव को हेतु कहा गया है। यह भी विचारसह

नहीं है। कारण, यह जो जन्माभाव है, उसे दो प्रकार से कहा जा सकता है--सर्वथा जन्म का अभाव अथवा स्वरूपतः जन्म का अभाव। घट, पट आदि द्रव्य की तरह आत्मा का स्वरूपतः जन्म नहीं होने पर भी नवीन देहादि के साथ आत्मा का जो अपूर्व संबंध होता है यही आत्मा का जन्म कहा जाता है। उससे सिद्ध हुआ कि सर्वथा जन्म का अभाव रूप हेतु आत्मा में नहीं है।

द्वितीय विकल्प के अनुसार आत्मा में स्वरूपतः जन्माभाव तो कहा जा सकता है, परन्तु इसके द्वारा आत्मा का अलीकत्व सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि, पदार्थ दो प्रकार के होते हैं--नित्य और अनित्य। नित्य पदार्थ की उत्पत्ति अथवा जन्म नहीं होता है। प्रमाण द्वारा जब सिद्ध हो गया कि आत्मा नित्य पदार्थ है तब तो आत्मा का स्वरूपतः जन्म नहीं है--यही सिद्ध हुआ। आत्मा का स्वरूपतः जन्म नहीं है, इसके द्वारा यही सिद्ध हुआ कि आत्मा अनित्य भाव पदार्थ नहीं है। परन्तु इस हेतु के द्वारा आत्मा नहीं है यह कभी सिद्ध नहीं हो सकता। कारण, स्वरूपतः जन्म अथवा उत्पत्ति का अभाव पदार्थ का नास्तित्व प्रमाणित नहीं कर सकता है। उद्योतकर ने न्यायवार्त्तिक के पूर्वोक्त अनुमान में और भी दोषराशियों का प्रदर्शन किया है। वे कहना चाहते हैं कि आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं रहे तब तो वह आकाशकुसुम के बराबर अलीक हो जायेगा। इसका फल यह होगा कि आत्मा को आश्रय कर नास्तित्व का अनुमान ही सिद्ध नहीं होगा। कारण, अनुमान का आश्रय अगर सिद्ध नहीं होता है तब तो आश्रयासिद्धि हेत्वाभास हो जायगा। फल यह होगा कि पूर्वोक्त अनुमान संभव नहीं होगा। जैसे आकाशकुसुम गंधवान्, बन्ध्यापुत्र रूपवान्, शश-विषाण तैक्ष्ण्यवान्--इत्यादि में गन्धादिमान् नहीं होता है वैसे ही आत्मा नास्ति--इस प्रकार का अनुमान भी माध्यमिक प्रदर्शित नहीं कर सकते हैं। शून्यवादियों का एक सम्प्रदाय नैरात्म्य की स्थापना करने के लिये इस प्रकार अनुमान प्रदर्शन करते हैं--जीवित व्यक्ति का शरीर निरात्मक है। प्रदर्शित अनुमान में जीवित व्यक्ति का शरीर पक्ष है। निरात्मकत्व साध्य है और सत्ता का अवस्थान हेतु है। प्रतिवादी यह कहना चाहते हैं कि जो पदर्थ सत् है वह निरात्मक है। अतएव सभी प्रकार की वस्तुएँ निरात्मक हैं। इसलिए सभी जीवत व्यक्तियों का शरीर निरात्मक होना चाहिए।

वार्त्तिककार उद्योतकर ने इस अनुमान का भी निरसन किया है। उद्योतकर ने प्रतिवादियों से प्रश्न किया है कि निरात्म शब्द का अर्थ क्या है ? अगर, 'आत्मा उपकारी नहीं है'--यह निरात्म शब्द का अर्थ स्वीकार किया जाय तब तो इस अनुमान में कोई दृष्टान्त नहीं मिलेगा। दृष्टान्त प्रदर्शन असंभव हो जाने से साध्य और हेतु की व्याप्ति गृहीत नहीं होगी। यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि इस प्रपंच में आत्मा का अनुपकारी कोई भी पदार्थ नहीं है। आत्मा में अनुपकार का आघात करनेवाली कोई वस्तु इस संसार ने देखने में नहीं आती। इसमें प्रतिवादियों का उत्तर है कि निरात्म-शब्द के द्वारा आत्मा का अभाव ही कहा गया है। आत्मा का अनुपकारी निरात्म शब्द का अर्थ नहीं है। इस प्रकार का उत्तर भी समीचीन नहीं है, क्योंकि, आत्मा का अभाव अगर निरात्म शब्द का अर्थ स्वीकार किया जाय, तब तो प्रतिवादियों के लिये यह कहना अनिवार्य हो जायगा--आत्मा कहाँ है और कहाँ नहीं हैं। किसी देश में अगर आत्मा नहीं रहे--इसके द्वारा निरात्म शब्द का व्यवहार नहीं हो सकता है। कोई पदार्थ आत्मा के साथ नहीं रहने से ही निरात्म व्यपदेश नहीं हो सकता है। घर में घट नहीं है--यह कहने से जैसे घट का अन्यत्र अस्तित्व प्रतीत होता है, वैसे शरीर में आत्मा नहीं है--यह कहने से भिन्न देश में आत्मा की सत्ता प्रतीत होती है। आत्मा को सर्वथा अलीक मानने पर तो कहीं भी आत्मा का निषेध हो सकता है। उद्योतकर ने उपसंहार में स्पष्ट रूप से कहा है कि नास्तित्व में कोई भी प्रमाण नहीं है। इन्होंने यह भी कहा है कि आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं रहे तो आत्मन् शब्द अर्थ ही न हो पायेगा। अनादिकाल से शिष्ट लोग आत्म शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। आत्मा शब्द का कोई प्रतिपाद्य अर्थ नहीं है--यह नहीं कहा जा सकता है। कारण, आत्म शब्द परिनिष्ठित शब्द है। परिनिष्ठित शब्द होने के कारण इसका अर्थ भी अवश्य ही है--यह स्वीकार करना पड़ेगा।

इसके उत्तर में शून्यवादी कहते हैं कि किसी परिनिष्ठित शब्द के रहने से ही अर्थ होगा ऐसा कोई निश्चय नहीं। कारण, बौद्ध शून्यवादियों के मतानुसार शून्य शब्द का कोई अर्थ नहीं है एवं तमस् शब्द का भी कोई अर्थ नहीं है। इसी प्रकार यदि आत्मन् शब्द का भी कोई अर्थ नहीं है--यह कहा जाय तो किसी

प्रकार की आपत्ति नहीं हो सकती। इसके उत्तर में उद्योतकर ने कहा है कि शून्यशब्द और तमस् शब्द निरर्थक नहीं है। जिस द्रव्य का कोई रक्षक नहीं है, जो द्रव्य कुत्ते के लिये हितकर है, वही शून्य शब्द का अर्थ है। शून्यवादी का अभिप्राय यह है कि शून्य नाम का कोई पदार्थ नहीं है। परन्तु शून्य शब्द का रिक्त अर्थ में शिष्ट लोगों ने व्यवहार किया है। त्रिकाण्ड शेष कोष में, क्लीव लिंग शून्य शब्द का समूह अर्थ होता है--ऐसा कहा गया है। भवभूति ने उत्तररामचरित में शून्य शब्द का निर्जन अथवा रिक्त अर्थ में व्यवहार किया है। हा हा देवि स्फुटितहृदयं ध्वंसते देहशून्यः,

शून्यं मन्ये जगदविरल-ज्वालमन्तर्ज्वलामि।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा॥
विष्वङ् मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि।
( उ० रा० पृ० ६४ )

उद्योतकर ने कहा है कि जिस द्रव्य का रक्षक नहीं, वही द्रव्य कुत्ते के लिए हितकारक होने के कारण शून्य कहा जाता है। उद्योतकर का अभिप्राय यह है कि शून्य शब्द का जो रूढ़ अर्थ है उसको अंगीकार करने पर व्याकरण शास्त्र के नियमानुसार उसमें प्रकृति प्रत्यय विभाजन कर जिस यौगिक अर्थ का लाभ होता है, उस यौगिक अर्थ को मानना चाहिए। कुत्ते के लिए हितकारक है, इस अर्थ में श्वन् शब्द के उत्तर तद्धित यत् प्रत्यय का योग करके शून्य शब्द निष्पन्न होता है। 'शूनः सम्प्रसारणम् वाचः दीर्घत्वम्' इस गणसूत्र के अनुसार शून्य एवं शुन्य--ये दो पद निष्पन्न होते हैं। अष्टाध्यायी तद्धित प्रकरण में उगवादिभ्य यत् ( ५१२ )--इस सूत्र के गणपाठ पर ध्यान देने से ही सभी बातें स्पष्ट हो जायगी। अतएव इससे सिद्ध हुआ कि व्याकरण शास्त्र के अनुसार शून्य शब्द में प्रकृति और प्रत्यय विभाजन द्वारा जो योगार्थ लाभ होता है उसको अनंगीकार करने का कोई कारण नहीं है। शून्य-वादियों का यह कहना कि शून्य का कोई अर्थ नहीं होता, सर्वथा व्याकरण शास्त्र विरोधी है। इस प्रकार जिस प्रदेश में आलोक नहीं है उस प्रदेश में द्रव्य गुण एवं कर्म तमस् शब्द के अर्थ के रूप में गृहीत होता है। बौद्ध सम्प्रदाय अगर तमस् शब्द को निरर्थक कहे तब तो अपने सिद्धान्त के साथ ही विरोध हो जायगा। कारण,

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—ये चार पदार्थ तमः पदार्थ के उपादान हैं। तमः इन चार पदार्थों का उपादेय है—यही बौद्ध सिद्धान्त है। इसलिए अर्थ नहीं हो ऐसा कोई भी पद नहीं हो सकता है।

बौद्ध वैभाषिक सम्प्रदाय का पूर्वोक्त सिद्धान्त—रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श ये चार पदार्थ घटादिरूप में परिणत होते हैं, वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्य टीका में स्पष्ट रूप से इसका उल्लेख किया है। इसलिये बौद्ध सम्प्रदायानुसार यदि तमस् शब्द को निरर्थक कहना चाहते हैं तब तो अपने सिद्धान्त के साथ ही विरोध हो जायगा। इसी का नाम दर्शन शास्त्र में अपसिद्धान्त है। उद्योतकर ने कहा है कि 'आत्मा नहीं है' यह बौद्ध दार्शनिक नहीं कह सकते हैं कारण इससे सम्मत मूल सिद्धान्त के साथ विरोध हो जायगा। आत्मा नहीं है यह बौद्ध सिद्धान्त नहीं हो सकता है। बौद्ध दर्शन के प्रामणिक ग्रन्थों में रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार—ये पांच स्कन्ध स्वीकार किये गये हैं। उपाधि पंच स्कन्ध ही आत्मा है। 'मैं रूप नहीं हूँ' 'मैं वेदना नहीं हूँ'—इस रूप वाक्य के द्वारा जो निषेध प्रतिपादन किया गया है वह विशेष निषेध है, सामान्य निषेध नहीं। इसलिए पूर्वोक्त वाक्य के द्वारा सामान्य रूप में आत्मा नहीं है, ऐसा प्रतीत नहीं होता है। सामान्यतः आत्मा नहीं है यह अगर प्रतिपादन होता तब तो पूर्वोक्त वाक्य के द्वारा सामान्य निषेध नहीं ही प्रतीत होता। 'आत्मा नहीं है', 'मैं नहीं हूँ', 'तुम नहीं' हो—इस तरह वाक्य का प्रयोग करना ही उचित होता। परन्तु रूपादि पंच स्कन्ध में पृथक् निर्देश करके वह आत्मा नहीं है इस रूप में कहा गया है। इसका आशय यह है कि प्रत्येक रूपादि से अतिरिक्त पंच स्कन्ध का संघात आत्मा है। रूपादि आत्मा नहीं है। पंच स्कन्ध समुदाय को आत्मरूप में ग्रहण करने से आत्मा के अस्तित्व का स्वीकार हो ही गया।

उद्योतकर ने पुनः कहा है कि बौद्ध दार्शनिकगण अगर आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करें तो बुद्धदेव का वाक्य भी वे प्रमाण रूप में ग्रहण नहीं कर सकते हैं। तथागत ने कंठरव से आत्मा के अस्तित्व का अनंगीकार करनेवाले को मिथ्या ज्ञानी कहा है। बौद्ध सिद्धान्तानुसर आचार्यों ने परस्पर विरोधी बौद्ध सिद्धान्त का उपस्थापन किया है। यह बौद्ध मत का आभ्यान्तरिक दौर्बल्य के लिए उद्योतकर न स्वयं सर्वाभिसमय सूत्र का उल्लेख

किया है। इससे प्रतीत होता है कि बुद्धदेव ने आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया है। पाली भाषा में विरचित बौद्ध ग्रन्थ 'पौढ्य-पादसुत' में उल्लेख किया गया है कि बौद्ध भिक्षु पौढ्यपाद ने बुद्धदेव के निकट आत्मा का स्वरूप जानने के लिये प्रश्न किया था। प्रश्न के उत्तर में बुद्धदेव ने कहा कि आत्मा का स्वरूप दुर्ज्ञेय है। इसलिए इसके सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध ने कोई भी उत्तर नहीं दिया। इसी प्रकार और भिन्न-भिन्न बौद्ध ग्रन्थों में उल्लेख किया गया है कि आत्मा के स्वरूप का वर्णन भगवान् बुद्ध ने नहीं दिया और आत्म विषयक सभी प्रश्नों का परिहार करके ही भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को देशना दी है। इससे यह अनुमान करना सर्वथा अनुचित हो जायगा कि बुद्ध ने आत्मा का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में नैरात्म्यवाद का कहीं भी समर्थन नहीं किया है। बुद्धदेव ने उपदेश देने के समय में प्राचीन भारतीय वैदिक परम्परा का प्रतिपादन करते हुए शिष्य के अधिकार का अवधारण करके ही उपदेश दिया है। सर्वदर्शन संग्रह "देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः।

भिद्यन्ते बहुधा लोक उपाये बहुभिः पुनः" स० द० सं० पृ० ४५ में माधवाचार्य ने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि बोधि चित्त विवरण ग्रन्थ में बुद्ध का अनुशासन शिष्य के अधिकारानुसार होता है।

यह समझने का विषय है कि बुद्धदेव अगर नैरात्म्यवाद के ही समर्थक रहते तो शिष्य पौढ्यपाद को आत्मा का दुर्ज्ञेयत्व क्यों निवृत्त करते ? इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् बुद्धदेव ने पौढ्यपाद को आत्म-तत्त्व समझने का अधिकारी नहीं समझा है। इसलिए उनके प्रश्न का उत्तर नहीं दिया है। बुद्धदेव ने निर्वाण लाभ करने के लिये तपस्या करने का उपदेश दिया है। अगर बुद्धदेव के मतानुसार आत्मा नहीं रहे तो उपदेश किसके लिए सार्थक होगा ? आत्मा के नहीं रहने पर निर्वाण भी तो आकाश कुसुम के समान हो जायगा। निर्वाण के समय में अगर आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं रहे तो वह निर्वाण मनुष्य के लिए किसी प्रकार भी अभिलषित नहीं हो सकता है। सिर्फ यही नहीं, बुद्धदेव आत्मा का अस्तित्व अगर नहीं माने तब तो जन्मान्तर का उल्लेख भी अनुपपन्न हो जायगा। बुद्धदेव बोधिवृक्ष के नीचे में दीर्घकाल तक तपस्या कर सम्बोधि लाभ करने में समर्थ हुए।

अनेकजातिसंसारं संधाविस्सं अनिव्विसं ।
गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुन ।।

ध० प० पृ० १९

बौद्ध प्रसिद्ध ग्रन्थ धम्मपद में यह गाथा देखने में आती है। इस श्लोक के अर्थका अनुसन्धान करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बुद्धदेव ने जन्मान्तर स्वीकार किया है। इस प्रकार धम्मपद की—

मनुजस्य पमत्तचारिनो तण्हा वाड्ढति मालुवा विय ।
सो फलवति हुराहुरं फलमिच्छं व तवनस्मिं वानरो ।।

ध० प० पृ०, ४२

गाथा में भी जन्मान्तर का निर्देश देखने में आता है। जन्ममृत्युसन्तान का निरोध करने के लिए बुद्धदेव ने अष्टांग आर्य मार्ग का उपदेश दिया है। अतः निःसंदिग्धरूप में यह सिद्ध हुआ कि बुद्धदेव के मत में आत्मा का अस्तित्व सर्वथा स्वीकृत हुआ है। पंचह जो पालिग्रन्थ है उसमें महाराज मिलिन्द के साथ भिक्षु नागसेन का कथोपकथन वर्णित हुआ है। इसमें कहा गया है कि शरीर से लेकर चित्त पर्यन्त जो संघात है—वही आत्मा है। अन्यान्य प्राचीन पालि ग्रन्थों से भी ज्ञात होता है कि पंचस्कंध का समुदाय, भगवान् बुद्धदेव का अभिप्रेत आत्मा है। अन्ततोगत्वा प्राचीन बौद्धदर्शन के आचार्यगण यही समझते थे कि बौद्ध सिद्धान्त में जिस समुदाय को आत्मरूप में ग्रहण किया गया है, आस्तिक मतानुसार दर्शन शास्त्र में जड़वर्ग में उसका अन्तर्भाव किया है। भाष्यकार वात्स्यायन ने, 'देहादि संघात ही आत्मा है' इसी सिद्धान्त को पूर्वपक्ष रूप में ग्रहण कर उसका खंडन किया है। वात्स्यायन भाष्य में नैरात्म्यवाद का पूर्वपक्ष रूप में उल्लेख नहीं देखने में आता है। फलितार्थ यह है कि बौद्ध सम्प्रदाय में यद्यपि नैरात्म्यवाद प्रचलित था तथापि यह यथार्थ बौद्ध सिद्धान्त नहीं है यही उद्योतकर ने अपने न्यायवार्तिक ग्रन्थ में विशेष रूप से प्रतिपादित किया है।

## शैवसिद्धान्तानुसार शक्तिस्वरूप निरूपण

क्रियास्वरूपविश्लेषण के प्रसंग में क्रम की चिन्ता विशेष महत्त्वपूर्ण है। अभिनवगुप्तपाद ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ग्रन्थ के प्रारम्भ

में कहा है कि परमेश्वर की क्रिया शक्ति में परमार्थतः क्रम नहीं है। शक्ति शक्तिमान् के साथ अभिन्न है। इसलिए परमशिव के साथ अभिन्न क्रियाशक्ति में भी क्रम संभावित नहीं है। परन्तु इसी क्रियाशक्ति के बल से परिच्छिन्न एवं संसारावस्था में स्थित प्रमातृ वर्ग प्रकाशित होता है। इसलिए पूर्वोक्त क्रियाशक्ति में क्रम भी प्रतीत होता है। परमेश्वरे परमार्थतो क्रमा क्रिया, परिमित-सांसारिकप्रमातृगतक्रमावभासनयोगात्। सक्रमापि च, इति.....

ई० प्र० वि० पृ० २

प्रश्न होता है कि क्रिया क्रमिक है--इस प्रकार का कथन कैसे संगत हो सकता है? एक में पौर्वापर्य रूप क्रम संभावित नहीं है। क्रम क्रिया में आश्रित है। आश्रयक्रिया में क्रम का सम्बन्ध होने से वह आश्रय क्रिया एक स्वभाव कैसे हो सकती है? विशेषकर सम्बन्धी चाहिए। कारण, सम्बन्ध द्विष्ठ है--दोनों में रहता है। क्रम का आश्रय होकर क्रिया में अगर एक स्वभावता रहे तब क्रम के साथ क्रिया का सम्बन्ध कैसे होगा? सम्बन्ध द्विष्ठ है, यह पहले ही कहा जा चुका है। क्रिया के साथ क्रम का अगर सम्बन्ध स्वीकार किया जाय तब क्रिया एवं क्रम में भेद अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। द्विष्ठ सम्बन्ध एक क्रिया में संभावित नहीं। एका क्रमिका च कथं क्रिया, आश्रयस्य च तद्योगे कथमेकस्वभावता, सम्बन्धश्च द्विष्ठादिरूप एकः कथम्। ई० प्र० वि० वि० पृ० ७ ( खण्ड ३ )

अभिप्राय यह है कि एक वस्तु का स्वभाव एक ही होता है। यद्यपि क्रिया व्यापाररूप है और इससे व्यापार भेद निबन्धन क्रिया-भेद संभावित है, तथापि क्रिया समवाय सम्बन्ध से द्रव्य के साथ अविभक्त रूप में अवस्थान करती है। द्रव्य के साथ जो अविभक्त रूप में प्रतीत होती है--यह क्रिया का प्रायः स्वभाव ही है। क्रिया-भेदवादी कणाद मतानुसारी वैशेषिक आचार्यगण भी यही स्वीकार करते हैं। क्रिया की एकस्वभावता को स्वीकार करने से वैशेषिक मत में भी क्रिया के साथ उसके क्रम का सम्बन्ध उपपन्न नहीं हो सकता है। कारण, सम्बन्ध दो में रहनेवाला है। इस प्रकार शैव दर्शन में वस्तु मात्र को आभाससार कहा गया है। आभाससार वस्तुवादियों के मत में यद्यपि आभास का भेद स्वीकार किया गया है और इससे आभासरूप वस्तुओं का भेद सिद्ध होता है, तथापि

क्रिया में जो आभास के साथ उपश्लेष रूप एक सम्बन्ध स्वीकार किया गया है; उसके द्वारा क्रिया का एकत्व सिद्ध होता है। क्रिया अगर एक नहीं हो जाय तब आभास के साथ उपश्लेष रूप सम्बन्ध क्रिया में कैसे संभावित होगा ? वस्तुमात्र ही प्रतीतिसार है। वस्तु की प्रतीति को वस्तु का स्वरूप समझना चाहिए। क्रिया रूप वस्तु में जब आभासन के साथ एकोपश्लेष रूप एक सम्बन्धित्व प्रतीत होता है तब उसकी एकता प्रतीति को लंघन करके उसमें भेद, शपथ खाकर कहने पर भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। क्रिया की आभास के साथ एकोपश्लेष रूप एकसम्बन्धित्व के द्वारा एक प्रतीति होती है और इससे क्रिया में क्रम के साथ सम्बन्ध संभव नहीं हो सकता है। "क्रियां च व्यापाररूपामपि समवायिबलादविभागेन प्रतीयमानां स्वभावकल्पामिच्छन्ति क्रियाभेदवादिनोऽपि इह पुनराभाससारवस्तुवादे भेदप्रतीतेर्यदेतदेकोपश्लेषरूपमेकसम्बन्धित्वं क्रियायाः तदेकतयैव युक्तं प्रतीतिसारो यदि भावस्तत्प्रतीतिमुल्लंघय भेदेन कथं शपथैरपि व्यवस्थाप्येतेत्याकूतम्।"

( ई० प्र० पृ० ४ टिप्पणी )

इस प्रसंग में जो शंका प्रदर्शित की गई उसका निष्कर्ष यह है कि एक अनेक स्वभाव कैसे हो सकता है ? क्रिया में एकत्व स्वीकार करना और क्रिया को क्रम रूप स्वीकर करना परस्पर व्याहत है। इसके उत्तर में अभिनवगुप्तपाद ने कहा है कि जैसे स्वच्छ दर्पण एक होने पर भी अनेक आभासभेद प्रदर्शित करता है—वह आभासभेद दर्पण के साथ वस्तुतः अभिन्न है। जैसे दर्पण के एकत्व का बोध नहीं होता है, वैसे ही आभाससार वस्तुओं के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। आभाससार चिद्रूप पदार्थों का एकत्व प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध है। "इयति पूर्वपक्षे जीवित एकमनेकस्वभावं कथं स्यात् इति। तत्र च उक्तं चित्स्वभावस्य दर्पणस्येव एकातानपबाधेन आभासभेदसंभवे क इव विरोध इति, तस्मात् प्रत्यभिज्ञानबलात् एकोऽपि पदार्थात्मा स्वभावभेदान् विरुद्धान् यावत् अंगीकुरुते तावत् ते विरोधादेव क्रमरूपतया निर्भासमानाः तमेकं क्रियाश्रयं संपादयन्ति इति। ( ई० प्र० पृ०—४५ )

पूर्वोक्त आभाससार चिद्रूप सहार्थ परस्पर विरुद्ध अनेक आकार स्वभाव भेद ग्रहण करता है। उस स्थिति में संहावस्थान

विरोध प्रयुक्त वे सब आभाससार पदार्थ क्रमिक भासमान होते हैं। ये आभाससार चिद्रूप पदार्थ हैं तथा परमेश्वर के साथ अभिन्न है। क्रमानुसार भासमान आभाससमूह जो परमेश्वर के साथ परमार्थतः अभिन्न है उन सबों का वह युगपत् अपने में आभासन कराता है, क्रिया का आश्रय बनता है। इससे चिद्रूप परमेश्वर में आभासों के क्रमिक एवं युगपत् आभासन के द्वारा परमेश्वर की क्रिया में क्रम एवं अक्रम दोनों सिद्ध होते हैं। एकमनेकस्वभावं कथं स्यात्--इति

( ई० प्र० वि० पृ० )

अनेकाभासभेदरूपतामनपबाधमानो न विरोधमावहति इत्युक्तेर्निर्बधिप्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षप्रसाधितैकभावः पदार्थ आभाससारस्तथाभूतानेव विरुद्धानाकारान् स्वात्मनि उपगच्छन् हठादेव क्रमिकांस्तानाभासभेदानात्मनि अभिन्ने भासयन् क्रियाश्रयः इति युक्तमेव।

( ई० प्र० वि० पृ० ५ टिप्पणी )

प्रश्न होता है कि जब क्रम ही क्रिया का स्वरूप है तब काल के द्वारा अनवच्छिन्न परमेश्वर में क्रम कैसे संभावित होगा। कारण, क्रम कहने से ही पौर्वापर्य भासमान होता है। पूर्वकाल एवं परकाल का अस्तित्व नहीं रहने से क्रम भी संभावित नहीं हो सकता है। परमेश्वर स्वयं काल के द्वारा अपरिच्छिन्न है। इसलिए काल रहित परमेश्वर में क्रम कैसे भासमान हो सकता है? क्रम रहित चिद्रूप परमेश्वर में क्रमिक क्रिया संभावित नहीं है। इसलिए परमेश्वर में क्रियाशक्ति को स्वीकार करना सर्वथा अनुचित है। इसका समाधान इस प्रकार है--हाथ ऊंचा कर रहा है, हाथ नीचा कर रहा है। इस अवस्था में हस्त सम्बन्धी पूर्व एवं उत्तर क्षण समूह क्रमवान् है। आशय यह है कि पूर्वोक्त क्षण समूह में क्रम भासमान होता है। इससे कणाद मतानुसारी दार्शनिकों का यही कहना है कि पूर्वोक्त क्षण ही क्रिया है। उस क्षण को छोड़कर क्रिया नामक कोई पृथक् पदार्थ नहीं है। यह क्रिया एक है, विभाग एवं संयोग का निमित्त कारण है और यह क्षण रूप क्रिया प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ग्राह्य है।

अभिनवगुप्तपाद ने इस प्रसंग में क्रिया के सम्बन्ध में जो वैशेषिक मत प्रदर्शित किया है वह नवीन वैशेषिक मत से भिन्न है। क्रिया का लक्षण कणाद सूत्र के अनुसार ऐसा है--संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणम् कर्म।

कणाद मतानुसारियों के मत का अनुसरण कर प्रदर्शित प्रकार क्रिया का स्वरूप कुछ आचार्यगण स्वीकार करते हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि पूर्वोक्त क्रिया हाथ में अवस्थान करती है एवं हाथ में अवस्थान करने से हाथ का ऊंचा उठाना एवं नीचे झुकाना--इस प्रकार भेद का निष्पादन होता है। यह अतीन्द्रिय है। नित्य अनुमेय होने पर भी पूर्वोक्त कार्य में क्रम के रहने के कारण क्रिया का क्रम-रूप में ही अनुमान किया जाता है।

आशय यह है कि क्रिया में नित्यानुमेयत्व रहने पर भी क्रिया का केवल पौर्वापरीभूतत्व क्रमरूप में ही अनुमान किया जाता है। अनुमान प्रत्यक्षोपजीवी है। हेतु का प्रत्यक्ष ज्ञान रहने ही साध्य का अनुमान किया जा सकता है। प्रकृतस्थल में कार्य की उपलब्धि क्रमिक होती है। यही हेतु है। क्रमिक कार्य रूप हेतु के द्वारा क्रिया में भी क्रम का अनुमान किया जाता है। यह शक्तिरूप है। सर्वत्र व्यापार का उद्बोध क्रिया से ही होता है। इसलिए क्रिया व्यापार उद्बोध-रूप है। लौकिक क्रिया में ही भेद भासमान होता है। परमेश्वर में स्वातन्त्र्यरूप कालशक्ति विद्यमान है। यही काल शक्ति सभी आभासों के विच्छेद का उत्थापक एवं प्रदर्शक होती है।

लौकिक क्रिया का जो क्रम भासमान होता है उसका हेतु है आभास विच्छेद-प्रदर्शन-सामर्थ्यविशिष्ट काल शक्ति। कालशक्ति नीलादि आभासों के भेद प्रदर्शन में समर्थ है। नीलादि आभासों का भेद प्रदर्शन सामर्थ्यरूप कालशक्ति परमेश्वर में विद्यमान है--वह पहले ही कहा जा चुका है। जिस पारमेश्वरी शक्तिविशेष के बल से नीलादि आभासों का भेद प्रदर्शित होता है वही शक्ति-विशेष काल है। लौकिक क्रिया में जो भासमान होता है वह पूर्वोक्त काल शक्ति के द्वारा ही उपपन्न होता है। पूर्वोक्त पारमेश्वरी कालशक्ति ही उसका हेतु है।

सम्बन्धादेरपि अयमेव सिद्धिप्रकारः एवमेकस्य आश्रयस्य समर्थनात् हेतोः क्रियाशक्तिचोद्यानि अपि प्रतिसमाहितानि, इति सूत्रार्थः। सर्वत्र इति बहिरन्तश्च। इच्छन्ति इति कारणाद्याः। इह तु इति आभाससारवस्तुवादे। प्रतीतिसारो हि यदि भावः, तत् प्रतीतिमुल्लंघ्य भेदेन कथं शपथैरपि व्यवस्थाप्येतेति आकूतम्।

ननु क्रमिकत्वमेव क्रियायाः प्राणितम्।

क्रमश्च कालानवच्छिन्ने भगवति कथं स्यात् । एतत् समाधत्ते सूत्रेण

सक्रमत्वं च लौकिक्याः क्रियायाः कालशक्तितः ।
घटते नतु शाश्वत्याः प्राभव्याः स्यात् प्रभोरिव ॥

उत्क्षिपति अवक्षिपति हस्तमिति ये हस्तस्य पूर्वोत्तरे क्षणाः ते तावत् क्रमवन्तः । तत्र केषाचित् ते एव क्षणाः क्रिया एका विभाग-संयोगनिमित्तभूता केषांचित् तद्धस्तगतोक्तरूपभेदसम्पदिका नित्यानुमेया अपि क्रमिककार्यबलात् क्रमिका एव अनुमीयत इति लौकिक्यैव भेदविश्रान्ता क्रिया सक्रमा युज्यते आभासविच्छेदोत्थापक-भगवतः स्वातन्त्र्यलक्षणया कालशक्त्या हेतुभूतया ।

( ई० प्र० वि० वृ० २–३ )

पूर्वोक्त युक्तियों से लौकिक क्रिया में क्रम के भासमान होने पर भी परमेश्वर की क्रिया में क्रम की संभावना नहीं है, कारण परमेश्वर की क्रियाशक्ति परमेश्वर से अभिन्न है । परमेश्वर में पौर्वापर्य संभावित नहीं है । कारण, परमेश्वर काल के द्वारा अवच्छिन्न नहीं है । परमेश्वर की क्रियाशक्ति शाश्वत है । वह काल के द्वारा स्पष्ट नहीं होती है ।

निष्कर्ष यह है कि संवित् के स्वरूपतः अपरिच्छिन्न एवं स्वप्रकाश होने पर भी माया शक्ति के द्वारा उसमें विच्छेद उत्पन्न होता है । अविच्छिन्न रूप में अवभासनीय संवित् माया शक्ति के बल से विच्छिन्न अवभासनीय रूप में प्रतीत होती है । इसके फलस्वरूप एक अखंड संवित् ग्राह्य-ग्राहक रूप में प्रकाशमान् होता है । एक ही संवित् में दो भाग माया शक्ति के प्रभाव से प्रकाशमान होते हैं । एक भाग ग्राहक है । इसी के द्वारा व्यावहारिक जगत् की स्थिति निष्पन्न होती है । इसमें जो ग्राह्य संवेद्य भाग है वही काल शक्ति के द्वारा अवच्छिन्न होता है । इसलिए उसमें जो क्रिया है वह भी कालावच्छिन्न होने के कारण सक्रम रूप में भासमान होती है । लौकिक ज्ञान एवं लौकिकव्यवहार ज्ञाता ज्ञेय प्रभृति पदार्थों के द्वारा निर्वाह लाभ करते हैं । ज्ञाता एवं ज्ञेय को प्रकाशित करने का सामर्थ्य ही परमेश्वर की ज्ञान शक्ति है । पूर्वोक्त प्रकाशन क्रिया संयोजनादि में स्वतन्त्र और विमर्श ही क्रिया है ।

यही क्रिया वेद्य के साथ सम्बन्ध लाभ करती है एवं वेद्य का परिच्छेद निबन्धन क्रिया में भी परिच्छेद प्रतीत होता है । इसके

फलस्वरूप क्रिया भी क्रम को अंगीकार कर भासमान होती है। वेद्य-छायाच्छुरण निबन्धन क्रिया में क्रम प्रतीत होता है। वेद्य समूह तो उन्मेष लाभ करता ही है, भगवान् भी माया प्रमाता के रूप में विद्यमान रहते हैं। परन्तु जब वे बाह्य एवं आन्तर स्वरूप वेद्य समूह को अपने में ग्रहण कर लेते हैं तब उस स्थिति में परमेश्वर में अवस्थित आवभासन क्रम भी ग्रस्त हो जाना है। अहम् रूप में संयोजनादि (सम्बन्ध) के द्वारा विचित्रित समस्त पदार्थों के प्रकाश के उपसंहार की परिसमाप्ति दशा में जो विमर्शरूप क्रिया है उसमें क्रम नहीं है।

तात्पर्य यह है कि परिच्छिन्न वस्तु के साथ सम्बन्ध होने के कारण क्रिया में क्रम भासमान होता है। यह वस्तु समूह जब परमेश्वर में विलीन हो जाता है तब बाह्य वस्तु का विलयन होने के कारण क्रिया में क्रम भी भासमान नहीं होता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि आभासों के अवभासन में युगपत् संभव नहीं होता है। इसलिए क्रिया में क्रम प्रतीत होता है। इस विषय का और भी स्पष्टीकरण करते हुए शैव दर्शन में कहा गया है कि प्रकाशरूप परमेश्वर का अहं विमर्श जिसका स्वभाव है, वही क्रिया अक्रमा है। कारण, काल के द्वारा परिच्छिन्न जो वेद्य पदार्थ समूह है उसे सर्वथा ग्रस लेने के कारण काल भी ग्रस्त हो जाता है और उससे वह क्रिया उस स्थिति में अक्रमरूप में क्रमरहित होकर अवस्थान करती है।

या पुनः प्रभोः प्रकाशात्मनोऽहंविमर्शाख्यस्वभावभूता सा कालावरुद्धसंवेद्यकुलकवलीकरणेन कालग्रासादक्रमैवेति मध्यायाम्।

( ई० प्र० पृ० ७ टिप्पणी )

प्रभोस्तु कालानवच्छिन्नत्वात् या क्रिया सापि कालानवच्छिन्नैव प्रभुरिवाशाश्वती सा यतः एतदुक्तं भवति——लौकिकज्ञानव्यवहारभूतज्ञातृज्ञेयप्रकाशने सामर्थ्यं ज्ञानशक्तिर्देवस्य तत्रैव संयोजनादिस्वतन्त्रतात्मा विमर्शशक्तिरेव वस्तुतः क्रिया। उक्तं च एतत्-किया च परवाग्वृक्ष्यादिका——इत्यादिप्रदेशेषु। सा तु वेद्यच्छायाच्छुरणमच्छत्वादवच्छेदकमभ्युपेयती क्रमवती भाति वस्तुतो क्रमत्वेऽपि इति सूत्रार्थः। उन्मिषितेऽपि वेद्यग्रामे मायाप्रमातृपदमपि अध्यासीनो भगवान् यावदेव बाह्यान्तररूपवेद्यकुलं स्वात्मनि प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिः—— ( अ० प्र० सि० २२ )

इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य——(अ० प्र० सि० १५) इत्या-

दिनयेन ग्रसते विश्रमयति, तावत् तन्निष्ठऽवभासनक्रमोऽपि ग्रस्त एव, इति अहमिति या संयोजनादिचित्रितसमस्तभावप्रकाशोपसंहारपर्यन्तदशाविशेषविमर्शलक्षणा क्रिया, सा निष्क्रमा एव।

( ई० प्र० वि० वि० पृ० ३–४ )

विचारणीय है कि उस काल का स्वरूप क्या है जिसे पदार्थों के अवच्छेदक रूप में कहा गया है। वैशेषिक लोग काल को एक एवं नित्यद्रव्य विशेष के रूप में स्वीकार करते हैं। काल अगर एक हो जाय तब वह संयोगविशेष निबन्धन विचित्राकार विलम्ब–द्रुत प्रभृति प्रतीति का कारण कैसे बन सकता है? कार्य का वैचित्र्य एक कारण से संभावित नहीं है। अगर कहा जाय कि काल एक होने पर भी काल के भेदक उपाधि के भेद-निबन्धन कार्य का भी भेद हो जायगा और इससे कोई भी अनुपपत्ति नहीं होगी, तो इसके विरोध में यही कहना है कि इस स्थिति में उपाधि समूह को ही काल क्यों नहीं कहा जाय? उपाधि से पृथक् काल को स्वीकार करने का प्रयोजन क्या है? दूसरी बात यह है कि वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार दो द्रव्यों का ही संयोग होता है। काल के साथ गुण एवं कर्म का संयोग भी संभावित नहीं है। इसलिए काल असंयुक्त होने के कारण गुण एवं कर्म का काल के द्वारा अवच्छेद नहीं होगा।

इस शंका के उत्तर में अभिनवगुप्तपाद ने कहा है कि भगवान् की जो शक्ति क्रम अवभासन कराती है उसी का नाम कालशक्ति है। इसी कालशक्ति के शक्ति क्रम अवभासन कराती है उसी का नाम कालशक्ति है। इसी कालशक्ति के द्वारा प्रकाश्य पदार्थ समूह माया प्रमाता से साथ सम्बद्ध होता है। कालशक्ति के द्वारा अवभास्य जो पदार्थ माया प्रमाता का विषय होता है उसी पदार्थ में विद्यमान क्रम काल है।

मायाप्रमाता के सम्बन्ध में प्रत्यभिज्ञाहृदय में कहा है कि चिति ही माया प्रमाता का स्वरूप है। शरीर एवं प्राण के क्षेत्र में चित् ही प्रधान रूप में प्रतीत होता है। इस प्रकार शून्य भूमि भी चित्त संस्कार द्वारा युक्त है। अगर शून्य भूमि में चित्त संस्कार का अस्तित्व नहीं रहे तो शून्य भूमि में जो प्रमाता है उसके जागरण के बाद अपनो कर्तव्यता का अनुसन्धान नहीं हो सकेगा। इसलिये माया-प्रमातृ अवस्था चित्त को लेकर ही संभव होती है। इस आशय से

वस्तुवृत्त को अनुसरण करके कहा है कि अपरिच्छिन्न चैतन्य ही आत्मा है। इस प्रकार मायाप्रमाता के स्वरूप के प्रदर्शन के प्रसंग में कहा गया है कि चित्त ही आत्मा है। चित्तमेव तु मायाप्रमातुः स्वरूपम्—इत्याह तन्मयो मायाप्रमाता॥ देहप्राणप्रदन्तावत् चित्त-प्रधानमेव, शून्यभूमिरपि चित्तसंस्कारवत्येव, अन्यथा ततो व्युत्थितस्य स्वकर्तव्यानुधावनाभावः स्यात्, इति चित्तमय एवं मायीयः प्रमाता। अमुनैव आशयेन शिवसूत्रेषु वस्तुवृत्तानुसारेण चैतन्यमात्मा (१—१)

इत्यभिधाय, मायाप्रमातृलक्षणावसरे पुनः चित्तमात्मा (प्र० ह्० पृ० ४० जयदेवसिंह का अनुवाद सहित)

चित्तस्वरूपप्रदर्शन के प्रसंग में कहा गया है कि भगवती सर्व-व्यापिनी चिति से चित्त कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। चिति जब अपने स्वरूप का गोपन कर संकोच अर्थात् परिच्छेद लाभ करती है तब वह दो प्रकार में अवभासमान होती है। कभी तो संकोच उल्लसित होने पर भी उसे अप्रधान बनाकर चित्त को प्रधान रूप में ग्रहण कर प्रकाशमान होती है और कहीं सङ्कोच ही प्रधान है। चित्त अप्रकाश है। असंकुचित अवस्था में जिसे चिति कहते हैं संकुचित अवस्था में उसी को चित्त कहा जाता है।

न चितं नाम अन्यत् किंचित्, अपि तु सैव भगवती तत्। तथा हि सा एवं स्वरूपं गोपयित्वा यदा सङ्कोचं गह्णाति, तदा द्वयी गतिः कदाकित् उल्लसितमपि सङ्कोचे गुणीकृत्य चित्प्रामाण्येन स्फुरति कदाचित् सङ्कोचप्रधानतया।

(प्र० ह्० मृ० ४)

प्रश्न होता है कि जिस काल को सभी पदार्थों का अवच्छेदक कहा गया है उसका स्वरूप क्या है? वैशेषिक दर्शन में काल को नित्य द्रव्य विशेष के रूप में स्वीकार किया गया है एवं वह एक है। इस स्थिति में काल के साथ संयोगविशेष से चिर (विलम्बित) क्षिप्र (शीघ्र) प्रभृति विचित्राकार ज्ञान का कारण कैसे हो सकता है? वैशेषिक मत में काल एक है—ऐसा स्वीकार करने के कारण एक काल के साथ संयोगप्रयुक्त विचित्राकार चिर क्षिप्र ज्ञान का कारण काल में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अगर वैशेषिक-गण कहें—काल एक होने पर भी काल के भेदक उपाधि के बल से

पूर्वोक्त विचित्राकार ज्ञान होता है तो इसमें अनुपपत्ति क्या है? इसके उत्तर में यह कहना है कि पूर्वोक्त उपाधि समूह को ही क्यों न काल कहा जाय? उपाधि से अतिरिक्त काल स्वीकार करने का प्रयोजन क्या है? दूसरी बात यह है कि द्रव्य के साथ द्रव्य का ही संयोग वैशेषिक सिद्धान्त में स्वीकार किया जाता है। गुण एवं कर्म के साथ काल का संयोग नहीं हो सकता है। इसलिए गुण एवं कर्म का काल के द्वारा अवच्छेद नहीं होगा। ये सब आशंकायें सदा बनी रहती है इसलिए पूर्वोक्त प्रकार की शंका का समाधान करने के लिये अभिनवगुप्तपाद ने कहा है कि परमेश्वर की जो शक्ति क्रम का अवभासन करती है उसी का नाम कालशक्ति है। उसी कालशक्ति के द्वारा अवभास्य (प्रकाश्य) पदार्थ मायाप्रमाता के साथ संलग्न है। मायाप्रमाता का ही प्रधानतया वह प्रमेय होता है। कालशक्ति के द्वारा अवभास्य एवं माया–प्रमाता के विषयभूत पदार्थसमूह में विद्यमान क्रम ही काल है।

(ननु कोऽसौ कालः? यो भावानामवच्छेदक उच्यते। यो हि कैश्चित् नित्यद्रव्यविशेषात्मा उपगतः स एकत्वात् संयोविशेषात् चित्राकारचिरक्षिप्रादिधीहेतुः कथम्। उपाधिबलात् तथाभिधाने ते एव उपाधयः सन्तु। किं तेन गुणक्रमादेश्च तेन असंयुक्तस्य न कालावच्छेदो भवेत्––इत्याशंक्य भगवत एव शक्तिः क्रममवभासयन्ती कालशक्तिः तदवभास्यश्च मायाप्रमातृलग्न एव प्रधानतया भवन्नेतद्विपर्यीकरणीयभावनिष्ठः क्रम एव कालः––ई० प्र० वि० वि० पृ० ४) काल के सम्बन्ध में ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया है कि यह वस्तुतः क्रमरूप है। यह क्रमरूप काल सूर्यादि का संचार––अर्थात् सूर्यादि की क्रियारूप में पुष्पादि का जन्म अथवा शीत या ग्रीष्म रूप है।

पूर्वोक्त आशय का विश्लेषण करते हुए गुप्तपाद ने कहा है कि नियत परिमाण प्रतिवर्तकादि के द्वारा सुवर्ण का परिमाप किया जाता है यह बात तो ठीक है; जैसे प्रतिवर्तक के द्वारा सुवर्ण का परिमाप किया जा सकता है, वैसे ही सुवर्ण के द्वारा भी तो प्रतिवर्तक का तौल किया जा सकता है। इससे अन्योऽन्याश्रय दोष की भी संभावना होती है। परन्तु ऐसी आपत्ति करने का कोई अवसर नहीं है। जिसके द्वारा तौल किया जा रहा है उस प्रतिवर्तकादि का परिमाण नियत है। इसलिए उसके द्वारा अनियत परिमाण कनक का तौल

किया जाता है। इससे अन्योऽन्याश्रय का कोई प्रसंग नहीं है। फिर भी प्रश्न हो सकता है कि नियत परिमाण प्रतिवर्तक का परिमाण किसके द्वारा अवधारित किया गया है। इसके लिये तो और भी कोई नियत परिमाण प्रतिवर्तक चाहिए। फिर उसमें भी यह प्रश्न हो ही जायगा--उसका परिमाण किस नियत परिमाण प्रतिवर्त्तक के द्वारा अवधृत हुआ है, इससे अनवस्था दोष दुर्निवार हो जायगा।

इसके उत्तर में भी यही कहना है कि प्रदर्शित प्रकार में अनिष्ट का प्रसंग नहीं हो सकता है। कारण, प्रतिवर्तकादि का नियत परिमाण प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध परिमाण के द्वारा जब तौल किया जाता है तब पूर्वोक्त शंका का कोई अवकाश नहीं है। इसी प्रकार सूर्य का उदय एवं अस्त गमन रूप जो क्रिया है--जिसका परिमाण प्रसिद्ध है उसके द्वारा व्यक्ति विशेष चैत्र के गमन का परिमाण किया जाता है। इसलिए लोकव्यवहार में कहा जाता है कि दिवस भर चैत्र जाता है। प्रदर्शित स्थल में सूर्य के उदय एवं अस्तगमन को मिलाकर दिवस का परिमाण अवधृत होता है यह लोक में प्रसिद्ध है। सूर्य का उदय एवं अस्त गमन रूप दिवस प्रसिद्ध परिमाण क्रिया के द्वारा चैत्र की गमन क्रिया का परिमाप किया जाता है। जब सूर्यक्रिया को परिमाप करने की इच्छा होती है तब प्रसिद्ध नालिका स्तुति के द्वारा उसका परिमाप किया जाता है। इसलिए लोकव्यवहार में भी, जहाँ सूर्य दिखाई पड़ता है, कहा जाता है कि तीस नालिका हो गयी। इसलिए जिस व्यक्ति के आभास वर्ग का जिस देश में एवं जिस काल में चन्द्र, सूर्य, शीत, ग्रीष्म कोकिल के हर्षादि के द्वारा इयत्ता ( परिमाण ) परिच्छिन्न होता है--परिमापित है, उत व्यक्ति के लिए उस देश में एवं उस समय में वही काल है। सूर्यादि में विद्यमान नियत स्वभाव विशेष ही क्रम है, वही क्रम काल है।

कालः सूर्यादिसंचारस्तत्तत्पुष्पादिजन्म वा।
शीतोष्णे वाथ तल्लक्ष्यः क्रम एव स तत्त्वतः॥

नियतपरिमाणं यत् प्रतिवर्तकादि तेन कनकं मीयते, न च अत्र अनवस्था अन्योऽन्याश्रयो वा। ( ई० प्र० वि० वि० पृ० ४ )

तद्वत् प्रसिद्धपरिमाणया क्रियया अर्कोदयस्तमयमय्या चैत्रगमनम्।

तदुच्यते दिवसं चैत्रो गच्छतीति। आदित्यक्रिया अपि यदा परिमितिसता भवति, तदा प्रसिद्धाभिर्नालिकाभिर्मीयते—त्रिंशतं नालिकाः सूर्या दृश्यते इति, तेन यस्य यत्र यदा आभासवर्ग य इयत्तया परिनिष्ठिश्चन्द्रसूर्यशीष्णकोकिलसंमदादेः तस्य तत्र तदा स एव कालः। तेन सूर्यादिगतो यो नियतः स्वभावभेदः स क्रमः स एव कालः।

( ई० प्र० वि० वि० पृ० ४–५ )

जो आभास समूह परिच्छिन्न होकर तन्मात्र स्वरूप में स्थित है, वही आभास समूह काल है। जैसे चन्द्र एवं सूर्य के संचार में ( क्रिया में ) क्रमाभास है उसी प्रकार आम्रमुकुल एवं कुटजादि पुष्पोद्गम में जो क्रमाभास है, शीतोष्णादि ऋतु में जो क्रमाभास है एवं कोकिल का संमदादि में कण्ठस्वर विकृत होने का क्रमाभास ही काल है। इसलिए जिस पुरुष का जिस देश में एवं जिस काल में चन्द्र सूर्य शीतोष्ण एवं कोकिल संमदादिका क्रमाभास समूह इयत्ता के द्वारा परिच्छिन्न है, उस पुरुष के लिये उस देश में एवं उस समय में वह क्रमाभास ही उसका काल है। सूर्यादिगत संचार रूप नियतस्वभावविशेष ही क्रम है एवं वही काल है अर्थात् क्रमाभास ही काल है। इससे यही स्पष्ट होता है कि वैशेपिक दार्शनिक लोग जिसे काल कहते हैं वह भी क्रम रूप ही है। क्रम ही बहिर्देश में काल शब्द से पुकारा जाता है। वैशेषिकों का कहना है कि सूर्य संचारादि के द्वारा अन्य प्रवहणधर्मा काल लक्षित होता है। इस काल में प्रवहण धर्म प्रतीत होता है। वह काल नव-पुरातनादि रूप परत्व एवं अपरत्व एवं परत्वापरत्व ( वैशेषिक मत में परत्वापरत्वगुण है ) यह परत्वापरत्व दो रूपों में विभक्त है। देशकृत परत्वापरत्व कालकृत परत्वापरत्व देशकृत परत्वापरत्व को सन्निहित एवं विप्रकृष्ट शब्द से कहा जाता है। कालकृत परत्वापरत्व को ज्येष्ठ शब्द से कहा जाता है। इसी कालकृत ज्येष्ठत्व एवं कनिष्ठत्व को मन में रखकर अभिनवगुप्त ने पुराणत्व एवं नवत्व रूप में निर्देशित किया है, पूर्वोक्त वैचित्र्य के बाहुल्य के द्वारा यौगपद्य एत्रं अयौगपद्य, चिरशीघ्रतादि परस्पर अमिश्रित भाव का स्वभाव है। उसी का उत्थापक यह काल है और यह द्रव्य रूप है। पूर्वोक्त परस्पर असंकीर्णभाव समूह के स्वभावोत्थापक रूप में जो नवपुरात-

नादि रूप में खण्ड काल का प्रदर्शन किया गया है वह प्रत्यभिज्ञा-सिद्धान्तानुसार क्रम रूप है इस प्रकार कपिल मतानुयायियों ने काल को रजःस्वभाव स्वीकार किया है। कारण, रजोगुण प्रवर्तनात्मक है। इस तरह वैयाकरण लोगों ने काल को नित्य अनाश्रित एवं प्रवृत्तिस्वभाव स्वीकार किया है। बौद्ध दार्शनिकों ने सन्तान ( धारा ) रूप में विद्यमान भाव स्वरूप में काल को स्वीकार किया है। जो भी हो, प्रदर्शित मतो के विश्लेषण करने से यही निर्गलितार्थ निकलता है कि प्रदर्शित दार्शनिक सिद्धान्त में काल क्रमरूपता का लंघन नहीं करता है।

तेन सूर्यसंचारादिभिर्योऽन्यो लक्ष्यते प्रवहणधर्मा नवपुराणतादिरूपपरत्वापरत्वतद्वैचित्र्यतद्वाहुल्यादुपकल्पितयौगपद्येतरचिरशीघ्रताद्यसंकीर्णभावस्वभावोत्थापके वैशेषिकाणां द्रव्यारूपः, रजःस्वभावः प्रवर्तनात्मकत्वात् वैयाकरणानां नित्यानाश्रितप्रवृत्तिस्वभावः, सौगतानां सन्तन्यमानभावैकपरमार्थः सोऽपि वस्तुतः क्रमरूपतां न अतिक्रामतीति क्रम एव नाम बहिः कालः, इति व्यवह्रियते।

( ई० प्र० वि० वि० पृ० ५ )

स्वप्न, संकल्प, माया एवं इन्द्रजाल के समान आभासवर्ग में क्रम का परिच्छेद करना दुरुह है। उस स्थिति में क्रम का इयत्तावधारण राजर्षि हरिश्चन्द्र के रात्रिकाल के वृतान्त में जो क्रम भासमान हुआ था उसी के बराबर है। निष्कर्ष यही हुआ कि ज्ञानशक्ति ही भासमान होती है। कारण, समग्र विश्व का आभासवर्ग चिद्रूप है। परमेश्वर की ज्ञानशक्ति ही चिद्रूप आभाससमूह का रूप लेकर प्रकाशमान है। परमेश्वर की इसी ज्ञानशक्ति के द्वारा विचित्र-विचित्र आभास निर्मित हुए हैं। क्रम विचित्र आभास में ही आश्रित है। जहाँ भी क्रम का उल्लेख नहीं कर काल का कारण रूप में निर्देश किया गया है--जैसे दिवस में उत्पन्न हुआ, मध्याह्न में उत्पन्न हुआ, उन सब स्थलों में भी जो दिवस एवं मध्याह्न के कारण रूप में भासमान होता है वहाँ भी सूर्य संचार ( क्रिया ) क्रम की ही कारण रूप में प्रतीति होती है। क्रम को छोड़कर दिवस एवं मध्याह्न रूप कोई काल अतिरिक्त नही है। केवन स्थूलदर्शी मनुष्यों को अखंड दिवस मध्याह्न रूप काल का ज्ञान होता है। इसलिए वैशेषिक लोग जो नित्य द्रव्य

रूप में परिनिष्ठित ( सिद्ध ) स्वभाव काल स्वीकार करते हैं वह विचारसह नहीं है।

स्वप्नसंकल्पमायेन्द्रजालप्राये चेतनस्य आभासवर्गे क्रमस्य इयत्तानियमो हरिश्चन्द्ररजनीवृत्तान्तक्रमस्य इव, तदत्र संविच्छक्तिरेव प्रतपति तन्निमित्तत्वादाभासचित्रतायाः। तदाश्रयत्वाच्च क्रमस्य यत्रापि कारणे कालाख्येति उच्यते, तत्रापि दिवसे जाते मध्याह्ने जात इति अर्कसञ्चारक्रमस्यैव कारणताप्रतीतिः सिद्धा न तु नित्य-द्रव्यात्मनः परिनिष्ठितरूपस्य कस्यचित्। द्रव्यमपि तत्प्रवहणधर्म-क्रमेण नवपुराणतारूपपरत्वापरत्वतद्वैचित्र्योत्थापकमिति चेत्, तर्हि पुनरपि क्रमरूपता एव अस्य अनुभवानुसारेण व्यवतिष्ठते न रूपान्तर-मिति क्रम एव आभासनेऽनुप्रवेशात्मा कालः इति सिद्धम्।

( ई० प्र० वि० वि० पृ० ५ )

प्रश्न हो सकता है कि वैशेषिक दार्शनिक काल को यद्यपि द्रव्य रूप स्वीकार करते हैं तथापि वैशेषिक मत में यह काल प्रवहणधर्मा है। प्रवहण धर्म से युक्त होकर यही काल नवपुराणतारूप परत्वा-परत्व तथा उसके वैचित्र्य का उत्थापक होता है। इससे क्रमरूप काल को स्वीकर करने का प्रयोजन क्या है? इसके उत्तर में अभिनवगुप्तपाद कहना चाहते हैं कि वैशेषिक दार्शनिक अगर काल में प्रवहण धर्म को अङ्गीकार करते हैं तब तो प्रकारान्तर में काल की क्रम रूपता को ही अङ्गीकार कर रहे हैं। यही अनुभव में प्रतीत होता है। कोई द्रव्य प्रवहणधर्मा नहीं हो सकता, अगर क्रम भासमान नहीं हो जाय। निष्कर्ष यह है कि पूर्वोक्त क्रम परमेश्वर की आभासन-क्रिया में अनुप्रविष्ट है और इससे ही काल की प्रतीति होती है।

प्रश्न हो सकता है कि काल शब्द को व्युत्पत्ति का पर्यालोचन करने से भी उसका विलक्षण स्वरूप प्रतीत होता है। जिसके द्वारा परिच्छेद किया जाता है वही काल है। परन्तु क्रिया परिच्छेद्य है, इसलिए परिच्छेद्य क्रिया कैसे परिच्छेदक काल बन सकती है? जो स्वयं परिच्छेद्य है उसके द्वारा तो परिच्छेद नहीं किया जा सकता है। इसके उत्तर में यही कहा गया है कि क्रिया का भी जब क्रियान्तर के द्वारा परिच्छेद किया जाता है तो परिच्छेदक क्रियान्तर में काल शब्द की प्रतीति होती है। जैसे सूर्यगतक्रिया-

नालिका स्तुति रूप क्रिया के द्वारा जब परिमापित होती है तब नालिका स्तुतिरूप क्रिया भी काल रूप में प्रतीत होती है। द्वितीय क्रिया का भी क्रियान्तर के द्वारा परिच्छेद स्वीकार करने से एवं तृतीय क्रियान्तर का भी चतुर्थ क्रियान्तर के द्वारा परिच्छेद स्वीकार करने से एवं इस तृतीय क्रियान्तर का भी चतुर्थ क्रियान्तर के द्वारा परिच्छेद करने से अनवस्था दोष आ जायगा—ऐसा कहना अनुचित है। कारण, यह पहले ही प्रदर्शित किया जा चुका है कि गंजादि प्रतिवर्तक के द्वारा कनक का परिमाण करने में अनवस्था प्रसंग नहीं होता है। प्रकृतस्थल में भी पूर्वोक्त युक्ति से ही अनवस्था दोष का परिहार हो जायगा। पूर्व में परिनिष्पन्न ध्रुवादि कला के द्वारा परवर्त्ती ध्रुवादि कल्प का परिमाप किया जाता है और इसे उपजीवन कर ही कालव्यवहार होता है। ध्यान रखना चाहिए कि सभी व्यवहारों में पूर्वसिद्ध वस्तु के स्वरूप को अवलम्बन कर ही परवर्त्ती अनुरूप वस्तु का परिच्छेद किया जाता है। जैसे भोजन के बाद तृप्तिलाभ का भी पूर्वप्रसिद्ध एवं पूर्वानुभूत भोजन के बाद तृप्ति के सम्बन्ध के द्वारा ही परिच्छेद किया जाता है। मैं तृप्त हूँ इसका परिच्छेद पूर्वकाल में अनुभूत होने के कारण जो प्रसिद्ध तृप्ति है उसी के सम्बन्ध को उपजीवन कर किया जाता है।

यही सिद्धान्त है कि संवित् स्वयं ही प्राणन क्रिया के द्वारा प्राक्काल को उल्लसित करती है जिसके द्वारा परिच्छेद रूप व्यवहार परिनिष्पन्न होता है। महाप्रलय में भी काल व्यवहार उत्पन्न हो सकता है। कारण, महाप्रलय में ब्रह्मा के सुप्त रहने पर भी ब्रह्मा की निःश्वासरूपक्रिया विद्यमान है। इस प्रकार प्रलयकाल के बाद सृष्टिकाल में विष्णु, रुद्र प्रभृति जगत् के कारणवर्ग में जो क्रिया विद्यमान है उसी के द्वारा काल व्यवहार उपपन्न होता है। भगवान् परमेश्वर में काल व्यवहार नहीं होता है।

नालिकादि इति मुहूर्तादेः कल्पावसानपर्यन्तस्य परिग्रहः। ननु येन कलति क्षिपति परिच्छिनत्ति स कालः। क्रिया परिच्छेद्या, तत् कथं सा कालः·····इयत्तया प्रसिद्धत्वमनेन लक्षयता तस्यामपि परिमातुमिष्टायां नालिकास्तुत्यार्द्धक्रियान्तरमेव काल इत्याह। अनवस्थादि च कनकप्रतिवर्तकवृत्तान्तेन कृतसमाधानमेव। प्राक्सिद्ध-

ध्रुवककल्प्यप्रसिद्ध्यन्तरांपजीवनेन च कालो व्यवह्रियते। सर्वो हि व्यवहारः प्राक्सिद्धरूपोपजीवनेनैव। तृप्तिलाभोऽपि हि पूर्वप्रसिद्ध-तृप्तियोगत एव·····संविदेव हि प्राणनक्रियया प्राक्कालमुल्लासयेत्। महाप्रलये च ब्रह्मणि स्वपत्यपि तन्निश्वासोच्छ्वासादिक्रियया उत्तर-विष्णुरुद्रप्रभृतिकारणवर्गतया च क्रियया कालव्यवहारः।

( ई० प्र० वि० वि० पृ० ५-६ )

भगवान् की कालशक्ति की अभिव्यक्ति अवस्था में अगर आभासभेद उत्पन्न हो जाय तब यही समझना चाहिए कि क्रमरूप काल ने भी उन्मेष लाभ किया है। यह काल प्रमेय पदार्थों की प्रतीति का अवच्छेद करता है। प्रमेय पदार्थ प्रमीयमाण प्रतीति का विषय ही नहीं हो सकता है जब तक आसीत् ( अतीत काल ज्ञापक ), अस्ति ( वर्तमान काल ज्ञापक ) भविष्यति ( भविष्यत् काल ज्ञापक )·····इस प्रकार क्रमरूप के साथ संबद्ध नहीं होता है। पूर्वोक्त प्रतीति के द्वारा हीं समस्त क्रियाओं का अवच्छेदकत्व काल में स्वीकृत किया गया है।

भगवति तु न कालव्यवहारः कश्चित्। तच्छक्तौ तु मायायां प्रभवन्त्यामाभासभेदश्चेदुत्थितः, तत् क्रमात्मा कालोऽपि विजृम्भित एव। ( ई० प्र० वि० वि० पृ० ६ )

सा च पदार्थानां प्रमेयाणां प्रतीतिमवच्छिनत्ति। प्रमेयं हि प्रमीयमाणमेव अन्यथा न भवति यावदासीत्, अस्ति, भविष्यति, इत्यमुना रूपेण क्रमात्मा न अनुगृहीतम्। तेन प्रतीतिद्वारेण समस्त-क्रियावच्छेदकत्वं कालस्य इत्युक्तं भवति, (ई० प्र० वि० वि० पृ० ७)

विशिष्ट क्रम ही परत्व अपरत्व पुरातन एवं नूतन अवस्था को प्रदर्शित कराकर संततरूप में ( धारा रूप में ) परत्व एवं अपरत्व दोनों के द्वारा चिर व्यवहार एवं इसके विपरीत अचिर व्यवहार को निष्पन्न करता है। परत्व अपरत्व संतत होने से एवं चिर व्यवहार असंतत होने से अचिर व्यवहार निष्पन्न होता है। इस प्रकार क्रम अपने स्वरूप में अवस्थान कर क्रमस्थिति का निष्पादन करता है। पदार्थान्तर को आश्रयण कर जब अनेक पदार्थों का परिच्छेद करता है तब यौगपद्य की प्रतीति होती है। जब मूर्त्तिमान वस्तुओं के द्वारा कृत दूरत्व एवं अदूरत्वरूप देशकृत

परत्वापरत्व के द्वारा संकोर्यमाण ( मिश्रित ) होकर वस्तु में यौगपद्य का ज्ञान करता है तब उसी क्रम को काल कहा जाता है। पहले ही कहा जा चुका है कि यह परत्वापरत्व देशकृत है। देशकृत परत्वापरत्व सावयव वस्तु को लेकर जब मिश्रितरूप में प्रतीत होता है तभी यौगपद्य की प्रतीति होती है।

निष्कर्ष यह है कि जब एकाधिक वस्तु में दूरत्व एवं अदूरत्व की पृथक् रूप से प्रतीति उसी एकाधिक वस्तु को लेकर परस्पर संभिन्न होकर होती है तब इस स्थिति में यौगपद्य का भान होता है। पूर्वोक्त सभी प्रकार की प्रतीतियों के द्वारा क्रम ही कालरूप में भासमान होता है—यही कहा गया है।

क्रम एव हि विशिष्टः परत्वापरत्वलक्षणां पुराननूनस्थितिं दर्शयन् सन्ताभ्यां परत्वापरत्वाभ्यां चिरव्यवहराम् ; अन्यथा च अचिरव्यवहारं, स्वरूपेण क्रमस्थितिं भावान्तरोपाश्रयेण अनेकभाव-परिच्छेदेन यौगपद्यं मूर्त्तिकृतदूरत्वादूरत्वरूपाभ्यां परत्वापरत्वाभ्यां संकीर्यमाणतया भावेन विदधत् कालः इत्युच्यते।

( ई० प्र० वि० वि० पृ० ७–८ )

पूर्वोक्त युक्ति के द्वारा सिद्ध अगर क्रमरूप काल में नित्यत्व एकत्वादि का व्यवहार किया जाय एवं उसमें स्वातन्त्र्य का आरोप कर उसमें द्रव्यत्व भी स्वीकार किया जाय तब भी कणाद मत में कोई हानि नहीं है। तब तो यही हुआ कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्त का शरण ग्रहण किया। इससे प्रत्यभिज्ञा दर्शनिकों के साथ सिद्धान्ततः कोई विरोध नहीं है।

प्रश्न होता है कि वसन्तादि तो काल रूप में प्रसिद्ध है वह क्रम रूप कैसे होगा ? इसके उत्तर में अभिनवगुप्तपाद ने कहा है कि मीन एवं मेष राशि में जब सूर्य का संचरण होता है तो उसी संचरण के निमित्त सूर्य की उदयादि क्रिया को वर्तमानता दशा में वसन्त का अनुभव होता है। इसलिए वसन्तादि प्रसिद्ध काल में भी क्रमरूपता संभावित है।

प्रश्न होता है कि पूर्वोक्त क्रम रूप वसन्तकाल सूर्य का क्रमरूप हो सकता है। परन्तु अर्थ का क्रमरूप वसन्तकाल कैसे आम्रमुकुल के उद्भेदन आम्रमंजरी का निर्गमन के कालरूप में भासमान होता है।

तत्रैव च उक्तनीत्या नित्यत्वैकत्वे यदि व्यवह्रियेते, द्रव्यत्वं च स्वातन्त्र्यारोपणेन तदा काणादमतस्य अपि न काचित् क्षतिः सत्यस्म दर्शनशरणभावो गमने, इति आकूतम्। ननु वसन्तादिः कालः प्रसिद्धः स च कथं क्रमात्मा मीनमेषराशिसंचरणनिमित्ता अर्कस्य उदयादिक्रिया वर्तमाना वसन्त इत्यनुभूयते, ननु स वसन्तः कालोऽर्कस्य क्रमरूपः सहकारोद्भेदस्य कथं कालः——इत्याशंक्य ब्रूते तेनैव इति। वा शब्देन अस्य एव पक्षस्य दार्ढ्यं द्योतयति।

ई० प्र० वि० वि० पृ० ८ ( खण्ड–३ )

इसके उत्तर में अभिनवगुप्तपाद ने कहा है कि कनक का अपना ही स्वरूप माषक है, माषक परिमाण स्वर्ण से कोई पृथक् चीज नहीं परिच्छिन्न स्वर्ण ही माष परिमाण स्वर्णरूप से कहा जाता है। परन्तु विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि माषकरूप से जो परिच्छेद है वह माषक के द्वारा परिच्छेद स्वर्ण का अपना ही स्वरूप है। उससे कोई पृथक् नहीं है। इसलिए स्वर्ण का परिच्छेद करने के लिये जिस प्रतिवर्तकादि का उल्लेख किया गया है वह स्वर्ण का परिच्छेद समझाने के लिये उपलक्षण मात्र है। कनक का अपना ही स्वरूप परिच्छिन्न रूप में माषक शब्द से निर्देशित किया जाता है। प्रतिवर्तक में विद्यमानता स्वर्ण के परिच्छेद में उपलक्षण मात्र है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रतिवर्तकादि में स्थित परिच्छेद का स्वर्ण में संक्रमण होता है। कारण, स्वर्ण की परिच्छिन्न अवस्था स्वर्ण से अतिरिक्त नहीं है। ऐसे ही आम्रमंजरी का आभास आन्तरत्व, ग्राह्यत्व एवं बाह्यत्व प्रभृति आभासवर्ग है। उन आभास समूहों का कोरक मुकुल एवं पूर्ण विकासादि वैचित्र्य को पूर्वोक्त आन्तरत्वादि आभास ग्रहण करता है। सहकाराभास का निष्कर्ष यह है कि सहकाराभास का अन्तरत्व आभास कोरकाभास रूप है। इस सहकाराभास का ग्राह्यत्वाभास वकुलाभासरूप है। इस प्रकार सहकाराभास का बाह्यत्वाभास विकस्वराभास है। पूर्वोक्त सहकाराभास का जो आन्तरत्वादि आभास का कोरकादि विचित्र आभास प्रतीत होता है वह सहकाराभास का अपना ही क्रम है। इस सहकाराभास का जो अनन्त विचित्र आभासवर्ग है उनके आभासन में जो क्रम प्रतीत होता है वह क्रम सहकाराभास से कोई पृथक् चीज नहीं है। इसी का नाम वसन्तकाल है और सूर्योदय——

यह वसन्तकाल के परिच्छेद में उपलक्षण मात्र है। यह अर्कोदय क्रियारूप है--यह पहले ही कहा जा चुका है। जैसे स्वर्ण के परिच्छेद में प्रतिवर्तकगत कोई धर्म स्वर्ण में संक्रान्त नहीं होता है वैसे ही आर्कोदय में विद्यमान कोई धर्म वसन्त में उपसंक्रान्त नहीं होता है। वसन्त के परिच्छेद में अर्कोदय केवल उपलक्षण मात्र है। इस प्रकार सभी आभासवर्गों के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

यथा कनकस्य स्वमेव माषक इति परिच्छिन्नमुच्यते; प्रतिवर्तकगतं तु तत्र उपलक्षणमात्रं ··न तु अन्यत्रत्यमन्यत्र संक्रामति--तथैवसहकाराभासस्य आन्तरत्वग्राह्यत्वबाह्यत्वाभासानां कोरकमुकुलविकस्वरादिवैचित्र्यभाजां यो निजः क्रमः, स एव वसन्तः। स तु अर्कोदयस्तस्य उपलक्षणमात्रम् एवं सर्वत्र मन्तव्यम्।

ई० प्र० वि० वि० पृ० ८ ( खण्ड-३ )

प्रश्न होता है कि वसन्तादि शब्द से तो क्रमरहित सिद्ध ( परिनिष्पन्नरूप ) वस्तु प्रतीत होती है। वसन्तादि में तो कोई क्रम भासमान नहीं होता है। इसके उत्तर में कहा गया है कि आख्यात पद को छोड़कर दूसरे पदों से क्रिया की प्रतीति संभव नहीं होती है। जिस आख्यात पद के हृदय में क्रिया का स्वरूप प्रविष्ट है उस आख्यात पद से ही काल प्रतीत होता है। अभूत···इस आख्यात पद के प्रयोग करने से भावावभास ( पदार्थ का अवभास प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार कोई जड पदार्थ नहीं है। इसलिए भाव समूह को आभास शब्द के द्वारा निर्देश किया गया है ) का अभवन ( होना ) रूप क्रिया है उसके अवभास का स्फुटत्व एवं अस्फुटत्वरूप क्रम के द्वारा आलिंगित होकर पूर्वोक्त भवन क्रिया निर्भासित होती है। परन्तु भविष्यत् आदि आख्यात पद घटादि के समान परिनिष्पन्न अर्थ का बोधक होता है। इसलिए भविष्यत् अभवत् इदं वर्तमानं दिनम्--इत्यादि स्थलों में काल संकीर्ण ( मिश्रित ) रूप में भासमान नहीं होता है। कहने का तात्पर्य यही है कि भविष्यत् अख्यात पद से भविष्यत् काल, अभवत्·····इस आख्यात पद से अतीत काल एवं वर्तमान पद से वर्तमान काल एक ही दिन के साथ परस्पर मिश्रित होकर भासमान नहीं होता है। अगर भासमान होता तब तो उक्त प्रतीति व्याघात दोष से दुष्ट हो जाती, कारण भविष्यत् अतीत एवं वर्तमान काल कैसे युगपत्

भासमान हो सकता है ? परन्तु पूर्वोक्त कारण से कालत्रय का परस्पर संभिन्न होने का कोई अवकाश नहीं है।

पूर्वोक्त प्रयोगों में अभवत्·····इसी आख्यात पद से केवल काल का उन्मेष होता है। वर्तमान एवं भविष्यत् शब्द का अर्थ सिद्धरूप वे दिन हैं, दिन के विशेषण रूप में विश्रान्ति लाभ करना ही उसका एकमात्र स्वभाव है। एकमात्र परिनिष्पन्न दिन के विशेषण रूप में ही पूर्वोक्त शब्दार्थद्वय प्रतीत होता है। इसलिए वर्तमान एवं भविष्यत् शब्द का अर्थ क्रिया का अवच्छेदक नहीं हो सकता है। कारण, ये दोनों सिद्ध वस्तु के विशेषण होने के कारण साध्यक्रिया रूप में प्रतीत नहीं होते हैं। इसलिए यही समझना चाहिए कि क्रिया शरीर के अभ्यन्तर अनुप्रवेश निबन्धन उन्मेष लाभ करती है। इस प्रकार शरीरयुक्त क्रम ही काल है। निष्कर्ष यह है कि क्रम क्रियाशरीर में अनुप्रविष्ट है। पूर्वोक्त कारण से ही भगवान् वर्ष्यायणि का सिद्धान्त है कि जायते, अस्ति इत्यादि छः प्रकार भाव विकारों में जो क्रम भासमान होता है वही क्रम परमार्थतः काल है। छः प्रकार भाव विकार भाव से अतिरिक्त नहीं है। एवं छः प्रकार भाव विकारों से अधिक क्रिया नामक स्वतन्त्र कोई पदार्थ नहीं है।

( ननु वसन्तादिशब्देभ्यो क्रममेव सिद्धरूपं वस्तु प्रतिपत्तिपथमभ्येति, न क्रमः आख्यातपदादेव हि यथा प्रतीयते, न अन्यतः, तद्वत् तत एव क्रियास्वरूपहृदयप्रविष्टः कालः। अभूदिति हि भावावभासस्य भवनक्रिया अवभासस्फुटत्वतदस्फुटत्वक्रमोपश्लिष्टा निर्भासते। भविष्यदादयस्तु घटादितुल्यमेव अर्थमाहुः। तत एव भविष्यत्, अभवत्, इदं वर्तमानं दिनम्, इत्यादौ न कालस्य संकीर्णता काचिदभवदित्थम् एव अत्र कालत्वेन उन्मेषात्। वर्तमानभविष्यच्छब्दार्थस्य सिद्धरूपदिनविशेषणतैकविश्रान्तिसतत्त्वतया क्रियावच्छेदेकत्वायोगात् ·····यस्मात् क्रियाशरीरान्तरनुप्रवेशवशोन्मिषितशरीरः क्रम एव काल·····यत् किल भावविकारषट्कक्रमपरमार्थ एव कालः। नहि भावविकाराधिका काचित् क्रिया अस्ति। यथाह तत्रभवान् जन्मादयो विकाराः षड्भावभेदस्य योनयः। इति॥ )

ई० प्र० वि० वि० पृ० ८-९

इस आशय से ही पूज्यपाद भर्तृहरि ने कहा है कि जन्मादि छ भाव-विकार, भाव में जो भेद अथवा क्रम लक्षित होता उसका

मूल कारण है। पहले ही कहा जा चुका है कि सूर्य संचार आदि काल है एवं सूर्यादि का संचार सूर्यादि का स्वभाव है।

इसमें प्रश्न होता है कि भासमान जगत् में सूर्यादि का नित्य संचारादि रूप स्वभाव-विशेष को क्रमरूप में स्वीकार किया जाय तब तो पूर्वोक्त अंगुलिचतुष्टय की परस्पर अपेक्षा कर भेद स्वीकार करना पड़ेगा। अगर यह कहा जाय कि चारो अंगुलियों का सन्धिबन्ध एक है इसलिए चारों अंगुलिया एक स्वभाव हैं और इसलिए पूर्वोक्त दोष का प्रसंग नहीं है तो ऐसा कहना अनुचित है। कारण, ह्रस्वत्वदीर्घत्वनिबन्धन भेद अंगुली में स्पष्ट प्रतीत होता।

अंगुष्ठ का पूर्वोक्त तर्जन्यादि चार अंगुलियों के साथ सन्धिबन्ध का ऐक्य नहीं है। इसलिए उसे छोड़कर चार अंगुलियों की ही दृष्टान्त रूप में ग्रहण किया गया है।

अथ च अंगुलीचतुष्टय का काल भेद स्वीकार किसी भी प्रकार से नहीं किया जा सकता है। कारण अंगुलीचतुष्टय हाथ में युगपत् सन्धिबन्ध के द्वारा अवस्थान करता है·····यह पहले ही कहा जा चुका है।

क्रमो भेदाश्रयो भेदोऽप्याभाससदसत्त्वतः।
आभाससदसत्त्वे तु चित्राभासकृतः प्रभोः॥

स्वभावभेदमात्रं चेत् कालः, अंगुलीनामपि कालभेदः स्यात्। तस्मादाभासनानाभसनाभ्यां यो भेदः, तथा भूतभेदनिमित्तकः कालात्मा क्रमो न भेदमात्रनिमित्तकः। ई० प्र० वि० वि० पृ० ६

इसलिये अभिनवगुप्तपाद ने प्रदर्शित आपत्ति का भिन्नरूप से परिहार किया है। उनका कहना है कि सूर्योदय में अरुणाभास का सद्भाव एवं स्फुट प्रभापुंज का असद्भाव देखने में आता है। यह तो अनुभव सिद्ध है कि जब अरुणाभास विद्यमान रहता है उस समय स्फुट प्रभापुंज की अविद्यमानता ही है। कारण, ये दोनों युगपत् नहीं रह सकते हैं। इसलिए अरुणाभास एवं स्फुट प्रभापुंज ·····इन दोनों के यथाक्रम में सद्भाव एवं असद्भाव के द्वारा भेद सत्ता लाभ करने में समर्थ होता है। अरुणाभास का सद्भाव एवं स्फुटप्रभापुंज का असद्भाव·····इन दोनों के स्वरूप भेद को समझना चाहिए। आभास के सद्भाव एवं असद्भाव के द्वारा भेद के अस्तित्व को करता है।

पूर्वोक्त आभास के सद्भाव एवं असद्भाव के द्वारा अनुप्राणित भेद के द्वारा कृतक्रम कालरूप है।

आभास के सद्भाव और असद्भाव के बोध से ही भेद प्रतीति उत्पन्न होती है। सर्वत्र भेद प्रतीति का यही मूल है।

निष्कर्ष यह है कि क्रमरूप काल का सूर्यादिसंचाररूप स्वभाव भेद ही कारण है। पूर्वोक्त काल सूर्यादि संचार रूप स्वभाव भेद को स्वभावरूप नहीं समझना चाहिए। अगर इस रूप से स्वीकार नहीं किया जाय तब तो पूर्वोक्त अंगुलीचतुष्टय में भी भिन्नकालत्व की आपत्ति हो जायगी। सूर्यादिसंचाररूप स्वभाव भेद क्रमरूप काल का हेतु है। क्रमरूप काल सूर्यादिसंचाररूप जो स्वभाव भेद है, तत्स्वरूप नहीं है। इस प्रकार सूर्यादिसंचाररूप स्वभाव भेद के साथ क्रमरूप काल का कार्यकारणभाव सम्बन्ध स्वीकार करने से अंगुलीचतुष्टय को लेकर भिन्नकालत्व की आपत्ति नहीं हो सकेगी। क्रम का हेतु भेद भी आभास के सद्भाव एवं असद्भाव से सत्तालाभ करने में समर्थ होता है। सूर्य संचार विशेष अरुणाभास से सद्भाव एवं स्फुट प्रभापुञ्ज के असद्भाव के द्वारा निष्पन्न होता है। यह प्रक्रिया अगर स्वीकार नहीं की जाय तब तो सूर्य संचार के सर्वत्र समान होने के कारण, सूर्य संचार की अपेक्षा से जो काल सिद्ध किया गया है वह सभी स्थल में एक रूप हो जायगा। परन्तु काल की सर्वत्र एकता अनुभव विरुद्ध है। इस प्रकार तत्तत् पुष्पादि के जन्म के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

(·····इह स्वभावभेदमात्रं यदि क्रमात्मा कालः, तदांगुलीचतुष्टयं भिन्नस्वभावम् इति भिन्नकालं भवेत्, तस्मात् अरुणाभासस्य सद्भावः स्फुटप्रभापुञ्जस्य च असद्भावः इत्येवंभूतो यो भेद आभाससद्भावाभ्यामनुप्राणितः तत्कृतः क्रमः कालात्मा।)

ई० प्र० वि० भा० पृ० १५–१५ ( भाग० २ )

( इह क्रमः क्रमतया साधितः कालः, भेदः·····सूर्यादिसंचाररूपस्वभावभेदः, आश्रयः हेतुर्यस्य तादृशो भवति, न तु तद्रूपो भवति, अंगुलीचतुष्टयस्यापि भिन्नकालत्वापातात्, भेदोऽपि––क्रमहेतुः भेदश्चाभाससदसत्त्वतो भवति, सूर्यसंचारविशेषमतारुणाभाससद्भावस्फुटप्रभापुञ्जासद्भावकृतो भवतीत्यर्थः, अन्यथा सूर्यसंचारस्य समानत्वात् तदपेक्षया साधितः कालः सर्वत्रैकतामाश्रयेदिति भावः।

एवं तत्तत्पुष्पादिजन्मादिष्वपि ज्ञेयम्, एतदपेक्षयापि कालसाधनात्।
ई० प्र० वि० टी० पृ० १५ ( भा० २ )

कारण, पुष्पादिजन्म क्रिया में जो क्रम भासमान होता है उसी की अपेक्षा कर काल का साधन किया गया है।

प्रश्न हो सकता है कि काल का स्वरूप जो प्रदर्शित किया गया है वह तो परमेश्वर की शक्ति नहीं है। कारण, यही तो कहा गया है कि क्रमरूप काल बाह्य वस्तु जन्य है। जो बाह्य जन्य है वह परमेश्वर को शक्ति कैसे हो सकती है? इसके उत्तर में अभिनव-गुप्तपाद ने कहा है कि अरुणाभास एवं स्फुटप्रभापुञ्जाभास प्रभृति का सद्भाव एवं असद्भाव बाह्य कारण नहीं है। यह ज्ञानाधिकार में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है। प्रत्यभिज्ञादर्शन का सिद्धान्त यही है कि संवित् स्वभावात्मा संकल्पादि अवस्था में जो आभास वैचित्र्य निर्माण में समर्थ होता है वही सभी कालों में अनुभव सिद्ध है। स्वप्नादि अवस्था में संवित् स्वाभावात्मा अनन्त वैचित्र्य युक्त आभास राशि की सृष्टि करता है। स्वप्न संकल्पादि अवस्था में जैसे आभासवर्ग संवित्स्वभावात्मा से उत्पन्न होता है, वैसे ही पूर्वोक्त आभास का सद्भाव परमेश्वर से ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार घटाभास एवं पटाभास को पृथक्त्वाभास के द्वारा परस्पर आभास अभावरूप में आभासन करता है।

परमेश्वर अपने अभ्यन्तर में नीलादि आभास का आभासन करते हुए नीलादि आभासों को विचित्र एवं अपरिच्छिन्न रूप में भासन ( प्रकाश ) करता है। दृष्टान्त स्वरूप कहा जा सकता है कि लोहिताभास, घटाभास, उन्नताभास एवं दृढ़ाभास जो एक अधिकरण में आभासित करता है। एक घटरूप अधिकरण में लोहिताभास उन्नताभास एवं दृढ़ाभास होता है।

आशय यह है कि परस्पर घट में पटाभासाभाव एवं पट में घटाभासाभाव का आभासन करता है। परन्तु चिद्रूप परमेश्वर जो अपने में एकरस आभास है उसके द्वारा एक स्वरूप आभासन के द्वारा सभी पदार्थों का आभासन करता है। कारण, परमार्थतः सभी पदार्थ चिन्मय है—यही प्रत्यभिज्ञा दर्शन का असाधारण सिद्धान्त है। इसलिए चिद्रूप परमेश्वर का अपने में एकरस के द्वारा आभासन कहा गया है।

( तौ च आभासानां भावाभावौ न बाह्यहेतुकृतौ इति विस्तार्य उपपादितम्, इति य एव संवित्स्वभाव आत्मा स्वप्नसंकल्पादौ आभासवैचित्र्यनिर्माणे प्रभुः प्रभविष्णुः इति स्वसंविदितस्तत एव तौ भवतः, स हि आत्मनि नीलादीन् आभासान् आभासयन् चित्रतया अपरिमेयया भासयति, तथा हि ··· लोहिताभासं घटाभासम् उन्नताभासं दृढाभासं च सामानाधिकरण्येन घटाभासं पटाभासं च पृथक्त्वाभासेन अन्योऽन्यत्र आभासाभावेन स्वात्मनि तु एकरसेनाभासेन, इयति च न क्रमस्य उदयः यदा तु शरदाभासं हेमन्ताभासेन च सर्वथैव शून्यमाभासयति हेमन्ताभासं च शरदाभासेन तदा कालात्मा क्रम उत्तिष्ठति, इति सेयम् इत्थंभूता भाववैचित्र्यप्रथनशक्तिः भगवतः कालशक्तिः इत्युच्यते । )

ई० प्र० वि० भा० पृ० १५–१६ ( भा० २ )

इस स्थिति में भी क्रम का उदय नहीं होता है। परन्तु जब शरदाभास को हेमन्ताभास के द्वारा निःशेष में शून्य कर आभासन कराता है एवं हेमन्ताभास को शरदाभास के द्वारा शून्य कर आभासन कराता है तब कालरूप क्रम का उन्मेष होता है। निष्कर्ष यह हुआ कि भावराशि वैचित्र्य का जो विस्तार करना है, उसमें जो शक्ति है वही परमेश्वर की कालशक्ति है। परमेश्वर की शक्ति को ही कालशक्ति समझना चाहिए।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शनी में अभिनवगुप्तपाद ने पूर्वोक्त आशय का और भी स्पष्टीकरण किया है। उन्होंने कहा है कि आभासन एवं अनाभासन के द्वारा जो भेद प्रतीत होता है वह भेद-निमित्तक क्रम ही काल है। आभासन एवं अनाभासन के द्वारा भेद ज्ञान ही भेद क्रम का कारण होता है। शुद्ध भेदमात्र को क्रम का कारण नहीं समझना चाहिए। विचित्र रूप में जो संकल्पादि के क्रमोत्थापन में समर्थ अनुभूत होता है वह आभास सद्भाव एवं असद्भाव अथवा आभासन एवं अनाभासन परमेश्वर से ही उत्पन्न होता है।

( तस्मादाभासनानाभासनाभ्यां यो भेदः, तथाभूतभेदनिमित्तकः कालात्मा क्रमो न भेदमात्रनिमित्तकः। आभाससद्भावासद्भावौ च यौ वैचित्र्येण तौ स्वप्नसंकल्पनादौ क्रमोत्थापनदृष्टसामर्थ्यस्य प्रभविष्णोरेव सकाशात् भवतः। ) ई० प्र० वि० वि० पृ० ६

भगवान् भर्तृहरि ने भी अपने वाक्यपदीय ग्रंथ में कहा है कि परमेश्वर की ही शक्ति इस रूप से अवभास लाभ करती है। अन्यत्र भी प्रत्यभिज्ञा दर्शन में कहा गया है कि पूर्वोक्त परमेश्वर लोकयन्त्र का सूत्रकार स्वरूप है। प्रतिबन्ध एवं अभ्यनुज्ञा के द्वारा वे विश्व का विभाजन करते हैं। अगर परमेश्वर आभासवर्ग का प्रतिबन्धन नहीं करते अथवा प्रतिबन्धन से मुक्त नहीं करते—अर्थात् वे अगर इन दोनों क्रियायों का सम्पादन नहीं करते तब तो जागतिक अवस्था समूह पौर्वापर्य सहित होने के कारण परस्पर ये दोनों मिश्रित हो जाते और इसके फलस्वरूप लोकव्यवहार असंभव हो जाता।

पूर्वोक्त आभासन एवं अनाभास क्रिया में परमेश्वर का पूर्ण स्वातन्त्र्य है। यही स्वातन्त्र्य परमेश्वर का ऐश्वर्य है। पूर्वोक्त परमेश्वर विचित्र रूप में आभास का निर्माण करते हैं इसके दृष्टान्त स्वरूप कहा जा सकता है कि दृढ़ लोहित (रक्तवर्ण) एवं उन्नत घटाभास को पूर्वोक्त गुणों के साथ समानाधिकरण में अवभासन कराते हैं। इस प्रकार घटाभास एवं पटाभास का एक ही साथ में पृथक्त्वाभासन के द्वारा आभसन कराते हैं। परमेश्वर चिद्रूप होने के कारण चिद्रूप एकरस में कृष्णभाववर्ग को अपने में आभासन कराते हैं एवं परस्पर घटाभास एवं पटाभास को एकरस अनाभास के द्वारा आभासन कराते हैं। इसका स्वरूप पहले ही कहा जा चुका है। इस स्थिति में क्रम का उन्मेष नहीं होता है। क्रम का उल्लास तभी संभव होता है जब वसन्ताभास को ग्रीष्माभास के द्वारा एवं वसन्ताभास में ग्रीष्माभासाभाव एवं ग्रीष्माभासाभाव में वसन्ताभासाभाव के द्वारा शून्य कर आभासन कराते हैं। केवल आभासन के द्वारा क्रम ज्ञान नहीं हो सकता है। आभासन एवं अनाभासन के भेद से ही क्रम का बोध होता है। इसलिए अभिनवगुप्तपाद ने कहा है कि परमेश्वर का आभास एवं अनाभास प्रथन ( विस्तार ) समर्थता ही कालशक्ति है। कहाँ परमेश्वर आभासन कराते हैं, कहाँ आभासन का प्रतिबन्धन करते हैं—यही उनका स्वातन्त्र्य है।

( यदुक्तं तत्रभवता एकस्येव तु सा शक्तिर्यदेवंभवभासने। इति तथा अन्यत्रापि

तमस्य लोकयन्त्रस्य सूत्रकारं प्रचक्षते
प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां तेन विश्वं विभज्यते ॥
यदि न प्रतिबध्नीयात् प्रतिबन्धाच्च नोत्सृजेत् ।

अवस्था व्यतिकीर्येरन् पौर्वापर्यविनाकृताः इति । अनेन हि स्वायन्त्र्यमाभासनाभासनयोर्वदता ऐश्वर्यमुक्तम् । स हि भगवान् चित्रतया आभासान् करोति । तत् यथा दृढ़लोहितोन्नतघटाभासान् सामानाधिकरण्येन, घटपटाभासौ सहैव पृथक्त्वावभासेन, स्वात्मनि एकरसेन आभासेन, अन्यान्यं तु एकरसेन अनाभासेन । इयति न क्रमः कश्चित् । यदा तु वसन्ताभासां ग्रीष्माभासेन, इममपि तेन शून्यं समाभासयति, तदा क्रमस्य उन्मेष इत्येवं भगवत एव आभासानाभासप्रथमनसमर्थतया, सैव कालशक्तिः । )

ई० प्र० वि० वि० पृ० ६–१०

परमेश्वर का चित्राभास निर्माण का स्वरूप प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी में विस्तृत रूप से प्रतिपादित किया गया है । कहा गया है कि पदार्थ के अपने स्वरूप को ही मूर्त्ति शब्द से कहा जाता है । पदार्थ की मूर्त्ति अर्थात् स्वरूप का वैचित्र्य पारस्परिक भेद को छोड़कर और कुछ नहीं है । इस वैचित्र्य के दृष्टान्त स्वरूप में कहा जा सकता है कि गृह के स्वरूप से प्रांगण का स्वरूप भिन्न है । कारण, गृह से प्रांगण बासवर्त्ती है । प्रांगण से भी बहिर्वर्तिनी होने के कारण विपणि ( पण्य विधिका ) भिन्न है । उससे देवालय भिन्न पदार्थ है । उससे उद्यान भिन्न पदार्थ है और फिर उससे अरण्य भिन्न है । इस प्रकार आभास विषयीभूत पदार्थों से भिन्नरूप––दूर अदूर, वितत्व, अविततत्वादि क्रम परमेश्वर के द्वारा आभास का विषय किया जाता है । अगर ऐसा नहीं होता तब तो यह व्यक्ति गृह के अभ्यन्तर में है, यह व्यक्ति गृह के बाहर में है––इस प्रकार का लोकव्यवहार सम्भव नहीं होता । भेदकृत क्रम का अवभासन ही इसमें कारण है । परन्तु जब गाढ़ प्रत्यभिज्ञान का उन्मेष होता है तब यह हस्त स्वरूप वही है––ऐसी प्रतिपत्ति होती है, और इससे पूर्वानुभूत हस्तस्वरूप के साथ वर्तमान अवस्था में स्थिति हस्तस्वरूप में अभेद ज्ञान होता है । साधारण अवस्था में पदार्थों का अपना-अपना स्वरूप लेकर भेद के भासमान होने पर भी पूर्वोक्त प्रत्यभिज्ञा स्थल में पदार्थों की मूर्त्ति में भेद नहीं है––यह स्पष्ट ज्ञात होता है ।

इस प्रकार हस्तादि स्वरूप का अभेद ही नहीं, जो प्रत्यभिज्ञा ज्ञान के द्वारा प्रतीत होता है, परन्तु भेद भी प्रतीत होता है। जैसे हस्त का उत्क्षेपण एवं हस्त का अवक्षेपण आदि विशिष्ट रूप में हस्तस्वरूप भिन्न-भिन्न रूप में प्रमाता के पास भासमान होता हैं। पूर्वोक्त अभिन्न हस्त स्वरूप में उत्क्षेपण अवक्षेपणादि जो भिन्न-भिन्न रूप प्रतीत होता है उसी को क्रिया कहा जाता है। उत्क्षेपण, अवक्षेपणादि आभ्यन्तरीय विरोध प्रयुक्त युगपत् विद्यमान नहीं रह सकता है। इसी को क्रिया रूप में निर्देश किया जाता है।

पदार्थस्य स्वं रूपं मूर्त्तिः, तस्या यत् वैचित्र्यं विभेदः तद्यथा गृहमिति अन्यत् स्वरूपम्, प्रांगणमिति अन्यत्, विपणिरिति अन्यत्, देवकुलमिति अपरम्, उद्यानमिति अन्यत्, अरण्यमिति तदन्यतरत्, तस्मात् वैचित्र्यात् आभास्यमानात् देशरूपो दूरादूरविततत्वा-विततत्वादिः क्रमो भगवता अवभास्यते। यदा तु गाढप्रत्यभिज्ञा-प्रकाशबलात् तदैव इदं हस्तस्वरूप इति प्रतिपत्तौ मूर्त्तेर्न भेदः, अथ च अन्यान्यरूपत्वं भाति तदैकस्मिन् स्वरूपे यदन्यत् रूपं तद्विरोधवशात् असम्भवत्क्रिया उच्यते। ई० प्र० वि० वि० भा पृ० १७ ( ख० २ )

प्रमातृ रूप परमेश्वर उक्त क्रिया का परिमित एवं अपरिमित रूप वैचित्र्य को प्रकाशित करते हैं। सूर्यसंचारादि रूप में क्रिया अपरिमित है, एवं देवदत्त गमनादि रूप में क्रिया परिमित है। परमेश्वर किस रूप में क्रिया का निर्भास करते हैं? इस जिज्ञासा के उत्तर में कहा गया है कि ग्राम प्राप्ति प्रभृति क्रिया फल की निष्पत्ति द्वारा जो परिच्छेद है उसी परिच्छेद सामर्थ्य के द्वारा अपनी रुचि के अनुसार अनन्त वैचित्र्य के अभ्यन्तर सूर्यसंचारादि-रूप एक की काल्पनिक योजना द्वारा ही क्रिया का प्रकाश करते हैं। इसका फल यह होता है कि देवदत्तः दिवसं ग्रामं गच्छति—ऐसा प्रयोग किया जाता है।

अपरिमित सूर्य संचारादि क्रिया का परिमित ग्राम गमनादि अनन्त एवं विचित्र क्रियायों के अभ्यन्तर में एकता अनुसन्धान करना कल्पना के द्वारा ही सम्भव है। कारण, ग्रामगमन एक पृथक् क्रिया है, एवं दिवस भी सूर्य क्रिया है। इस स्थिति में पूर्वोक्त काल्पनिक एकतानुसन्धान नहीं करने से गमन क्रिया के साथ दिवस रूप सूर्य क्रिया का कैसे सम्बन्ध बन सकता है? पूर्वोक्त क्रिया के

निर्भासन द्वारा परमेश्वर क्रमरूप काल ही निर्भासन करते हैं—यही समझना चाहिए।

पहले कहा जा चुका है कि एक हस्तादिस्वरूप में उत्क्षेपण अवक्षेपणादि भिन्न-भिन्न स्वरूप भासमान होता है। यह कैसे सम्भव है? जो एकस्वरूप है वह भिन्न-भिन्न स्वरूप में कैसे भासमान होगा? कारण, इसमें तो अनुभव विरोध होता है। इसके उत्तर में विमर्शिनीकार ने कहा है कि बाह्य नीलादि एवं आन्तर सुखादि वस्तुतः कोई पदार्थ विद्यमान नहीं है, जो भिन्न भिन्न रूप में भासमान होगा। वस्तुतः बाह्य नीलादि अथवा आन्तर सुखादिरूप अगर कोई भाव (पदार्थ) होता तब तो पूर्वोक्त आपत्ति को अवकाश भी मिलता, परन्तु तात्त्विक-दृष्टि से नीलादि एवं सुखादि का कोई अस्तित्व है ही नहीं। प्रश्न होता है कि पदार्थ का अगर कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है तो उसका ज्ञान कैसे सम्भव है। इसके उत्तर में कहा गया है कि संविद् ही भिन्न भिन्न रूप में भासमान होता है। संवित् से अतिरिक्त कोई भाव विद्यमान नहीं है। भिन्न भिन्न रूप में भासमान होना संवित् का अपना ऐश्वर्य है। इसलिए कहा गया है कि महेश्वर अगर अपने शरीर के द्वारा एकरूप में अवस्थान करता तब तो उसका महेश्वरत्व एवं संविद्-रूपत्व घटादि की तरह छोड़ना पड़ता।

तस्या यत् वैचित्र्यं परिमितापरिमितात्मकं तदेकानुसन्धानेन फल-सिद्धयादिनिबन्धनवशात् यथारुचि चर्चितेन निर्भसयन् कालरूपं क्रममेवावभासयति। न चैतत् वाच्यम्—एकस्वरूपस्य कथम् अन्यत् अन्यद्रूपमिति? यतो न असौ कश्चित् भावो य एवं कल्प्यते, संविदेव हि तथा भाति, तथा भानमेव च तस्या ऐश्वर्यम्,

ई० प्र० वि० व्या० (भा०) पृ० १८ (ख० २)

अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः।
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्ष्यद् घटादिवत्॥

ई० प्र० वि० व्या० पृ० १८ (भास्करी खण्ड २)

प्रश्न होता है कि अगर संवित् को छोड़कर और कोई पृथक् भाव विद्यमान नहीं है तब तो लोकव्यवहार में परस्पर विरोधी रूप में प्रतीत सुख-दुख रूप भासमान पदार्थ को संविद् ही विरुद्ध रूप में भासमान करता है। परन्तु संवित् का विरुद्ध रूप में कैसे ज्ञान

हो सकता है ? यह तो अनुभव विरुद्ध है। इसके उत्तर में कहा गया है कि भासन में कोई विरोध कार्यकर नहीं हो सकता है। कारण, आभासन होने के बाद ही विरोध संभावित है। तात्पर्य यह है कि सुख-दुखादि का विरोध भासन के द्वारा सत्ता लाभ करने में समर्थ होता है। विरोध की सत्ता को विरोध का आभासन समझना चाहिए। आभासन को छोड़कर विरोध आत्मलाभ करने में समर्थ ही नहीं होता है। भासन के द्वारा जब सुख-दुखादि का विरोध लब्धसत्ताक होता है तब वह भासन का बाधक कैसे हो सकेगा ? जो जिसका उपजीवन करता है यह अपने उपजीव्य का बाधक कैसे बन सकता है ? संवित् के अवभास को छोड़कर तो विश्व में स्वतन्त्र रूप से पदार्थों का अस्तित्व नहीं है। फिर प्रश्न होता है कि सुख-दुखादि का विरोध भासन के द्वारा ही सत्ता लाभ करता है—इसमें युक्ति क्या है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि नीलादि में पीतत्तादि के आभासन के अभाव को ही विरोध का स्वरूप समझना चाहिए। जो जिस अधिकरण में भासमान होता है उसके साथ विरुद्ध नहीं हो सकता है। जो भासमान नहीं होता है वही विरुद्ध है। भासमान ही विरोध का विषय है। इसलिए वह विरोध भासन में अकिंचित्कर है। भासमान अवस्था में विरोध भासन के साथ विरोधी रूप में भासमान नहीं हो सकता है।

नहि भासते विरोधः कश्चित् प्रभवति, स हि सुखदुःखादेर्भासनकृत एव, तथाभासनाभाव एव हि विरोधत्वम्।

( ई० प्र० वि० पृ० १८–१९ )

यत्र यत् भाति न तत् तत्र विरुद्धम् यत्तु न भाति तद्विरुद्धमिति भासनाभावदत्तविषयो विरोधो भासने किंचितकर एव इति भासः।

( ई० प्र० वि० व्या ( भा० ) पृ० १९ ( ख० २ )

अभिनवगुप्तपाद ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी में पूर्वोक्त आशय की और भी विशद विचार किया है। उन्होंने कहा है कि मूर्त्तिमान पदार्थ को ही संवेद्य समझना चाहिए। मूर्त्तियों का अर्थात् संवेद्यरूप भावों का वैचित्र्य गृह, प्रांगण, विपणि, देवकुल, आराम एवं अरण्यादि भेद से प्रतीत होता है। इसलिए उस वैचित्र्य को जब परमेश्वर आभासन करते हैं तब तो वे विततात्मक ( विस्तृत ) एवं अवितत्तात्मक देशक्रम को आभासन कर रहे हैं। वैतत्य एवं अवैतत्य को

छोड़कर देश का क्रम कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। हस्तादि उत्क्षेपणादि के द्वारा भिन्नरूप में प्रतीत होने पर भी एक प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान का विषय होने के कारण, स्वरूपतः अभिन्न·····यह यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है। इसका कारण, उत्पलाचार्य आगे जाकर कहेंगे। विमर्श ऐक्य प्रयुक्त हस्तादि द्रव्य की अभिन्नता अतिरोहितरूप तिरोहित = आच्छादित अतिरोहित=स्पष्ट में प्रतीत होती है। उन द्रव्यों का जो भिन्न भिन्न देशत्व एवं भिन्न भिन्न धर्मत्व है वह पूर्वोक्त द्रव्य स्वरूप के ऐक्य का बाधक नहीं होता है। वह भिन्न देशत्व एवं भिन्न भिन्न धर्मत्व "गच्छति चैत्रः" "पच्यते फलम्"··· इस प्रकार के क्रियावैचित्र्य को छोड़कर और कुछ नहीं है। गच्छति चैत्रः···इस दृष्टान्त के द्वारा चैत्र का भिन्न भिन्न देश सम्बन्ध कहा गया है। कारण, चैत्र का तो गमन क्रिया के द्वारा भिन्न भिन्न देश के सम्बन्ध होता है।

इस प्रकार फल में जब पाक होता है तब फल का श्यामरूप धर्म निवृत्त होकर रक्तिमरूप धर्म उत्पन्न होता है। यह भी तो क्रिया-वैचित्र्य ही है। पूर्वोक्त प्रकार के क्रिया वैचित्र्य को परमेश्वर निर्भासित करते हैं। परमेश्वर-स्वातन्त्र्यनिबन्धन विरोध एवं अविरोध को अभिन्न हस्तादि स्वरूप में निर्भासन कराना सर्वथा संभव है। परमेश्वर स्वतन्त्र है इसलिए हस्तादिरूप एक पदार्थ-स्वरूप में पूर्वोक्त उत्क्षेपण अवक्षेपण रूप परस्पर विरुद्ध कालरूप क्रम--जिसका एक स्थान में रहना अनुचित है उसे आभासन करते हैं। इस विषय को स्पष्ट रूप में पहले भी विस्तृतरूप से प्रतिपादित किया है। देशगत क्रम एकाधिक वस्तु को लेकर ही संभव होता है, जैसे गृह का आंगन दृष्टान्त के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार काल का भी क्रम सहकार (आम्र) पुष्प एवं मल्लिका-पुष्पादि में प्रतीत होता है। परन्तु एक पदार्थ स्वरूप को लेकर देशगत क्रम संभावित नहीं होता है। कारण, उसमें दूरतादि की प्रतीति नहीं होती है। एक वस्तु स्वरूप को लेकर अंशगत (भावगत) विततता अविततता भी संभावित नहीं होती है। परन्तु केवल कालगत क्रम ही एक वस्तु को लेकर संभावित होता है, जैसे पच्यमान आम्र के फल में देखने में आता।

मूर्त्तीनां संवेद्यरूपाणां भावानां यत् वैचित्र्यं गृहप्रांगणविपणि-देवकुलारामारण्यादिभेदेन, ततो हेतोस्तत् वैचित्र्यभाभासयन्

परमेश्वरो वैतत्यावैतत्यात्मकमवभासयति । एकप्रत्यभिज्ञाबलात् तु यत् स्वरूपेण अभिन्नं हस्तादि, यद्वक्ष्यति ।

विमर्शैक्येनातिरोहिताभिन्नद्रव्यात्मनः, इति, तस्य यदन्यान्यदेशत्वमन्यान्यधर्मत्वं स्वरूपैकतामवाधमानं—गच्छति चैत्रः, पच्यते फलम् इत्येवंभूतं क्रियावैचित्र्यं, तस्य निर्भासनात् हेतोरीश्वरो विरोधमविरोधं च स्वातन्त्र्यात् निर्भासयन् कालाख्यं क्रममेकस्य विरुद्धरूपतया अनुचितमपि अवभासयति, इति सूत्रार्थः । अनेकस्मिन् वस्तुनि देशक्रमो गृहांगवत् कालक्रमः । सहकारमल्लिकादिवत् । वैतत्यमपि अंशानाम् । तदेकत्र कालक्रम एव पच्यमानाम्रफलवत् ।

ई० प्र० वि० पृ० १२ ( ख० ३ )

वेद्यवर्ग में ही काल की अवस्थिति होती है। कालसम्बन्ध वेद्य नील पीत सुखादि भाव समूह में ही सम्भव है। किन्तु संविद् में क्रम रूप काल का कोई सम्बन्ध नहीं है। संविद् परमेश्वर स्वरूप है—यह पूर्व में ही कहा गया है। सिंविद्रूप परमेश्वर एक एवं अभिन्न है। इसलिए भेदकृत क्रमरूप काल किस प्रकार उसमें संभावित हो सकता है? लोकव्यवहारदशा में नीलपीतादि ज्ञान में भी नीलपीतादि भाग में क्रमरूप काल का सम्बन्ध होता है। किन्तु ज्ञान का जो स्व संवेदन भाग है उसमें क्रमरूप काल का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार परमशिवावस्था में जब अहम्··· इस प्रकार चैतन्यमात्र का विमर्श होता है उस अवस्था में अहम् इस विमर्शरूप शब्दनाभाग में भी क्रमरूप काल का सम्बन्ध नहीं होता है। कारण, उस समय परमशिव अपने स्वरूप में अवस्थान करते हैं। ज्ञान के तीन भाग हैं·····वेद्य भाग, वेदन भाग एवं विमर्शरूप शब्दनाभाग। इनमें केवल वेद्यांश में ही काल परमशिवावस्था में जो अहम् अहम् रूप विमर्श होता है उस विमर्श में अहम् शब्द भासमान होता है। इसी को ध्यान में रखकर अभिनवगुप्तपाद ने शब्दना शब्द का व्यवहार किया है। यह शब्दना विमर्शरूप है यह पूर्व में ही कहा गया है इनमें केवल वेद्यांश में काल का सम्बन्ध है। अतिरिक्त के भागों में क्रमरूपकाल का सम्बन्ध नहीं रहता है। परमेश्वर का अहम्···इत्याकार विमर्शरूप शब्दनांश में क्रम भासमान क्यों नहीं होता है इसका कारण सुस्पष्टरूप से प्रतिपादित किया गया है। परमेश्वर के अहं रूप विमर्श में किसी प्रकार का क्रम नहीं है।

प्राणवायु परमेश्वर का अहं इत्याकार विमर्शरूप शब्दनांश है, वह कारण की प्रेरणा से निरपेक्ष है। परमेश्वर की इच्छा एवं प्रयत्न मात्र के द्वारा प्रक्षोभित हृदयाकाश में अहम्···इसी प्रकार के ग्राहक रूप का परिस्फुरण होता है। अथवा परमेश्वर के ज्ञानभाग में पश्यन्ती, मध्यमा एवंरूप में इदं इस प्रकार ग्रहण रूप का परिस्फुरण होता है। इस दशा में ग्राहक एव ग्रहण का कोई भेद भासमान नहीं होता है। ग्राहक एवं ग्रहण के भेद के भासमान नहीं होने के कारण ग्राह्य वेद्य भी भासमान नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि इस स्थिति में ज्ञान का ग्राहक भाग, ग्रहण भाग एवं ग्राह्य वेद्य भाग अस्तमित है। इसलिए ज्ञान के वेद्यांश को लेकर जो क्रमरूप काल सम्भावित होता है वह इस स्थिति में वेद्यांश के नहीं रहने के कारण क्रमरूप काल का सम्बन्ध किस प्रकार करेगा ? प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तानुसार बाह्य भाग भी चिद्रूप है। पश्यन्ती अवस्था में अर्थ ज्ञानरूपशब्द के साथ अविभागापन्न होकर अवस्थान करता है। इस प्रकार मध्यमावस्था में ज्ञानात्मक शब्द के साथ यद्यपि अर्थ की विविक्तरूपता उन्मेष लाभ कर रही है तथापि इस अवस्था में भी शब्द के साथ अर्थ का विविक्तरूप में स्फुटावभास नहीं है। इसलिए इस स्थिति में क्रमरूप काल का भी अस्तित्व संभावित नहीं है।

इति वृत्तितात्पर्यम्। वेद्ये एव कालावस्थितिः न संविदि। ज्ञानेऽपि वेद्यांशे एव कालः न स्वसंवेदनांशे, न च विमर्शरूपशब्दनांशे, ·····इति घटयति, स्वरूपमात्र, इत्यादिना। आकाशो यस्य, इति प्राणप्रेरणानैरपेक्ष्येण एव इच्छाप्रयत्नमात्रप्रक्षोभिते हृदयगगने अहमिति परिस्फुरतो ग्राहकरूपस्य ज्ञानभागे वा पश्यन्तीमध्यमात्मना स्फुरत इदमिति ग्रहणरूपस्य। भेदाभावात्, इति अवेद्यत्वादित्यर्थः। यदाह तत्रभवान्। ( ई० प्र० वि० पृ० १२ )

### प्रत्यभिज्ञादर्शन में क्रिया शक्ति का स्वरूप निरूपण

प्रत्यभिज्ञा-शैव-सिद्धान्त में क्रिया का विशेष स्थान है। ज्ञान, शक्ति से पृथक् रूप में क्रिया शक्ति का उल्लेख किया गया है। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका की प्रथम कारिका में कर्तृ, ज्ञातृ, इत्यादि कारिका द्वारा स्पष्ट रूप से इस विषय का उल्लेख किया गया है।

बौद्ध दार्शनिकगण प्रत्यभिज्ञा दर्शन सम्मत क्रिया के स्वरूप को स्वीकार नहीं करते हैं। इसलिए इन दोनों मतों में गहरा भेद है। बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय क्रिया को क्यों नहीं स्वीकार करता इसकी युक्तियों को ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीकार के अनुसार पहले प्रदर्शित किया जा रहा है।

बौद्ध दार्शनिकों का कहना है कि लोकव्यवहार में गच्छति, चलति, पतति (जा रहा है, चल रहा है, गिर रहा है) इत्यादि परिस्पन्द प्रतिभास का विषय होता है। (प्रतिभास शब्द से भास्करी टीका में प्रतिभा का ग्रहण किया गया है।) पूर्वोक्त प्रतिभास का पर्यालोचन करने से यही प्रतीत होगा कि गृह देश में अवस्थित जो देवदत्त का स्वरूप है···गमनादि के बाद देवदत्त का वह स्वरूप बाह्य देशवर्त्ती प्रतीत होता है। देवदत्त के स्वरूप के अतिरिक्त क्रिया पूर्वोक्त स्थल में और कुछ प्रतीत नहीं होती है। देवदत्त देवदत्त-स्वरूप से अभिन्न है। क्रिया के द्वारा केवल देवदत्त का स्वरूप दो देशों में प्रतीत होता है। क्रिया के पूर्व में देवदत्त स्वरूप गृह के किसी देश में उपस्थित है, गमनादि क्रिया के बाद देवदत्त का स्वरूप बाह्य देश में प्रतीत होता है। जैसे देश रूप उपाधि के द्वारा क्रिया उपहित होती है; वैसे ही काल रूप उपाधि के द्वारा भी क्रिया उपहित होती है। इसके दृष्टान्त में कहा जा सकता है कि देवदत्त दिन भर अवस्थान करता है—इस वाक्य में पहले प्रभात काल के द्वारा सम्बद्ध जो देवदत्त का स्वरूप है इसके बाद परवर्त्ती प्रहर काल, मध्याह्न काल इत्यादि के द्वारा आलिंगित देवदत्त का स्वरूप प्रतीत होता है। इस प्रकार आकार रूप उपाधि के द्वारा क्रिया उपहित होती है। इसके दृष्टान्त में कहा जा सकता है कि दूध दही के रूप में परिणत हो रहा है। इस वाक्य में दुग्धावस्था में जो मधुर वस्तु है वही दधि अवस्था में अम्लवस्तु रूप है, दुग्धावस्था में जो द्रवरूप है वही दधि अवस्था में कठिनरूप से प्रतिभासित होता है। इससे यही सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त वाक्य में देवदत्त-पदार्थ-क्षण एवं दुग्धादिरूप-पदार्थ-क्षण तद्देश तत्काल एवं तदाकार रूप में प्रतिभात होता है। इसे छोड़कर गच्छति, चलति, पतति, तिष्ठति, परिणमते आदि कोई शुद्ध क्रिया प्रतीत नहीं होती है। देश काल एवं आकार के द्वारा अनुपहित शुद्ध क्रिया स्वरूप प्रतीति में भासमान नहीं होता है, जो भासमान होता है वह तद्देश रूप में, तत्काल रूप में एवं

तदाकार रूप में देवदत्त का शरीर एवं दुग्धादिरूप पदार्थ क्षण एवं क्षणिक पदार्थ प्रतिभास का विषय होता है।

इह परिस्पन्दरूपं तावत् गच्छति, चलति, पतति,--इत्यादि यत् प्रतिभासगोचरम्, तत्र गृहदेशगतदेवदत्तस्वरूपात् अनन्तरं बाह्यदेशवर्त्ति देवदत्तस्वरूपम्--इत्येतावत् उपलभ्यते, न तु तत्स्वरूपातिरिक्तां काश्चित् अन्यां क्रियां प्रतीमः। देवदत्तो दिनं तिष्ठति इत्यत्र तु प्रभातकालाविष्टदेवदत्तस्वरूपं ततः प्रहरकालालिंगिततत्स्वरूपम्--इत्यादि--भाति, दुग्धं परिणमते, इत्यत्र मधुरवस्तुरूपम् अम्लवस्तुरूपम् द्रव्यरूपं कठिनरूपम् इत्यादि। एवं तद्देशतया तत्कालतया तदाकारतया च भाव एव भाति।

इसमें प्रश्न होता है कि देवदत्त का शरीर एवं दुग्धादि रूप पदार्थ क्षणिक कैसे हो सकता है? कारण, देवदत्तादि, शरीर में कालान्तर में सोऽयम् ( यही पूर्वदृष्ट देवदत्त है )--ऐसी प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी? पदार्थों के क्षणिक होने से पूर्वदृष्ट देवदत्त शरीर के साथ वर्तमान काल में परिदृष्ट देवदत्त का अभेद प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकेगा। इसके उत्तर में बौद्धदार्शनिकों का कहना है कि प्रदर्शित सोऽयम् देवदत्तः इत्यादि प्रत्यभिज्ञा सादृश्य-निबन्धन होती है। वस्तुतः देवदत्तादि पदार्थ क्षणिक होने के कारण प्रतिक्षण भिन्न होने पर भी जैसे सादृश्य मात्र को उपजीवन कर अभिन्न रूप में भासमान होता है वैसे ही सभी पदार्थों के विषय में समझना चाहिये। सादृश्याच्च तत्र प्रत्यभिज्ञा भिन्नेऽपि कायकेशनखादाविव। ( ई० प्र० वि० १,२,६ पृ० ११२ ) इस विषय को दृष्टान्त के द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है जैसे दीपशिखा प्रतिक्षण भिन्न होने पर भी सादृश्य निबन्धन--यह वही दीपशिखा है—प्रत्यभिज्ञा होती है वैसे ही प्रकृत स्थल में भी समझना चाहिये।

प्रतिक्षणं भिन्नापि हि दीपशिखा सादृश्यात्सेयमिति प्रत्यभिज्ञायते। ( ई० प्र० वि० व्या० १,२,६ पृ० ११२ )

इसमें प्रश्न होता है कि एक ही देवदत्त जो कायस्वरूप वस्तु है इसमें देश भेद एवं कालभेद से कैसे भेद हो सकता है? ननु कथमेकस्य देवदत्तकायरूपस्य भावस्य देशकालभेदेन भिन्नत्वं येन भेदप्राणसादृश्यनिमित्तकप्रत्यभिज्ञाविषयत्वं कथयसि इत्यत आह देशाकार इति। ( ई० प्र० वि० व्या १,२,६ पृ० १२२ ) देश एवं काल के

भेद द्वारा वस्तु का स्वरूप भिन्न नहीं हो सकता है। देश एवं काल के भेद से भी वस्तु का स्वरूप एक ही रहना चाहिए। इसलिए बौद्धों ने देवदत्तादि काय को जो प्रत्यभिज्ञा का विषय कहा है वह सर्वथा अनुचित है। कारण, प्रत्यभिज्ञा का कारण है सादृश्य एवं सादृश्य भेदगर्भ होता है। इसलिए बौद्धों ने जो दीपशिखा के दृष्टान्त की अवतारणा की है वह सर्वथा असमीचीन है। इसके उत्तर में बौद्धों का कहना है कि वस्तुओं के देश एवं आकार के भिन्न होने से उसका काल भेद अवश्यम्भावी है। कारण, एक ही व्यक्ति देवदत्त का गृह के अभ्यन्तर एवं गृह के वास देश में युगपत् एक काल में अवस्थान सम्भव नहीं होता है। नहि देवदत्तस्य गृहे बहिश्चावस्थानं युगपत् संभवति, दुग्धादेर्वा दध्याद्यवस्था। ( ई० प्र० वि० व्या० १,२,६ पृ० ११२ )

वस्तुओं के अवस्थान करने का देश भिन्न-भिन्न है। अतः उसका अवस्थान-काल भी भिन्न हो जायगा। एक ही काल में एक वस्तु दो स्थानों में नहीं रह सकती है। ऐसा ही आकार के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। दुग्ध का आकार भिन्न होकर जब दधि रूप आकार अथवा अवस्था को प्राप्त होता है तो इसके द्वारा काल भेद भी अवश्यम्भावी है। कारण, दुग्धावस्था एवं दधि अवस्था एक काल में सम्भव नहीं है। ऐसे ही वस्तुओं के अवस्थान करने का देश एवं काल भिन्न होने पर भी उसका आकार अवश्य भिन्न हो जायगा। देशकालान्यत्वेऽपि अर्थादाकारान्यत्वमवश्यंभावि भवति। ( ई० प्र० वि० १,२,६, पृ० ११२ )

लोकव्यवहार में देखने में आता है कि विशेषण के भेद से ही विशेष्य का भेद होता है। जैसे कमल एक होने पर भी नीलकमल, रक्तकमल ऐसे शब्द प्रयोगों के द्वारा उत्पल का भेद प्रतिपादित किया जाता है।

उत्पल वस्तु स्वरूपतः अभिन्न होने पर भी नील एवं रक्त विशेषण के द्वारा भिन्न हो जाता है। ऐसे ही प्रकृतस्थल में भी समझना चाहिए। तद्देश एवं अतद्देश प्रभृति का जब किसी वस्तु के विशेषण रूप में उल्लेख किया जाता है तब वस्तु का भेद अनिवार्य है। वस्तु के आकार भेद होने से जो काल भेद होता है वह स्पष्टतः अनुभव सिद्ध है। दुग्धावस्था से दधि अवस्था को प्राप्त होना एक

काल में सम्भव नहीं है। दुग्धाकार के दधि के आकार में परिणत होने से काल का भी भेद स्फुटतर प्रतीत हो जायगा। इस तरह वस्तु के काल एवं आकार के भिन्न हो जाने से अवश्य ही देश का भी भेद हो जायगा।

ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी को टीका भास्करी में, काल एवं आकार के भेद होने से देश भेद अवश्य हो जायगा—ऐसा जो कहा गया है इसका दृष्टान्त कुछ भी प्रदर्शित नहीं किया गया है। टीकाकार भास्कर ने काल एवं आकार भेद से अवश्य देश भेद हो जाता है—ऐसा अभ्युपगम मात्र किया है। बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार सभी वस्तुएं क्षणिक हैं। इस स्थिति में काल एवं आकार के भेद द्वारा भी देश का भेद होना सम्भव है। परन्तु इस प्रकार की युक्ति प्रदर्शन करने पर भी भास्कर का पूर्वोक्त कथन अस्पष्ट है। काल एवं आकार लेकर वस्तु का भेद प्रदर्शन करना युक्ति संगत है। देश को भेदक रूप में ग्रहण करने का एक मात्र कारण है उसको विशेषण रूप में ग्रहण करना। देश, काल एवं आकार—इन तीनों के भेद से वस्तुओं का भेद प्रदर्शन करना प्रकृतस्थल में अभिप्रेत है।

समीक्षा करने से देश एवं काल—ये दोनों भी आकार के अव्यभिचारी हैं। इसलिए देश एवं काल आकार के अन्तर्गत है। ऐसी स्थिति में तो एक आकार का ही साम्राज्य मालूम पड़ता है और इससे आकार रूप देश के द्वारा भी सभी वस्तुओं का ग्रहण जब संभव होता है तब मूलकारिका में आदि शब्द के द्वारा देश व्यतिरिक्त काल एवं आकार को पृथक् रूप से क्यों ग्रहण किया गया है। क्रियाप्यर्थस्य कायादेरत्तद्देशादिजाततयान्यान्या दृष्टे ई० प्र० वि० भा०, पृ० १११) निष्कर्ष यह है कि देश, काल एवं आकार को छोड़कर वस्तु का पृथक् रूप भासमान नहीं होता है। जब कोई वस्तु ज्ञान में भासमान होती है तो देश काल एवं आकार के साथ ही। उन तीनों को छोड़कर वस्तु का कोई पृथक् रूप उपलब्ध नहीं होता है। इस विषय को अधिक समीक्षा करने से प्रतीत होता है कि पूर्वोक्त देश एवं काल आकार में अन्तर्भूत है। आकार को छोड़कर देश एवं काल नामक कोई पृथक् वस्तु भासमान नहीं होती है। वस्तु का स्वरूप देश से अतिरिक्त नहीं है। स्वरूप शब्द के द्वारा मूर्त्ति का ग्रहण होता है। एवं काल भेद से पूर्वोक्त

स्वरूप भी भिन्न हो जाता है—यह पहले प्रदर्शन किया जा चुका है और इससे देश, काल एवं आकार–ये तीनों आकार में ही विश्राम लाभ करते हैं। तथापि आपात दृष्टि से देश, काल एवं आकार इन तीनों में भेद प्रतीत होता है। इसलिए बौद्धों ने इन तीनों का भिन्न रूप में उल्लेख किया है।

प्रकृतस्थल में देश का जब ज्ञान होता है तब देश को आकार रूप कहा जाता है। काल निराकार हैं इसलिए काल के साथ आकार का भेद विद्यमान है एवं यही भेद अव्यभिचरित रूप में आकार में ही पर्यवसित होता है। इसलिये सबों के आकार में पर्यवसित होने पर भी इन तीनों का पृथक् रूप से क्यों निर्देश किया गया है यह पहले ही कहा जा चुका है। निष्कर्ष यह हुआ कि प्रत्यक्ष के द्वारा कोई क्रिया उपलब्ध नहीं होती है। जब क्रिया में प्रत्यक्ष ही प्रमाण नहीं है तब प्रत्यक्ष उपजीवी अनुमान के द्वारा भी क्रिया प्रमाणित नहीं हो सकती है।

गमनादि क्रिया का कार्य अथवा फल ग्राम प्राप्ति प्रभृति है। ग्राम प्राप्ति जब अन्यथा उपपन्न नहीं हो सकती है तब अन्यथा ग्राम प्राप्ति की अनुपपत्ति निबन्धन क्रिया की कल्पना की जायगी। यह भी कहना अनुचित है कारण, बौद्ध सिद्धान्त में देश, काल एवं वस्तु सभी क्षणिक देश, काल एवं वस्तु से अतिरिक्त नहीं है। जब सभी क्षणिक है तब इस स्थिति में ग्राम प्राप्ति रूप कार्य के द्वारा पूर्वोक्त युक्ति से क्रिया की कल्पना भी नही हो सकती है। अब यही सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्ष एवं अनुमान के द्वारा क्रिया की सिद्धि नहीं होती है तब उसमें कोई साधक प्रमाण नहीं है। क्रिया उसी को समझना चाहिए जिससे काय एवं दुग्धादि पदार्थों की तत्तद् देश काल आदि में जातता ( उत्पत्ति ) हो। यह जातता ( उत्पत्ति ) तत्तद् देशादि वैशिष्टचगत भिन्न प्रादुर्भाव मात्र है। इसके बाद काय एवं दुग्धादि पदार्थों का पहले जो प्रादुर्भाव हुआ था वह परवर्ती काल में देशादि-वैशिष्टच निबन्धन भिन्न प्रादुर्भाव होता है। प्रादुर्भाव के भेद का कारण है देशादि वैशिष्टच। परन्तु क्रिया के द्वारा काय दुग्धादि पदार्थों की नवीन उत्पत्ति नहीं समझी जाती है। कारण, प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण के द्वारा क्षणिक काय दुग्धादि पदार्थों का नवीन उत्पाद नहीं ज्ञात होता है।

इस प्रकार बौद्धदार्शनिक कहना चाहते हैं कि क्रिया के अस्तित्व में बाधक प्रमाण भी विद्यमान है। क्रिया में जो पौर्वापर्य भासमान होता है ( अर्थात् यह क्रिया पूर्व में हुई, यह पश्चात् ) वह क्रिया क्षण समूहों का विकल्प ज्ञान-निबन्धन अनुसन्धान के कारण समझना चाहिए। क्रिया क्षण के अपने स्वरूप में कोई क्रिया क्षण पूर्व है, कोई क्रियाक्षण परवर्ती है—यह सम्भव नहीं है। धारारूप में वर्तमान क्षण-समूह पौर्वापर्य भाव को स्पर्श नहीं कर अपने वस्तु स्वरूप मात्र में स्थित है। निष्कर्ष यह है कि बौद्ध मत में जब काल ही नहीं है तब कालकृत परत्व अपरत्व क्रिया में भासमान नहीं हो सकता है। क्रिया की पूर्वापरीभूतत्वरूप क्रमरूपका विकल्प के द्वारा अध्यवसित है। इसलिये क्रिया का कोई भी क्षण वस्तु को स्पर्श नहीं कर सकता है। बौद्ध मत में क्षण ही वस्तुभूत है। क्षण सन्तान विकल्प के द्वारा कल्पित है। इसलिये क्रियाक्षण किसी वस्तु को स्पर्श अर्थात् उससे सम्बन्ध नहीं कर सकता है। कारण, पहले ही कहा जा चुका है कि बौद्ध मत में पूर्वापरीभूत क्रमरूप जो क्रियाक्षण सन्तान है वह अवस्तु है।

यह अनुभव सिद्ध है कि विकल्प के द्वारा सिद्ध अपारमार्थिक वस्तु द्वय में परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता है। अगर हो, तब तो विकल्प के द्वारा कल्पित चन्द्रमा के साथ वस्तुभूत चन्द्रत्व का सम्बन्ध हो जायगा। क्रियाक्षण भी वस्तुओं का स्पर्श नहीं कर सकता है—यह जो कहा इसके अनुकूल युक्तियां प्रदर्शित की जा रही हैं। पूर्वोक्त क्रिया—क्षण-समूह परस्पर तत्तत् स्वरूप के साथ संबद्ध नहीं हो सकता है। कारण, प्रत्येक क्रियाक्षण अपने काल मात्र में ही अवस्थान करता है ऐसा स्वीकार नहीं करने से तो क्रियाक्षण का क्षणिकत्व ही सिद्ध नहीं होगा। इसलिये एक क्षण-सन्तति-रूप क्रिया संभव नहीं है। परस्पर असंबद्ध क्रियाक्षण को लेकर क्षण-सन्ततिरूप एक क्रिया कैसे हो सकती है? क्रियाक्षण सन्तति के द्वारा एकत्व व्यवहार कराने के लिये क्रियाक्षण स्वरूप का श्लेष स्वीकार अनिवार्य है। परन्तु प्रत्येक क्रियाक्षण के अपने काल मात्र में अवस्थित होने के कारण परस्पर स्वरूप का श्लेष संभव नहीं है यह पहले कहा जा चुका है। इस प्रकार से बौद्ध दार्शनिक क्रिया में एकत्व का प्रत्याख्यान कर तथा सिद्धान्ती द्वारा स्वीकृत क्रिया में एकत्व का आश्रयण कर क्रिया में जो क्रम संभव नहीं है उसे प्रदर्शन

कर रहे हैं। क्रिया एक भी नहीं हो सकती है, क्रमिक भी नहीं हो सकती है। कारण, जहाँ जहाँ क्रम रहेगा वहाँ वहाँ भेद रहेगा। एक अभिन्न वस्तु में क्रम संभावित नहीं है। क्रम व्याप्य है, भेद व्यापक है। जहाँ जहाँ क्रम है वहाँ वहाँ भेद अवश्य रहेगा। अभिन्न वस्तु में क्रम संभावित नहीं है। कारण, अभिन्न वस्तु में व्यापक भेद का अभाव है। और व्यापक का अभाव होने से व्याप्त क्रम का भी अभाव हो जायगा। व्यापक का अभाव रहने से व्याप्य की सत्ता संभव नहीं हो सकती है। भेद का विरुद्ध ऐक्य है। इसलिये पूर्वसिद्धान्ती किस प्रकार से क्रिया में एकत्व एवं क्रमित्व को स्वीकार कर सकते हैं। एक है, क्रमिक है--यह कहना परस्पर विरुद्ध कथन है।

अगर सिद्धान्ती कहना चाहे कि क्रिया को एक कहने का तात्पर्य है एक ही आश्रय में क्रमिक क्रिया-समूह अवस्थान करता है। एकाश्रयत्व-निबन्धन क्रिया में एकत्व स्वीकार किया जाता है। इसके समाधान में पूर्वपक्षी बौद्ध कहना चाहते हैं कि एकाश्रय जो कहा गया है उसमें भी पूर्वोक्त क्रियाक्षण समूह से अतिरिक्त कोई आश्रय अनुभूत नहीं होता है। कारण, क्षण समुदाय ही अविच्छिन्न रूप में अवस्थान करता है--यही भासमान होता है। प्रबन्ध ( अविच्छिन्न ) वृत्त क्षण राशि को छोड़कर उससे अतिरिक्त आश्रय-रूप में किसी का ज्ञान नहीं होता है। प्रबन्धवृत्त क्षण समूह को छोड़कर क्षणसन्तति रूप क्रिया स्वरूप का पृथक् ज्ञान अनुभव सिद्ध नहीं है।

परस्पर भिन्न देश, काल एवं आकार का स्वरूप क्रिया क्षण समूह है। जब यही स्थिति है तब भिन्न देश, काल आकार तद्रूप क्रियाक्षण समूह के द्वारा अवशिष्ट देवदत्त कायादिरूप आश्रय कैसे एक हो सकता है ? इसलिए देवदत्तादि काय को क्रिया का आश्रय मानकर देवदत्तादि काय के एकत्व निबन्धन क्रिया में एकत्व स्वीकार करना सर्वथा अनुचित है। इसलिए यही सिद्ध हुआ कि यह देवदत्त है, उसी देवदत्त ने ग्राम की प्राप्ति की है--यह प्रत्य-भिज्ञा प्रत्यक्ष सादृश्य निबन्धन है। इसके द्वारा देवदत्तादिकाय का वास्तविक ( परमार्थगत ) ऐक्य सिद्ध नहीं हो सकता है। देवदत्तादि शरीर के काय, केश, नखादि के भिन्न होने पर भी जैसे देवदत्तादि

शरीर में सादृश्य निबन्धन प्रत्यभिज्ञा होती है वैसे ही प्रकृतिस्थल में समझना चाहिए। यह देवदत्त है, उसी ने ग्राम की प्राप्ति की है ·····ऐसी प्रत्यभिज्ञा के द्वारा देवदत्त शरीर का परमार्थ ऐक्य सिद्ध नहीं हो सकता है। यह बौद्ध दार्शनिकों का कथन है।

इस प्रकार ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी में बौद्ध दार्शनिकों के मतानुसार क्रिया का खण्डन किया है। क्रिया के स्वरूप का वर्णन भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय ग्रन्थ के तृतीयकाण्ड में विस्तृत रूप से किया है। अभिनवगुप्तपाद ने भी ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृत्ति विमर्शिनी ग्रन्थ में वाक्यपदीयकार की कारिका का उल्लेख कर व्याकरण सिद्धान्तानुसार क्रिया का स्वरूप प्रतिपादन किया है। इस प्रसंग में अभिनवगुप्तपाद ने जिन युक्तियों की अवतारणा की है उसका विस्तृत आशय इस प्रकार है। प्रकृत में वाक्यपदीय के आशय को प्रदर्शित नहीं करने से प्रकृत में क्रिया स्वरूप प्रतिपादन का प्रयास असम्पूर्ण रह जायगा।

प्रश्न होता है कि शैव दर्शन में आत्मस्वरूप परमशिव में क्रिया शक्ति स्वीकार की गई है, परन्तु आत्मा में क्रिया संभावित नहीं है। लोकव्यवहार में जो चलन रूप क्रिया है उसी का पदार्थवित् प्रशस्तपाद प्रभृति वैशेषिक दार्शनिकों ने कर्म पदार्थ नाम से उल्लेख क्रिया है। आत्मा अमूर्त्त है और क्रिया मूर्त्त को ही अनुविधान करती हैं—अर्थात् जहाँ जहाँ मूर्त्त वस्तु है उसी में क्रिया हो सकती है। जो मूर्त्त नहीं नहीं है उसमें क्रिया सम्भव नहीं है। प्रदर्शित अन्वयव्यतिरेक के द्वारा सिद्ध है कि आत्मा मूर्त्तिहीन है इसलिए उसमें क्रिया भी सम्भव नहीं है। यह वैशेषिकों का सिद्धान्त है। वैशेषिकों ने आत्मा में ज्ञान चिकीर्षा एवं यत्न स्वीकार कर आत्मा का कर्तृत्व स्थापित किया है। प्रदर्शित ज्ञान, इच्छा और यत्न गुण हैं—ये समवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहते है। पूर्वोक्त ज्ञान, इच्छा, कृति, गुण एवं उसका समवाय क्रिया नहीं है। इसलिए इस प्रकार क्रिया निर्वचन करना चाहिए जो आत्मा में संभावित है। तभी शैव दार्शनिकों के लिए, क्रियाशक्ति को आत्म-स्वरूप परमेश्वर में मानना उचित होगा। इसलिए पहले ही अभिनवगुप्तपाद प्रत्यभिज्ञा विवृत्ति विमर्शिनी में वाक्यपदीय मतानुसार क्रिया स्वरूप का प्रतिपादन कर रहे हैं।

यदिवा तत्रेति आत्मनि क्रिया। सा तावत् लौकिकी चलन कर्म-पदार्थत्वेन पदार्थविद्भिरूपगता न भवति आत्मनो मूर्त्तिहीनस्य मूर्त्यनुविधायिनी सा नोपगता यतः तर्हि आत्मनो ज्ञानचिकीर्षा-यत्नयोगे एव कर्तृत्वं प्रसाधितम्, ज्ञानादयश्च गुणाश्च तत्समवायश्च न क्रियेति तादृशी क्रियावक्तव्या, या आत्मनि संभाव्यते।

( ई० प्र० वि० पृ० १८३–१८४ खण्ड–१ )

लोग कहते हैं कि क्रिया फलसिद्धि का हेतु है। पाकादि क्रिया द्वारा तण्डुल का विक्लित्तिरूप फल निष्पन्न होता है। उस क्रिया का निमित्त है कारक। निष्कर्ष यह है कि कारक अथवा कर्त्ता में समवायी–कारक अथवा कर्तृ स्वरूप जो व्यापार है वही क्रिया का स्वरूप है। इसी क्रिया के सम्बन्धी अनेक भाग है। यही भाग समूह पूर्वापरीभूत होकर विद्यमान है। पूर्वापरीभूत कहने का तात्पर्य यही है कि उसी भाव में क्रम विद्यमान है। पौर्वापर्य रहने से ही क्रम आ जायगा। क्रिया के सम्बन्धी भाग में पौवापर्य स्वीकार करने का तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त भाग में क्रम विद्यमान है।

कारकस्य फलसिद्धिहेतुभूतक्रियानिमित्तस्य स्वक्रियापेक्षया वा कर्त्तुः सम्बन्धी तत्समवायी तदात्मा वा व्यापारो रूपं लक्षणं यस्याः, सा क्रिया यस्याः संबन्धिनो भागाः पूर्वापरीभूताः इति यावत्।

( ई० प्र० वि० वि० पृ० १८४ )

अभिनवगुप्त ने वाक्यपदीय की कारिका टीका का उल्लेख कर क्रिया का स्वरूप प्रतिपादित किया है। वाक्यपदीय की क्रियास्वरूप प्रतिपादक प्रथम एवं द्वितीय कारका इस प्रकार हैं––

यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते।
आश्रितक्रमरूपत्वात्तत्क्रियेति प्रतीयते॥
गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्धयां प्रकल्प्यताभेदः क्रियेतिव्यपदिश्यते॥

( ई० प्र० वि० वि० पृ० १८४ )

इन कारिकाओं का व्याख्यान हेलाराज प्रभृति प्राचीन वैयाकरणों के सम्प्रदाय में विस्तृत रूप से किया है एवं नवीन वैयाकरणों में भट्टोजीदीक्षित, कौण्डभट्ट, नागेश भट्ट प्रभृति ने प्रदर्शिता किया है। नागेश भट्ट ने अपने लघुमंजूषा ग्रन्थ में पूर्वोक्त कारिकाओं का

व्याख्यान किया है। यह व्याख्यान हेलाराज के व्याख्यान का संक्षेप है। बौद्ध सौकर्य के लिये सब से पहले नागेश भट्ट की लघुमंजूषा में प्रदर्शित इन कारिकाओं के व्याख्यान का आशय प्रदर्शित करेंगे। नागेश भट्ट ने कहा है कि सभी कारिकाओं का धातु के अर्थ में सम्बन्ध होता है और धातु का अर्थ ही क्रिया है। किसी के सम्बन्ध में अगर प्रश्न किया जाय कि करोति ? ( क्या करता है ) इसका उत्तर है पचति अर्थात् पाक कर रहा है। परन्तु पूर्वप्रश्न के उत्तर में अस्ति–है, यह उत्तर नहीं दिया जाता है। प्रश्न था–क्या करता है। कर्त्ता के आशय के मालूम पड़ता है कि किसी क्रिया द्वारा ही इसका उत्तर चाहते हैं एवं पहले उत्तर में पचति—इस क्रिया पद के द्वारा उत्तर दिया गया है। परन्तु पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर अस्ति पद द्वारा नहीं दिया जाता है, इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अस्ति पद क्रिया का वाचक नहीं है। अगर होता तो पचति के समान अस्ति पद द्वारा भी उत्तर दिया जाता। परन्तु कहीं भी किं करोति प्रश्न के उत्तर में अस्ति नहीं कहा जाता है। तब तो इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि पचति क्रिया है और अस्ति पद क्रिया का प्रतिपादक नहीं है। इस समस्या का समाधान करने के लिये वाक्यपदीयकार "यावत् सिद्धमसिद्धं वा" इस कारिका की अवतारणा कर रहे हैं। क्रमरूप पौर्वापर्य को आश्रयण कर साध्य = निष्पाद्य रूप में विवक्षित अर्थ ही क्रिया है। प्रश्न होता है कि घटः क्रियते—इस वाक्य में तो घट सिद्ध अर्थात् परिनिष्पन्न वस्तु रूप में प्रसिद्ध है, परन्तु इस वाक्यार्थ का अनुसन्धान करने से घट का भी साध्यत्व विवक्षित प्रतीत होता है। इसका समाधान क्या है ? इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहना चाहते हैं कि पूर्वोक्त वाक्य में क्रिया द्वारा ही घट का साध्यत्व समझना चाहिए। केवल घट पद से घट का साध्यत्व प्रतीत नहीं होता है, परन्तु क्रियते पद स्वतः साध्यत्व की प्रतीति कराता है। इस तरह साध्यवाचकत्व अर्थात् क्रियावाचकत्व पूर्वोक्त अस्ति प्रभृति पद में भी विद्यमान है। इसलिए अस्ति प्रभृति में भी क्रियावाचकत्व रहने के कारण, वही क्रियावाचकत्व अस्ति प्रभृति में साध्यरूपता का प्रतिपादन करेगा।

क्रमरूपं पौर्वापर्यमाश्रित्य साध्यत्वेन विवक्षितोऽर्थः क्रियते। घटः क्रियते इत्यत्रापि क्रियाद्वारेण घटस्य साध्यत्वम्। नहि घट इत्येता-

वन्मात्रात्साध्यत्वं प्रतीयते। क्रियते इत्येतत्तु स्वत एव साध्यत्वं गमयतीति तदेव क्रियावाचकत्वमस्त्यादावपि साधयिष्यतीति।

ल० म० पृ० ५४६ ( चौ० )

पाक क्रिया में अधिश्रयण से लेकर अधःस्थापन पर्यन्त जो व्यापारों का समूह है वह क्रमिक रूप से उत्पन्न होता है। इस क्रमिक उत्पन्न व्यापार समूह—अर्थात् समुदाय के प्रति अधिश्रयणादि उसके अवयव हैं। वह अधिश्रयणत्व, फूत्कारत्व आदि धर्म-विशिष्टरूप से भासित होता है। एतादृश धर्म विशिष्ट अवयवों के द्वारा युक्त समूह में संकलनात्मिका जो एकत्व बुद्धि है उसके द्वारा अभेद की कल्पना की जाती है। पूर्वोक्त समूह जिसमें संकलनात्मिका एकत्व बुद्धि के द्वारा अभेद का आरोप किया जाता है—उसी को क्रिया कहा जाता है। प्रकृत प्रसंग में जो पौर्वापर्य कहा गया वह अवयव को लेकर समझना चाहिये। पौर्वापर्य अवयव में एवं एकत्व समुदाय में आश्रित है। इससे कहना चाहते हैं कि क्रिया काल रूप है—

'कालमन्ये क्रियामाहुः' इति मते क्रियायाः कालरूपत्वात्।

( ल० म० कु० टी पृ० ५४६ )

इस स्थिति में पूर्वापरीभूत क्षण का समूह युगपत् सन्निहित नहीं हो सकता है और इसके फलस्वरूप महाभाष्यकार ने क्रिया एक है का जो सिद्धान्त दिया वह समीचीन नहीं है। क्रिया जब काल रूप है, अर्थात् पौर्वापर्य-विशिष्ट-क्षणसमूह जब क्रिया है तो वह युगपत् कैसे सन्निहित हो सकता है? पूर्वापरीभूत भी है और युगपत् भी है—यह कहना तो विरुद्ध है। अतएव भाष्यकार का एक-क्रिया-सिद्धान्त असमीचीन है—यह जो कहना चाहते हैं उनका मत निरस्त हो गया है। कारण, पहले कहा जा चुका है कि क्रिया में जो पौर्वापर्य भासमान होता है वह अवयव में आश्रित है एवं अवयव समुदाय में एकत्व आश्रित है और इसलिए एक क्रिया है—यह जो भाष्यकार ने कहा है इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है।

यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते।
आश्रितक्रमरूपत्वात्सा क्रियेत्यभिधीयते॥
गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते॥

पूर्वादिसूत्रस्य भावनार्थप्रतिपादकहरिग्रन्थात्।

क्रम-जन्मनामेषां व्यापाराणां समूहं प्रति गुणभूतैस्तत्तद्रूपेण भासमानेरवयवैर्युक्तः संकलनात्मिकयैकत्वबुद्धया प्रकल्पिताभेदरूपः समूहः क्रियेति व्यपदिश्यते इति द्वितीयकारिकार्थः। अत्रावयवत्रयं पौर्वापर्य समुदायात्रयमेकत्वम्। एतेन पूर्वापरीभूतक्षणसमूहस्य युगवदसन्निधानादेका क्रियेतिभाष्यासंगतिरित्यपास्तम्।

( ल० म० पृ० ५४४–५४५ )

निष्कर्ष यह है कि क्रमिक उत्पन्न व्यापारों के समूह में बुद्धि द्वारा कल्पित ( आरोपित ) एकत्व को आश्रयकर क्रिया में एकत्व व्यवहार होता है। ( क्रमिकाणां व्यापाराणां समूहे बुद्धिकल्पितमेकत्वमाश्रित्यैकत्वव्यवहार इत्यर्थः। (ल० म० कु०टी० पृ० ५४६)

अवयव-समूह क्षण विनाशी है। इसलिए क्षणिक अवयव समूहों का समुदाय वस्तुभूत नहीं हो सकता है। क्षण नश्वर अवयव के द्वारा जो समुदाय उत्पन्न होगा वह किसी प्रकार से वास्तविक नहीं हो सकता है। इस आशय से भर्तृहरि ने, 'बुद्धया प्रकल्पिताभेदः' — कहा है। पचति, पक्ष्यति इत्यादि स्थल में क्रिया असिद्ध अपरिनिष्पन्न है। अपाक्षीत् इत्यादि स्थल में सिद्ध अर्थात् परिनिष्पन्न है। वस्तु सिद्ध हो या असिद्ध वह जब साध्य स्वरूप में अभिधीयमान होता है तभी उसे क्रिया कहा जाता है हरि-कारिका में जो आश्रितक्रमरूपत्वात् कहा गया है इसके द्वारा क्रिया शब्द का अर्थ प्रतिपादन किया गया है। ( क्षणनश्वराणामवयवानां वस्तुभूतसमुदायाभावाद् बुद्धयेत्युक्तम्। पचति पक्ष्यतीत्यादावसिद्धम्, अपाक्षीदित्यादौ सिद्धं वा साध्यत्वेन तत्प्रकारेणाभिधीयमानं क्रिया। )

( ल० म० पृ० ५४५ )

सिद्धमसिद्धं वा वस्तु साध्यस्वरूपेणाभिधीयमानं क्रियेत्यर्थः।

( ल० म० कु० टी० पृ० ५४६ )

कारण, आश्रित शब्द का अर्थ है जिसने आश्रय ग्रहण किया है। कर्त्ता है इसलिये क्रिया है। सभी धात्वर्थ रूप क्रिया में कृ धातु का जो अर्थ है उसका अनुवेध रहता है।

( आश्रितेति योगप्रदर्शनं क्रियते अवयवानां क्रमेणोत्पत्त्या। अतएवाश्रितक्रमरूपा क्रियेत्याद्यार्थः। ) ( ल० म० पृ० ५४५ )

अब प्रश्न होता है कि व्यापार समुदाय का तो कारण बनना असम्भव है। कारण, अवयव रूप समुदायी क्षणिक है। कारण को

कार्य के अव्यवहित प्राक्काल में रहना चाहिए। क्षणिक समुदायी व्यापार समुदाय का कारण कैसे हो सकता है? व्यापार समुदाय को ही क्रिया कहा गया है। इसके उत्तर में नागेश ने कहा है कि अवयव क्रमिक उत्पन्न होता है। अवयव को द्वार कर समुदाय उत्पाद्य होता है। अवयव की क्रमिक उत्पत्ति के द्वारा जो किया जाता है उसे क्रिया का हेतु कहा गया है। अवयवों की क्रमिक उत्पत्ति रूप क्रिया के द्वारा कृ धात्वर्थ का अनुवेधप्रदर्शन किया गया है। भर्तृहरि ने, क्रिया आश्रित क्रमरूपता है जो कहा है उसका अर्थ सुसंगत होता है। ( कारिकायामाश्रितक्रमरूपत्वादित्येतत् क्रिया-शब्दार्थकथनमित्यर्थः। तथा च क्रियते इति क्रियेत्यर्थः। ननु व्यापार-समुदायस्य कारणासम्भव इत्यत आह अवयवानां क्रमेणोत्पत्येति। क्रियते इत्यस्य हेतुकथनमेतत्। अवयवद्वारकं समुदायस्योत्पाद्यत्व-मिति भावः। ) ( ल० म० कु० टी०, पृ० ५४६ )

प्रश्न होता है कि व्यापार का समुदाय अगर क्रिया है तब तो अधिश्रयणादि एकैक पृथक् व्यापार को क्रिया नहीं कहा जा सकता है। कारण, सिद्धान्ती के मत में तो व्यापार समुदाय क्रिया है। एक तो समुदाय नहीं है और इसका फल यही होगा कि अधिश्रयणादि एकैक व्यापार में स्थाली पचति का प्रयोग नहीं किया जा सकेगा। इसके उत्तर में नागेश ने कहा है कि एकैक अवयव में भी व्यापार समूह का आरोप किया जाता है। इससे अधिश्रयण ( चूल्हा पर स्थापित ) काल में भी पचति—पाक कर रहा है—यह व्यवहार उपपन्न हो जायेगा।

( एकैकावयवेऽपि समूहरूपारोपादधिश्रयणकालेऽपि पचतीति व्यवहारः। ) ( ल० म० पृ० ५४५ )

कारण, स्वयं भर्तृहरि ने भी कहा है कि व्यापार का समूह क्रमिक है और यह समह-समूही के प्रत्येक भेद में परिसमाप्त है। इसलिये प्रत्येक समूही का परस्पर भेद काल भेद का कारण है।

इसका निगढ़ आशय प्रकाशित करने के लिये लघुमंजूषा की कुञ्जिका टीका में कहा गया है कि अधिश्रयण के आरम्भ में ही विक्लित्तिरूप फल की अभिसंधि रहती है। इसलिए सभी क्रिया-कलाप-अधिश्रयण में अध्यास आरोपित किया जाता है। अधिश्रयण

का जब भूतत्व विवक्षित होता है तब अपाक्षीत् प्रभृति प्रयोग होता है।

तात्पर्य यह है कि क्रिया स्वरूप के प्रतिपादन प्रसंग में जो एकत्व कहा गया है वह एकत्व समुदाय बुद्धि निबन्धन नहीं है। यह एक है--इस प्रकार की समुच्चयबुद्धि निबन्धन भी एकत्व नहीं है। पूर्वापरीभूत अवयव को लेकर ही एकत्व समझना चाहिए। इससे यही सिद्ध होता है कि समुदाय का भी प्रत्येक अवयव में जब अध्यास किया जाता है तब प्रत्येक अवयव में समुदाय की प्रतीति उपपन्न होती है। प्रत्येक अवयव में क्रिया का व्यवहार उपपन्न होता है। ( क्रिया तदाधिश्रयणाद्येकैकव्यापारस्य ननु यदि व्यापार-समुदायः क्रियात्वानापत्तौ स्थाली पचति इति प्रयोगानापत्तिरत आह एकैकावयवेऽपीति तदुक्तं हरिणा

समहः स तथाभूतः प्रतिभेदं समूहिषु।
समाप्यते ततो भेदा कालभेदस्य हेतवः॥

( ल० म० कु० टी०, पृ० ५४६ )

इसलिए भर्तृहरि ने कहा है कि व्यापार समूहों को एक देश ( अवयव ) अथवा समूह में पचादि का स्वभावतः व्यवहार होता है। इसका कारण है तुल्यरूपता। यद्यपि हिंसार्थक हन् धातु से गत्यर्थ हन् धातु भिन्न है, ( हन् हिंसागत्योः--पाणिनीय धातुपाठ में हन् धातु का हिंसा एवं गति दोनों अर्थ कहा गया है। हन् धातु का गतिरूप अर्थ ग्रहण कर जब प्रयोग होता है तब आलंकारिक लोग उसमें दोष का उदभावन करते हैं। तथापि दोनों में सादृश्य निबन्धन ऐक्य ज्ञान है। इस प्रसंग में यह ध्यान रखना चाहिए कि अर्थ के भेद होने से शब्द का भेद हो जाता है। यह विषय अलंकार शास्त्र में श्लेषालंकार के स्वरूप प्रतिपादन प्रसंग में विस्तृत रूप से पर्यालोचित हुआ है।

इस स्थिति में भी एक ही हन् धातु उभय अर्थ का वाचक है--यही समझना चाहिए। दोनों हन् धातु में एकाकार-ज्ञान के अबाधित होने के कारण एक ही हन् धातु समझना चाहिए। प्रश्न होता है कि प्रकृतस्थल में हन् धातु के अनेकार्थक होने के कारण एकाकार ज्ञान कैसे हो सकता है? अनेक अर्थत्व एकाकार ज्ञान का बाधक है। अर्थ भेद से शब्द भेद शिष्ट-पुरुषों द्वारा स्वीकृत है--ऐसा

कहना उचित नहीं हैं। धातु की जो शक्ति है उसी का भेद स्वीकार करना उचित है। जैसे अक्ष शब्द एक होने पर भी अनेक अर्थों का प्रतिपादक-शक्ति-विशिष्ट स्वीकार किया जाता है, वैसे ही पच् धातु प्रभृति में भी समझना चाहिए। अर्थ भेद के द्वारा शक्ति-भेद-स्वीकार अनुभव सिद्ध है और इसलिए पच्यते तण्डुलः स्वयमेव—इस स्थल में विकल्पित पच् धातु का अर्थ है। स्थाली पचति, इस स्थल में स्थाली का अधिश्रयण पच् धातु का अर्थ है। पहले यह तुल्य रूप कहा गया है—इसका अर्थ है तुल्य अर्थात् अभिन्न स्वभाव द्वारा युक्त। इसलिए यह धातु-समूह परस्पर अभिन्न है। स्वभाव अभिन्न होने से वस्तुओं का अभेद युक्तिसिद्ध है। (अर्थ भावः—अधिश्रयणारम्भ एव फलामित्यन्ये; समस्त-क्रियाकलापस्तत्रैवाध्यस्यते। तस्यैव च भूतत्वादिविवक्षायाममाक्षीदित्वादयोऽपि प्रयोगाः। तथाभूतः गुणभूतः क्रमजन्यः। अयं भावः न समुदायबुद्धचा एकत्वम्, नापि—अथं चार्थ च इति समुच्यबुद्धचा एकत्वम्। किन्तु पूर्वापरीभूतावयवत्वेनैव तथा च समुदायस्य प्रत्येकावयवेऽप्यध्यासात्तत्प्रत्ययोपपत्तिः।

अत एवोक्तं हरिणा—

एकदेशे समूहे वा व्यापाराणां पचादयः।
स्वभावतः प्रवर्तन्ते तुल्यरूपं समाश्रिताः॥

यद्यपि हिंसार्थको हन्धातुर्भिन्नः, गत्यर्थको भिन्नः सादृश्यात्तु ऐक्यप्रत्ययः तथाऽपि—

एकमाहुरनेकार्थशब्दमन्ये परीक्षकाः।

इति न्यायेन एक एव हन्धातुरुभयार्थकः। अबाधितेकाकार-प्रत्ययात्। अनेकार्थत्वमेव बाधकमिति चेन्न। शक्तिभेदस्यैव न्याय्यत्वात्। यथा एकोऽप्यक्षशब्दो नेकार्थप्रतिपादकशक्तिर्दृष्टस्तथा पच्यादिरपि। तथा हि पच्यते तण्डुलः स्वयमेव इत्यत्र विक्लितिरेव पच्यर्थः स्थाली पचति इत्यत्र तदाश्रयणमेव तुल्यरूपमित्यस्य तुल्यताभिन्नेन स्वभावेन युक्ता एते धातवो भिन्ना एवेत्यर्थः।

(ल० म० पृ० ५४५)

प्रश्न होता है कि पहले जो अध्यास कहा गया है उसका बीज क्या है? इसके उत्तर में कहा जाता है कि सर्वत्र अधिश्रयणादि में पचति—यह ज्ञान अनुवृत्त होता है। इसलिए प्रत्येक अवयव में

अपरिसमाप्त जो समुदाय है उसके अवयव में अध्यास ही स्वीकार करना उचित है। पचति—यह ज्ञान वस्तुतः प्रत्येक समुदायी में विद्यमान नहीं रह सकता है। तथापि प्रत्येक अवयवी में पचति—यह जो ज्ञान होता है इसे अध्यास छोड़कर और क्या कहा जायगा? इसमें अब प्रश्न होता है कि अधिश्रयणादि में क्रियात्व जब आरोपित है, तब उसका जो कर्त्ता है उसके अनुसार अधिश्रयणादि क्रिया के कर्त्ता में लकार होगा। लकार के द्वारा अधिश्रयणादि क्रिया के कर्त्ता का अभिहित होना तो उचित नहीं है। कारण, अधिश्रयणादि की क्रियारूपता तो आरोपित है। इसका उत्तर यह है कि आध्यासिक ज्ञान के द्वारा विषयीकृत जो क्रिया है उसी के साथ आख्यात तिङ् (तिङ्—तिप्, तस् शब्द प्रभृति अठारह प्रत्यय को तिङ् शब्द के द्वारा ग्रहण किया जाता है।) प्रत्यय का सम्बन्ध होगा। इससे अधिश्रयणादि क्रिया के आरोपित होने पर भी उसमें कर्तृवाच्य में लकार (संस्कृत व्याकरण में लट्, लोट् इत्यादि दस प्रकार के लकार कहे गये हैं। इसमें लेट् लकार का वेद में ही प्रयोग होता है।) उत्पन्न हो जायगा। शंका होती है कि अधिश्रयणादि में आरोपित धात्वर्थ क्रियात्व स्वीकार करने से उस स्थल में धात्वर्थ रूप क्रियात्व का गौणत्व स्वीकार करना पड़ेगा। इससे धात्वर्थ का प्राधान्य नहीं रहेगा। व्याकरण-सिद्धान्तानुसार वाक्यार्थ बोध में धात्वर्थ विशेष्य रूप में भासमान होता है। उसे अगर आरोपित कहा जाय तब आरोप निबन्धन गौणत्व हो जायगा। इससे वैयाकरणों के मत में अपसिद्धान्त की आपत्ति हो जायगी। इसके उत्तर में वैयाकरण कहना चाहते हैं कि धात्वर्थ से अतिरिक्त अगर कोई मुख्यार्थ प्रसिद्ध रहे तभी धात्वर्थ में गौणत्व की आपत्ति संभव हो सकती है। कारण, गौणत्व मुख्यत्व की अपेक्षा करता है। गौण-मुख्य-व्यवहार परस्पर सापेक्ष है। प्रकृत स्थल में क्रिया रूप धात्वर्थ के अतिरिक्त और कोई मुख्यार्थ प्रसिद्ध नहीं है। इसलिए उसमें गौणत्व की संभावना नहीं है। मुख्य नहीं रहने से गौणत्व संभावना असंभव है। वस्तुतः यह समाधान समीचीन नहीं मालूम पड़ता है। कारण, अवयवगत पौर्वापर्य का समुदाय रूप क्रिया में आरोप किया जाता है—यह पहले ही कहा जा चुका है। इसलिए क्रिया में गौणत्व की आपत्ति रह ही जायगी। इसलिए प्रकारान्तर में समाधान कर रहे हैं।

पूर्व प्रदर्शित क्रिया को कुछ व्याकरण-सम्प्रदाय के आचार्य

जातिरूप में स्वीकार करते हैं। जहाँ अनुगत ज्ञान है वहीं जाति को स्वीकार किया जाता है। प्रकृतस्थल में भी पचति पचति—यही एकाकार ज्ञान होता है। इसलिए पचति पचति में विद्यमान जो जाति है वही पच् धातु का अर्थ तथा क्रिया है। जाति के असाध्य ( अनिष्पाद्य ) होने पर भी व्यक्ति रूप में साध्य (निष्पाद्य) हो सकता है। इसीलिए कहा गया है कि व्यक्तिरूप में जातिरूप क्रिया साध्य रूप में प्रतिभात होती है। जैसे व्याकरण सिद्धान्त में स्फोट क्रमिक वर्ण के द्वारा अभिव्यक्त होता है वैसे ही क्रमिक क्रिया क्षण समूह के द्वारा क्रिया की अभिव्यक्ति होती है। इसमें प्रश्न होता है कि पचति प्रभृति क्रिया का जो विक्लित्तिरूप फल है वह क्रिया में अन्तर्भूत है, परन्तु उसमें क्रिया में जैसे पौर्वापर्य भासमान होता है ऐसे फल में तो पौर्वापर्य भासमान नहीं होता, तो वह फल कैसे क्रिया में अन्तर्भूत होगा ? इसके उत्तर में कहा गया है कि विक्लित्ति फल में विक्लित्ति जनक व्यापार में जो पौर्वापर्य वही आरोपित होता है और इसमें भी क्रिया रूप में भासमान होता है पच्यते तण्डुलः स्वयमेव—इत्यादि प्रयोग से स्पष्ट प्रतीत होता है कि विक्लित्ति रूप फल भी क्रिया रूप है। विक्लित्तिरूप फल का वाचक पच्यते—पद में क्रिया वाचकत्व रूप धातुत्व सिद्ध होता है। इसका कारण पूर्वोक्त आरोप है।

( एकैकावयवेऽपि समूहरूपारोपादधिश्रयणकालेऽपि पचतीति व्यवहारः। आरोपे च प्रतीतिरेव बलम्। अध्यासगृहीतयैव क्रियाख्यातस्य सम्बन्धग्रहो बोध्यः। न चैवं धात्वर्थस्य गौणत्वापत्तिः। तदतिरिक्तमुख्यार्थाप्रसिद्धया तस्य गौणत्वाभावात्। अस्य हि मुख्योऽन्योऽर्थोऽस्ति तत्रैवेदृशस्य गौणत्वात्।

यद्वा तादृशानेकव्यक्तिवृत्तिजातिरेव क्रिया व्यक्तिद्वारकं च तस्याः साध्यत्वम्। स्फोटवदस्याः क्रमवद्भिरपि क्रियाक्षणैरभिव्यक्तिः। फलस्यापि स्वजनकव्यापारगतपौर्वापर्यारोपेण तथैव भानम्। अत एव तन्मात्रवाचकस्य धातुत्वसिद्धिः। ( ल० म० पृ० ५४५ )

जातिमन्ये क्रियामाहुरनेकव्यक्तिवर्त्तिनीम्।
असाध्या व्यक्तिरूपेण सा साध्यैवोपलक्ष्यते॥

अनुगतप्रतीतिरेव जातिसाधिका। इहापि कर्तृकर्मपदादपि पचतीत्येकाकारप्रतीतिदर्शनात्तद्गता जातिरेव धातुवाच्या। अनेकव्यक्तिवर्तिनीमित्यनेन जातित्वं दर्शितम्। ( ल० म० पृ० ५४८ )

## वाक्यपदीय के अनुसार कालशक्ति निरूपण

अब भर्तृहरि अद्वैतवाद के अनुसार भी, काल का उपयोग पदार्थ समूहों के लिए कैसे होता है—इस विषय का प्रतिपादन कर रहे हैं। वाक्यपदीय के सम्बन्ध-समूद्देश प्रकरण में भर्तृहरि ने कहा है कि ब्रह्म का विवर्तरूप विश्व क्रम रहित होने पर भी जो क्रम रूप में प्रतीत होता है उसी क्रम से अवभासन को ही काल शक्ति द्वारा कृत पूर्वोक्त प्रतिबन्ध एवं अभ्यनुज्ञा का सामर्थ्य समझना चाहिए। वह जीवात्मा में क्रम का अवभास कराकर साफल्य लाभ करती है। इस विषय का वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में विशेष रूप से निश्चय किया गया है। काल का प्रथम व्यापार क्रमावभास है। क्रमावभास में ही काल का प्रथम व्यापार परिस्फुटित होता है।

निर्भासोपगमो यौऽयं क्रमवानिव दृश्यते।
अक्रमस्यापि विश्वस्य तत् कालस्य विचेष्टितम् ॥ ४१ ॥

सम्बन्धसमुद्देशे प्रदर्शितदिशाक्रमं ब्रह्मविवर्तरूपं विश्वम्। तस्य यदिदं क्रमेणावभासनं, तत् कालशक्तिकृतप्रतिबन्धाभ्यनुज्ञासामर्थ्यम्। कालख्या हि ब्रह्मशक्तिरभिधैव क्रमावभासकारितया जीवात्मसु सफलेति ब्रह्मकाण्ड एव निर्णीतम्। एष तावत् प्रथमः काल-व्यापारोऽक्रमावभासः। ( वा० मं० पृ० ६६ ( त्रि) )

भर्तृहरि कह रहे हैं कि काल में भेद औपाधिक है इसमें और भी प्रमाण हैं। लोक में व्यवहार होता है—यह रास्ता दूर है यह रास्ता निकट है। ये व्यवहार रास्ते में गमनकर्त्ता जो व्यक्ति है उसी की गति का वैलक्षण्य निबन्धन पूर्वोक्त रास्ते में दूर एवं निकट रूप व्यवहार होता है। वस्तुतः पूर्वोक्त स्थल में रास्ते में अपना कोई स्वमत भेद नहीं है जो व्यक्ति मन्द गमनशील है उसके लिए जो रास्ते में दूर व्यवहार होता है उसी रास्ते में द्रुतभ्रमणशील के लिए निकट व्यवहार होता है। वस्तुतः रास्ते के स्वरूप में दूरत्व एवं आसन्नत्व रूप कोई धर्म नहीं है? इस प्रकार शाश्वत काल में जो एवं क्षिप्र व्यवहार होता है वह भी वस्तुतः आरोपित है। काल की उपाधि क्रिया है—यह पहले ही कहा जा चुका है। जहाँ एक ही स्थायो काल में क्रिया-सन्तान प्रतीत होता है उसी स्थल में काल में चिर ( विलम्ब ) व्यवहार होता है। जहाँ काल में सन्तान का अपचय होता है उसी स्थल में काल में क्षिप्र ( तीव्र )

व्यवहार होता है। इसके अलावा स्थल को लेकर जो चिर एवं क्षिप्र व्यवहार होता है इसका और कोई तत्त्व नहीं है।

दूरान्तिकव्यवस्थानमध्याधिकरणं यथा।
चिरक्षिप्रव्यवस्थानं कालाधिकरणं तथा॥

दूरोऽयमध्वा निकटोऽयमिति कर्तृगतिभेदेनाध्वनि व्यवस्था, न तु मार्गभेदोऽत्र कश्चित्। य एव हि मन्दमतीनां दूरः स एव चतुरचेष्टानामासन्नोऽध्वा। एवं स्थायिन्यपि काले प्रचितसन्तानक्रियोपाधिः चिरमिति व्यवस्थानम्। अपचितसन्तानक्रियोपाधिः क्षिप्रमिति। ( वा० प०, पृ० ६६ ( त्रि )

यद्यपि पहले ही कहा जा चुका है कि काल में भूत, भविष्य, वर्तमान जो व्यवहार होता है वह क्रियारूप उपाधि-निबन्धन है। तथापि उस विषय का भर्तृहरि और भी स्पष्टीकरण कर रहे हैं। लोक व्यवहार में काल के द्वारा व्यवहार नहीं हो सकता है। इसलिये परमार्थतः काल के एक होने पर भी उसमें भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान काल की भी क्रिया ही उपाधि है। क्रिया के उपरत होने से भूतकाल व्यवहार होता है। क्रिया जहाँ संभावित है वहाँ भविष्यत् काल व्यवहार होता है, क्षणप्रवाहरूप में जहाँ क्रिया प्रवर्तमान होती है, उसमें वर्तमान व्यवहार होता है। इस प्रकार अखण्डकाल का क्रियारूप उपाधिजन्य तीन प्रकार भेद कहा गया है। इन तीनों को लोकव्यवहार में मनुष्य अतिक्रम नहीं कर सकता है।

तस्याभिन्नस्य कालस्य व्यवहारे क्रियाकृताः
भेदा इव त्रयः सिद्धा यांल्लोके नातिवर्तते॥

अभिन्नेन कालेन व्यवहर्तुमशक्यत्वाल्लोके त्रयो भेदा इव, परमार्थत एकत्वात्, क्रियोपाधयः प्रसिद्धाः तस्य भूतभविष्यद्वर्तमानाख्याः। क्रियाव्युपरमे भूतः सम्भावितायां क्रियायां भविष्यत्, क्षणप्रवाहरूपेण प्रवर्तमानायां तस्यां वर्तमानः मुख्य एवायम्॥
( वा० प० पृ० ६६ ( त्रि )

प्रश्न होता हैं कि पूर्वोक्त काल का भेद क्यों नहीं होता? उसमें युक्ति क्या है? इसके समाधान में भर्तृहरि कह रहे हैं कि कार्य का वैलक्षण्य देखकर कारण में वैलक्षण्य का अनुमान किया जाता है। कार्य में वैचित्र्य कारण में वैचित्र्य के नहीं रहने पर उपपन्न नहीं

हो नकता है। इसलिये कार्यगत वैलक्षण्य को देखकर कारणगत वैलक्षण्य का अनुमान किया जाता है। कारण, शक्ति के भेद से ही कार्य का भेद उपपन्न होता है। इसलिये काल नामक जगत् के कारण में मुख्य भेद स्वीकार करने का कोई प्रयोजन नहीं है। तत् शक्ति के भेद से ही कार्य में भेद उपपन्न हो सकता है। इस विषय का और भी स्पष्टीकरण करते हुए भर्तृहरि ने कहा है कि वर्तमान कालशक्ति के सम्बन्ध से विद्यमान पदार्थ समूहों की जो अभिव्यक्ति है उसी को पदार्थ-समूहों का अन्य अथवा उत्पत्ति अथवा दर्शन कहते हैं। इस प्रकार अतीत एवं अनागत कालशक्ति सम्बन्ध के द्वारा विद्यमान पदार्थों का यथाक्रम में जो तिरोभाव है वही पदार्थों का अदर्शन है, वही पदार्थों की अनभिव्यक्ति है एवं वही पदार्थों का विनाश है। पदार्थों के निरन्वय विनाश नहीं होने के कारण अतीतादि काल में जो तिरोभाव है उसे अदर्शन, अनभिव्यक्ति एवं विनाश शब्द से कहा जाता है। इसे ही प्रागभाग एवं प्रध्वंसाभाव रूप कहा जाता है।

उत्पत्ति से पूर्व में वस्तु का जो अभाव है उसी का नाम प्रागभाव है। वस्तु की उत्पत्ति के बाद जो विनाश है उसका नाम प्रध्वंस है। वर्तमान अतीत एवं अनागत जो कालशक्ति है उसके भेद से ही कार्य में जन्म ( उत्पत्ति ) अर्थात् दर्शन एवं अदर्शन रूप वैलक्षण्य के उपपन्न होने के कारण अखण्ड काल में भेद कल्पना करने का कोई निमित्त नहीं है।

एकस्य शक्तयस्तिस्रः कालस्य समवस्थिताः।
यत्सम्बन्धेन भावानां दर्शनादर्शने सताम्॥

कार्यभेदे कारणभेदानुमानम् शक्तिभेदादेव च कार्यभेदोपपत्तेः। कालाख्यस्य जगत्कारणस्य मुख्यो भेदो नास्ति। तथाहि—वर्तमान-शक्तिसम्बन्धेन भावानां सतामेवाभिव्यक्तिर्जन्या। अतीतानागतकाल-शक्तिसम्बन्धेन तु सतामेव तिरोभावो दर्शनमनभिव्यक्तिर्विनाशः प्राकप्रध्वंसाभावरूप इति शक्तिभेदात् कार्य भेदोपपत्तौ कालभेद-कल्पना निर्निमिता॥ ( वा० प०, पृ० ६७ ( त्रि )

पदार्थों का जो दर्शन एवं अदर्शन कहा गया है, उस दर्शन एवं अदर्शन शक्ति को प्रविभाग के द्वारा विभाजित कर रहे हैं। अतीत काल एवं अनागत काल रूप शक्ति के द्वारा काल विद्यमान पदार्थ

समूहों का आवरण अर्थात् तिरोधान करा देता है। इसी का नाम अदर्शन है। वर्तमान काल रूप जो शक्ति है उसके द्वारा काल पदार्थों का स्वरूप प्रकाशित कर देता है। इसी का नाम पदार्थों का दर्शन कहा जाता है।

द्वाभ्यां स किल शक्तिभ्यां भावानां वरणात्मकः।
शक्तिस्तु वर्तमानाख्या भावरूपप्रकाशिनी॥

अतीतानागतशक्तिभ्यां वरणं तिरोधापनं भावानां सतां कालः करोति। वर्तमानशक्त्या दर्शनं भावरूप-प्रकाशनम्।

( वा० प०, पृ० ६७ ( त्रि )

अब प्रश्न होता है कि जैसे अनागत शक्ति—अर्थात् भविष्यत्-कालरूप शक्ति के द्वारा जहाँ पदार्थ समूहों का आवरण अर्थात् तिरोधान होता है वहाँ फिर उन सब आवृत पदार्थों की अभिव्यक्ति होती है। यह अभिव्यक्ति वर्तमान कालरूप शक्ति के सम्बन्ध से होती है। ऐसे ही अतीत शक्ति के द्वारा जिन पदार्थ समूहों का आवरण हुआ है उसकी भी वर्तमान काल रूप शक्ति सम्बन्ध के द्वारा क्यों नहीं पुनः अभिव्यक्ति होती है? इसके उत्तर में वाक्य-पदीयकार कह रहे हैं कि पदार्थ के अन्य अर्थात् उत्पत्ति के साथ सहचरित जो वर्तमान कालरूप शक्ति है उसकी अनागत कालरूप शक्ति विरोधिनी नहीं होती है। इसलिए पदार्थों की उत्पत्ति के साथ सहचरित कालरूप शक्ति नहीं होती है। अतएव वर्तमान कालरूप शक्ति सम्बन्ध से जब पदार्थों की उत्पत्ति होती है उस प्रसंग में वर्तमान कालरूप शक्ति का अनागत कालरूप शक्ति के द्वारा प्रतिघात नहीं होता है। केवल यही होता है कि पदार्थ समूहों का जो उदयकाल है—जिस समय पदार्थ उत्पन्न होने के लिए आ रहा है, उस सयय में वर्तमान कालरूप शक्ति अनागत कालरूप शक्ति के के द्वारा प्रतिबद्ध रहती है। जब पदार्थों के निष्पादन में समर्थ हेतु-समूहों का समाधान होता है उस समय में वर्तमान शक्ति के उदय में अनागत कालरूप शक्ति अनुकूल बन जाती है। पदार्थों का कालान्तर में वर्तमानता लाभ ही अनागत शब्द से कहा जाता है। परन्तु अतीत कालरूप शक्ति के द्वारा, वर्तमान काल जिसका नाम है—ऐसी उत्पत्ति शक्ति अवरुद्ध होती है। लोक व्यवहार में देखने आता है कि जो जीव मृत है उसका पुनर्जन्म अथवा पुनरुत्पत्ति नहीं

होती है। निष्कर्ष यह है कि अतीत काल में जो वस्तु हो चुकी है, वह वस्तु पुनः उत्पन्न नहीं होती है, उसके समान-जातीय पुनः उत्पन्न भले ही क्यों न हो।

अनागता जन्मशक्तेः शक्तिरप्रतिबन्धिका।
अतीताख्या तु या शक्तिस्तस्या जन्म विरुध्यते ॥

जन्मसहचरिताया वर्तमानशक्तेरनागतशक्तिरविरोधिनी प्रतिबन्धं न करोत्युदये। स्वकाले हि तया सा प्रतिबद्धा। समर्थ-हेतुसम्पाते तु वर्तमानशक्तेरुदयानुकूल्यमनागतशक्तिर्भजते। यस्य हि कालान्तरे वर्तमानता, स एव एकानागतः कथ्यते। अतीतशक्त्या तु जन्यशक्तिर्वर्तमानास्था विरुध्यत एव। नहि मृतस्य पुनर्जन्मेति नातीते ध्वनि पतितमाविर्भवति वस्तु ॥ ( वा० प०, पृ० ६७ (त्रि)

अखण्ड काल को शक्तिमान् कहा गया है और अनागत, वर्तमान एवं अतीत काल शक्ति है। शक्ति-शक्तिमान् में आश्रित रहती है और इसका फल यह होता है कि शक्तिमान् जैसे निरन्तर विद्यमान रहता है वैसे ही शक्तिमान में आश्रित उसका शक्तिसमूह भी विद्यमान रहेगा, और इसका परिणाम यह होगा कि शक्तिसमूह युगपत् विद्यमान रहने के कारण पदार्थ समूहो का दर्शन एवं अदर्शन रूप जो विरुद्ध स्वरूप है उसका युगपत् समावेश हो जायगा। पदार्थों का दर्शन एवं अदर्शद क्या है? इस विषय का विस्तार के साथ पहले ही प्रदर्शन किया है। परन्तु पदार्थों का युगपत् दर्शन एवं अदर्शन रूप विरुद्ध स्वरूप के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है। यह अनुभव विरुद्ध है।

इसके समाधान में भर्तृहरि कह रहे हैं कि भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान रूप जो तीन काल का विभाग है इसे अध्व शब्द से कहा जाता है। इन तीनों को अध्व शब्द से क्यों कहा जाता है इस आशय का स्पष्टीकरण करते हुए हेलराज ने कहा है कि जैसे पथसमूह में गमनकर्त्ता व्यक्तिसमूह गमनागमनादि क्रिया का अविच्छेद से निर्वाह करता है वैसे ही पूर्वोक्त भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान रूप तीन प्रकार के काल विभाग में पदार्थसमूह निरन्तर परिणाम अनुभव करता है। पदार्थसमूह पथ समूह में पुरुष की तरह अविच्छिन्न रूप में गमनागमन का निष्पादन करता है। भविष्यत्

अध्वा ( काल ) में जो पदार्थ विद्यमान है वही पदार्थ वर्तमान अध्वा में पतित होकर पुनः अतीत अध्वा में पतित होता है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि इस प्रसङ्ग में अध्वा शब्द के द्वारा काल समझना चाहिए। इस विषय का और भी स्पष्टीकरण करते हुए परिणामवादी दार्शनिक समूह कहते हैं कि पदार्थ समूह तीन अध्वा में वर्तमान रहता है। इसलिए पातञ्जल व्यास भाष्य में कहा गया है कि धर्म तीन अध्वा में वर्तमान रहता है। यद्यपि भूत, भविष्यत्, एवं वर्तमान रूप तीन प्रकार के शक्ति-विशेष काल स्वरूप में जब अवस्थान करता है, तब उसमें कोई क्रम भासमान नहीं होता है। अखण्ड कालरूप में भूत, भविष्यत्, एवं वर्तमान रूप—तीन प्रकार-विशेष-शक्ति-क्रम रहित होकर उसमें अवस्थान करती है। तथापि शक्तित्रय तमः एवं प्रकाश के बराबर निष्पाद्य जो पदार्थ-राशि हैं उनमें अपनी प्रवृत्ति का निर्वाह करते हुए पूर्वोक्त दर्शन एवं अदर्शन के द्वारा निष्पाद्य पदार्थों में पौर्वापर्य क्रम को निष्पन्न करा देता है। यह दर्शन एवं अदर्शन यथाक्रम में सद एवं असद् रूप है। पूर्वोक्त भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान रूप तीन शक्तियाँ, दर्शन एवं अदर्शन के द्वारा यथाक्रम में विद्यमानता एवं अविद्यमानता रूप को उपकल्पित कराकर पदार्थों में पौर्वापर्य रूप क्रम का उत्पादन करती हैं। इसके दृष्टान्त में कहा गया है कि जैसे सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार सत्त्व, रजस् तमस्—तीन प्रकार के गुण नित्य होकर एवं युगपत् अवस्थान करते हुए भी परस्पर अङ्गाङ्गी ( प्रधान एवं अप्रधान ) भाव लाभ करके पूर्वोक्त गुण समूह अपने व्यापार के उल्लास होने से विचित्र परिणाम के द्वारा भाव-समूह की रचना करते हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त काल भेद समूह अपनी-अपनी शक्ति की महिमा से भिन्न प्रकार के पदार्थों में क्रम की उपरचना में चतुर होता है। तात्पर्य यह है कि अखण्ड काल में पूर्वोक्त भूत, भविष्यत्, वर्तमान अक्रम रूप में अवस्थान करते हुए भी अपनी शक्ति-महात्म्य से पदार्थ समूह में क्रम उत्पादन करा देते हैं।

तमः प्रकाशवत् त्वेते त्रयोऽध्वानो व्यवस्थिताः।
अक्रमास्तेषु भावानां क्रमः समुपलभ्यते॥

भूतभविष्यद्वर्तमानाख्यास्त्रयः कालविभागा अध्वान इवाध्वानः। यथाहाध्वसु गन्तारो गमनागमनादिप्रबन्धं वर्तयन्ति, तथैतेषु भावाः

परिणाममनुभवन्तो गतागतप्रबन्धमुपरचयन्ति । भविष्यदध्वनि य स्थितः, स एव वर्तमानाध्वनि पतित्वातीतेऽध्वनि पुनः पतति । तथा च त्र्यध्विकाः पदार्थाः परिणामवादिभिरभ्युपगम्यते । यदुक्तं पातञ्जलेधर्मास्त्र्यध्वान इति । यद्यपि चैते त्रयः शक्तिविशेषाः कालात्मन्यक्रमा एवावस्थिताः, तथापि तमः–प्रकाशरूपत्वादाधेयेषु भावेषु प्रवृत्तिं वर्तयन्तो दर्शनादर्शनाभ्यां सदसद्रूपकल्पनया पौर्वापर्यं विदधति । तद्यथा त्रयः सत्त्वरजस्तमोलक्षणगुणनित्यत्वाद् युगपदवस्थाना अपि अङ्गाङ्गिभावोपगमनेन यथायथं स्ववृत्त्युल्लासे विचित्रपरिणामाद् भावानुपरचयन्ति, तथेमे कालभेदाः स्वशक्तिमाहात्म्याद् भावभेदेषु क्रमोपरचनचतुरा इत्यर्थः ।

( वा० प०, पृ० ६७–६८ ( त्रि० )

पहले कहा गया है कि भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान––ये तीन प्रकार के काल-विभाग अन्धकार एवं प्रकाश स्वरूप हैं। इस विषय का भर्तृहरि स्पष्टीकरण कर रहे हैं। उनका यह कहना है कि अतीत एवं अनागत काल तमःस्वभाव है। कारण, वे दोनों पदार्थ के आवरण के कारण हैं। आवरण करना तम का धर्म है। सांख्य कारिका में कहा गया है कि गुरुवरणकमेव तमः––तमोगुण गुरु हैं एवं आवरण कारक है। आशय यह है कि जहाँ गौरव एवं आवरण है वहाँ तमोगुण का परिणाम समझना चाहिये। वर्तमान काल प्रकाश तुल्य है। इसलिये वह सत्त्वगुण के समान है। सांख्यकारिका में कहा गया है कि सत्त्वगुण लघु एवं प्रकाशक है। जहाँ लाभ एवं प्रकाश है। उसे सत्त्व गुण का परिणाम समझना चाहिए। इस प्रकार रजोगुण का परिणाम है प्रवृत्ति सामान्य। विश्व से जहाँ कहीं भी प्रवृत्ति है वहाँ रजोगुण का परिणाम समझना चाहिए। इसलिए रजोगुण को काल स्वरूप कहा जा सकता है। काल जैसे सभी पदार्थों में अनुवृत्त होकर वर्तमान है ऐसे ही रजोगुण भी प्रवृत्त रूप में सभी में अनवृत्त है।

पहले ही कहा जा चुका है कि काल प्रतिबन्धक एवं अभ्यनुज्ञा के द्वारा प्रवर्त होता है। इसलिए सांख्य दार्शनिकों का अभिप्रेत प्रेरणा रूप रजोगुण को कालात्मक ही स्वीकार करना उचित है। ब्रह्मदर्शन-अद्वैतवेदान्त जिसका अपर नाम है, उसमें भी गुणत्रय का जो परिणाम है वह काल के द्वारा उत्पन्न होता है। इस विषय को

पुनः प्रतिपादित किया गया है कि व्याकरण दर्शन के अनुसार काल ही सभी पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश का हेतु है। इसलिए सांख्य सिद्धान्त के अनुसार जो बाह्य एवं अन्दर जगत् गुण-त्रय का जो परिणाम है, वह व्याकरण दर्शन-सिद्धान्त के अनुसार काल से ही उत्पन्न हुआ है। काल को शक्तिमान् कहकर निर्देशित किया गया है। पदार्थों की उत्पादक, स्थापक एवं विनाशक शक्ति काल में ही आश्रित है। जीवात्मा में विद्यमान ज्ञान एवं क्रिया शक्ति को गुणत्रयात्मक ही समझना चाहिए। कालशक्ति का विभागरूप अतीत-जन्मशक्ति का प्रतिबन्धक है--यह पहले ही कहा जा चुका है। प्रदर्शित प्रकार के द्वारा सांख्य सिद्धान्त के अनुसार गुण त्रय का जो विभिन्न परिणाम है वह कालशक्ति में अवस्थित भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान--तीन प्रकार की शक्तियों के द्वारा उत्पन्न हो सकता है। ( मैं इस प्रसङ्ग में इस विषय का उल्लेख करना उचित समझता हूँ कि बनारस संस्कृत सीरिज में वाक्यपदीय की जो टीका प्रकाशित हुई है एवं त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरिज में जो हेलराज की टीका प्रकाशित हुई है--वे दोनों ही इस स्थल में अस्पष्ट एवं प्रमादपूर्ण रूप से छप गई हैं। उन दोनों टीकाओं को मिलाने पर भी इस स्थल में कोई आलोक सम्पात नहीं होता है। जब तक वाक्यपदीय का इस अंश का कोई विशुद्ध संस्करण नहीं निकलेगा तब तक असुविधा रह ही जायगी।

भर्तृहरि पुनः कह रहे हैं कि कुछ ऐसे दर्शन प्रस्थान हैं जो यह स्वीकार करते हैं कि अतीत काल में पतित होने पर भी पुनः कालान्तर में जब जगत् की पुनरावृत्ति होती है उस समय में अतीत पदार्थ समूह, जो प्रधान में अन्तर्लीन रहता है, वह यथाकाल में अपने को पुनः प्रकाशित करता है। पुनः प्रलय में, प्रधान में तिरोभूत हो जाता है। पञ्चाधिकरण दर्शनानुसारी सांख्य दार्शनिकों का यही सिद्धान्त है। परन्तु व्याकरण दर्शन के मतानुसार सभी पदार्थों का तीन काल तक के साथ सम्बन्ध उपपन्न होता है। कारण सभी पदार्थ तीन काल में ही संचरण करते हैं। यह जगत अविच्छिन्न रूप में प्रवृत्त है। इसलिए पूर्व में जो पदार्थ अतीत हो गया है वह पुनः नहीं हो सकता है। जगत परिवर्तन में भी वही वस्तु पुनः आवर्त्तित नहीं हो सकती है। परन्तु उसके सदृश वस्तु आवर्त्तित होती है। कारण, अतीत शक्ति के साथ वर्तमान शक्ति का विरोध

है। इसलिए जो पदार्थ अतीत हो गया है, वह पदार्थ आवर्त्तित नहीं हो सकता है। होगा भी कैसे ? कारण जगत् तो अविच्छिन्न रूप से प्रवृत्त है।

जगत् की प्रवृत्ति मुहूर्त काल के लिए भी विच्छिन्न नहीं हो रही है। जब यही स्थिति है तब निरन्तर अविच्छिन्न रूप में प्रवृत्त जगत्, अतीत वस्तुओं को पुनरावृत्ति करने के लिए कैसे अवकाश दे सकता है ? वर्तमान प्रसंग में जो अतीत का भी पुनः विपरिवर्तन कहा गया है उसका मूल है गीता का वाक्य—"नाभावो विद्यते सतः"। सांख्य दार्शनिकों के अभिप्राय के अनुसार इस गीता वाक्य का आशय यह है कि जो पदार्थ तिरोभूत हो गया है, वही पुनः आवर्तित होता है। उल्लिखित सांख्य दर्शन के सिद्धान्त में धर्म एवं धर्मी के साथ कथंचित भेद ( भेदाभेद ) स्वीकार करके स्थायी जो धर्मी है उसी धर्मी का धर्मसमूह तीन काल में संवरण करता है—यही स्वीकार किया गया है।

द्वौ तु तत्र तमोरूपावेकस्थालोकवत् स्थितिः।
अतीतमपि केषांचित् पुनर्विपरिवर्तते॥

अतीतानागतावध्वानौ भावावरणहेतुत्वात् तमःस्वभावौ। आवरणं हि तमोधर्मः। गुरुवरणकमेव तम इत्युक्तम्। वर्तमानोऽध्वा प्रकाशतुल्यः सत्त्वसदृशः सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमिति रजस्तु प्रवृत्तिसामान्यं कालस्वरूपं सर्वत्रान्वयि। प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां प्रवर्तकं प्रेरणानुरूपं रजः कालात्मकमेव, त्रैगुण्यपरिणामश्च तत्पूर्वदर्शनेऽपि कालस्योपपन्नमेव शक्तिरूपस्यापि। ज्ञानक्रियाशक्तिभिर्जीवात्मनि गुणत्रयम्। तत्रैव च कालशक्तिसद्रूपातीतशक्तिर्जन्मशक्तेः प्रतिबन्धिकेति पूर्वमुक्तम्। केचित् तु मन्यन्ते—अतीताध्व (वर्तिनोऽ) पि पुनः कालान्तरे जगत्परावर्तेषूद्भवन्ति कृतपरिनिष्ठिता हि भावाः प्रधानप्रसवैकान्तर्गता यथाकालमुद्दर्शयन्त्यात्मानं पुनः प्रलये तत्रैव तिरोभवन्ति इति। पञ्चाधिकरणदर्शनस्थानां सांख्याना (मयमभ्युप-) गमः। इत्थं चात्र दर्शने सुतरां त्रैयध्विकत्वमुपपद्यते, सर्वेषामपि त्रिष्वध्वसु संचारात् प्रबन्धप्रवृत्ते जगति पूर्वमतीतानां वर्तमानता नास्ति जगत्परिवर्त्तेऽपि न तदेवावर्तते, अपि तु तत्सदृशमित्यतीतशक्तेर्वर्तमानशक्तिविरोधः पूर्वमुक्तम्, इह तु नाभावो विद्यते सत इति तिरोभूतः पुनस्तदेवावर्तते इति दर्शनात् कथ्यते। तदेकं धर्मी-

धर्मणोः कथंचिद् व्यतिरेकमभ्युपगम्य स्थायी धर्मी वर्तमानो धर्मास्तु व्यध्वान इतीदं दर्शनमुक्तम्। ( वा० प०, पृ० ६८ ( त्रि० )

सम्प्रति वाक्यपदीयकार, धर्म एवं धर्मी का वास्तविक अभेद स्वीकार कर, धर्म को द्वार बनाकर धर्मी युगपत् तीन काल में अवस्थान करके तदनुरूप शब्द-प्रयोग का विषय होता है--इस सिद्धान्त को प्रतिपादित कर रहे हैं। परिणामवादी कुछ प्राचीन संख्याचार्यों का यह मत है। यह महाभाष्यकार सम्मत है--ऐसी उक्ति भी कहीं-कहीं मिलती है। ( परिणामवाद के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मतों का व्यासभाष्य में विस्तृतरूप से पर्यालोचन किया गया है। परिणामवाद अतिशय प्राचीन है। अद्वैतवेदान्ती लोग यद्यपि विवर्त्तवादी है तथापि अद्वैत वेदान्त के अनुगामी दार्शनिकों ने प्रथम भूमि में परिणाम स्वीकार कर चरम भूमि में विवर्त्तवाद स्वीकार किया है। उपासना काण्ड परिणामवाद को स्वीकार करके ही व्यवस्थित है। )

इस प्रसंग में कहना है कि धर्मसमूह अतीत, वर्तमान एवं अनागत रूप है। अत एव पूर्वोक्त धर्म अगर अपने धर्मी के साथ अभिन्न हो जाय तब तो धर्म के बराबर धर्मी भी युगपत् वर्तमान काल में विद्यमान रहेगा। कारण, धर्म के साथ धर्मी जब अभिन्न है तब तो धर्म के वर्तमान काल में अवस्थान के द्वारा धर्मी का ही वर्तमान काल में अवस्थान सिद्ध होगा। ऐसे ही वर्तमान काल के बाद कोई न कोई धर्म अतीत होता है। अतएव उसके साथ धर्मी भी अतीत के साथ सम्बन्ध करेगा। ऐसे ही कोई धर्म अनागत होने के कारण, उसके साथ अभिन्न धर्मी भी अनागत कहा जायगा। अत एव यह सिद्ध होता है कि स्थायी धर्मी सदैव विद्यमान होने पर भी, उसके धर्म के तीन काल में रहने के कारण धर्मी भी उसके धर्म को द्वार करके तीन के काल में विद्यमान रह सकता है और इसलिये धर्मी की तीन काल में विद्यमानता को लेकर ऋद्धधर्मी ऐसा व्यवहार होता है। धर्म का सन्निवेश-निबन्धन भेद रहने पर भी धर्म धर्मी के साथ अभिन्न है और इस अभेद प्रयुक्त एक धर्मी में युगपत् तीन काल का सम्बन्ध सम्भावित होता है।

युगपद्वर्तमानत्वं तद्धर्मा प्रतिपद्यते।
केषांचिद् वर्तमानत्वाच्चेति तद्वदतीतताम्॥ ५४॥

ते अतीतवर्तमानानागतरूपा धर्मा यस्यासौ तद्धर्मा धर्मी युगपदेकवारमेव वर्तमानत्वं साम्प्रतिकत्वं प्रतिपद्यते। धर्मस्य तद्व्यतिरिक्तो धर्मी तथा वर्तमानत्वाच्चानन्तरावप्यतीततां तद्वद् वर्तमानत्ववदेति युगपदेवातीततामप्यासादयति। कस्यचिद् धर्मस्यातीतत्वात् तद्व्यतिरिक्तो धर्मीत्यर्थः। द्रव्य एवं कस्यचिद् धर्मस्यानागतत्वादनागतामप्येति। तदेवं धर्मी स्थायीभावतः सदैव वर्तमानोऽपि धर्मत्रैविध्यात् सकृदपि व्यध्वा व्यवह्रियते। अव्यतिरिक्ताश्च संनिवेशवद्धर्मा इत्यन्यत्र स्थापितम्।

प्रश्न होता है कि अतीत एवं वर्तमान—ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। इसलिए एक धर्मी के साथ अतीत एवं वर्तमान काल का कैसे सम्बन्ध हो सकता है? जो वर्तमान है वह तो अतीत नहीं है और जो अतीत है वह तो वर्तमान नहीं है। इस विषय का सांख्य दार्शनिकों के अनुसार और भी स्पष्टीकरण करते हुए भर्तृहरि कह रहे हैं कि जब हेतु-समूह सन्नद्ध होकर कार्य में व्यापार करता है, उस समय में हेतु के सामर्थ्य से जो पदार्थ उत्पन्न होता है, वह दृष्टिगोचर होता है। केवल यही नहीं, उस स्थिति में अर्थ क्रिया को संपादित कर वह पदार्थ वर्तमान व्यवहार का विषय होता है और जब उस पदार्थ का अर्थ-क्रिया-निष्पादन रूप व्यापार परिसमाप्त हो जाता है तब उसका और कोई करणीय अवशिष्ट नहीं रहता है। इस स्थिति में वह पदार्थ अदर्शन को प्राप्त अतीत व्यवहार का विषय होता है। पूर्वोक्त पदार्थ का हेतु समूह उसके जनन में कोई उपकार करने के लिए सन्नद्ध नहीं होता है तब वह पदार्थ अनागत व्यवहार का विषय होता है। निष्कर्ष यह हुआ कि हेतु समूह सन्नद्ध होकर निष्पाद्य पदार्थों का जब निष्पादन रूप उपकार करने के लिये सन्नद्ध होता है तब वह पदार्थ वर्तमान रूप से व्यवहृत होता है। ऐसे ही जब हेतु समूह का व्यापार उपरत हो जाता है तब उस पदार्थ का अतीत रूप में व्यवहार किया जाता है। जब हेतु समूह उपकार के लिये सन्नद्ध नहीं है तब पदार्थ समूह का अनागत रूप से उल्लेख किया जाता है। अब स्थिति यही होती है कि एक ही पदार्थ का उससे भिन्न उपाधि के द्वारा प्रकल्पित जो व्यवहार का भेद है, वह भेद पूर्वोक्त एक ही पदार्थ को लेकर उत्पन्न हो सकता है। फलित यह होता है कि अर्थ क्रिया की विद्यमानता एवं अविद्यमानता के द्वारा एक ही पदार्थ को अवलम्बन

करके पूर्वोक्त वर्तमानता एवं अतीतता का व्यवहार हो सकता है। इसमें बौद्ध दार्शनिक लोग शका करते हैं कि जो पदार्थ अर्थक्रिया-कारी है वही पदार्थ सत् है, जो अर्थ-क्रियाकारी नहीं है उसको सद्रुप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इससे यही सिद्ध होता है कि पदार्थो की अतीत अवस्था में वह अर्थ क्रिया निष्पादन नहीं कर सकता है।

इसलिये अतीत अवस्था में पदार्थ को कैसे सत् कहा जा सकता है? जो पदार्थ अर्थ-क्रियाकारी है वही सत् है। यह केवल वर्तमान काल में ही संभावित है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती सांख्यवादी कहना चाहते हैं कि हमलोग अर्थक्रिया-निबन्धन पदार्थो का सत्त्व स्वीकार नहीं करते है। परन्तु हमलोगों का यही कहना है कि पदार्थ समूह अपने स्वरूप के द्वारा सद्रूप में प्रतीत होता है। पदार्थ समूहों का स्वरूप त्रिगुणात्मक है। जब यही स्थिति है तब सद्रूप पदार्थ का निरन्वयविनाश नहीं है। वह सभी देश एवं काल में विद्यमान रहता है। इस विषय को सांख्य दार्शनिकों ने पाँच प्रकार वीतानुमान (सांख्य मत में वीत एवं अवीत—ये अनुमान के दो प्रकार स्वीकृत किये जाते हैं। अन्वयी अनुमान को वीतानुमान कहा जाता है एवं व्यतिरेकी को अवीतानुमान कहा जाता है। इस प्रसंग में विस्तृत पर्यालोचन उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक, वाचस्पति मिश्र की सांख्य-तत्त्वकौमुदी और युक्तिदीपिका में किया गया है।) के द्वारा सिद्ध किया है। सांख्य दार्शनिकों ने कहा है कि त्रैलोक्य अभिव्यक्ति अवस्था से अपगत नहीं होता है। कारण ये त्रैलोक्य सद्रूप है। इस प्रसंग में मैं उल्लेख करना उचित समझता हूँ कि टीकाकार हेलाराज ने जो···तदैव त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति न सत्त्वादिति, कहा है इसका पातंजल योगसूत्र के (पा० ३ सू०) ···एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्था-परिणामा व्याख्याता ॥ १३ ॥ (पा० ३ सू० १३) ···इस सूत्र के व्यास भाष्य में किंचित् परिवर्तित रूप में उल्लेख मिलता है। वह इस प्रकार है—तदेतत्त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति कस्मात्? नित्यत्वप्रतिषेधात्। अपैतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्। संसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यं सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिरिति। इसका आशय वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी टीका में प्रदर्शित किया है। वह इस प्रकार है—यह त्रैलोक्य केवल द्रव्यमात्र नहीं है। उसकी अभिव्यक्ति अर्थात् अर्थक्रिया-

कारी जो रूप है उससे अपगत है। प्रश्न हो सकता है क्यों ? समाधान यही है कि प्रमाण के द्वारा त्रैलोक्य का नित्यत्व निषेध किया गया है। एवं रूप में त्रैलोक्य का अवस्थान सम्भव नहीं होता है। कारण, यह त्रैलोक्य सत्त्वरजस्तमोगुणात्मक है और वह गुणत्रय निरन्तर परिणामशील ही होगा, उसका स्थिर चंचल एक रूप में अवस्थान सम्भव नहीं है। घट अगर जिस रूप में अर्थ क्रिया का निष्पादन करता है उस रूप से अपगत नहीं होता है तब तो कपाल, सर्करा एवं चूर्णादि अवस्था में घट व्यक्त है—यही स्वीकार करना पड़ता और पूर्व के बराबर कपालादि अवस्था में भी अर्थ क्रिया का निष्पादन करता। जब यह देखने में नहीं आता है तब इससे सिद्ध होता है कि यह त्रैलोक्य अनित्य है। इससे प्रश्न होता है कि अनित्यावस्था में जब अर्थ-क्रिया रहित है तब तो आकाशपद्म के बराबर तुच्छ है। इसके उत्तर में कहा गया है कि पूर्वोक्त अवस्था में घट एकान्ततः तुच्छ भी नहीं कहा जा सकता है, और इसलिए एकान्ततः अनित्य भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। कारण, प्रमाण के द्वारा घट के विनाश का भी निषेध किया गया। इसका आशय यह है कि जो तुच्छ है वह कभी भी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता एवं अर्थक्रिया का भी निष्पादन नहीं कर सकता है। जैसे आकाशपद्म है। परन्तु यह त्रैलोक्य अर्थक्रिया भी निष्पन्न करता है—इसलिए ये कथंचित् नित्य है। इससे त्रैलोक्य परिणामी है—यह सिद्ध होता है। यह कार्य जब अपने उपादान कारण में लीन होता है तब वह सूक्ष्म बन जाता जाता है अर्थात् दर्शन के अयोग्य बन जाता है और इसलिये उसकी उपलब्धि भी नहीं होती है। ( त० व०, वृ० १२२–११३ )

इसमें हमारा विशेष कहना यह है कि हेलाराज ने जो सांख्य मत के अनुसार परिणामवाद का प्रदर्शन किया है इसका विस्तृत पर्यालोचन पूर्वोद्धृत योगसूत्र के व्यासभाष्य में किया गया है। परिणामवाद का इस प्रकार विस्तृत विश्लेषण और कहीं भी देखने में नहीं आता है। बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित एवं कमलशील ने तत्त्वसंग्रह में विस्तृत पर्यालोचन किया है। हमारे आलोच्य विषय के बहिर्भूत होने के कारण इस प्रसंग को मैं अधिक बढ़ाना उचित नहीं समझता हूं।

हेतूपकारादाक्षिप्तो वर्तमानत्वमागतः।
शान्तहेतूपकारः स पुनर्नापैति दर्शनम् ॥ ५५ ॥

यदा संरब्धा हेतवः कार्योपकारभारमभन्ते तदा तत्सामार्थ्याज्जायमाना दर्शनपथमवतरन्नर्थक्रियाः संपादयन् व वर्तमान इति व्यपदिश्यते । उपरतकरणव्यापारस्तु परिसमाप्तकरणीयोऽदर्शनमनुपतन्नतीतः यदा तु हेतवो नोपकाराय संरब्धास्तदानागतः । इत्येकस्यापि परोपाधिप्रकल्पितो व्यपदेशभेदोऽविरुद्ध इत्यर्थक्रियासदसत्त्वनिमित्तो व्यपदेशः । ननु यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसदित्यतीतेऽध्वनि तदभावात् कथं सत्त्वम् । न वयमर्थक्रियानिमित्तं तत्त्वमुपेमः, अपितु स्वरूपेण सतां पदार्थानां स्वरूपजुषां गुणत्रयमयता । तस्य च नित्यस्य नास्ति विनाशः सर्वत्र सर्वदानुग्रहाद् बीतपंचकेन साधितत्वात् । तदुक्तं--तदेव त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति न सत्त्वादिति ।

वा० प०, पृ० ६६ ( त्रि० )

अतीत एवं अनागत काल में पदार्थों का अदर्शन समान है। इसलिए कुछ आचार्य-जिनको संक्षेप में ही अधिक अभिरुचि है वे काल की दो शक्तियों को ही स्वीकार करते हैं--प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा । इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए हेलाराज ने कहा है कि उत्पत्ति के पूर्व में पदार्थों के अभाव को प्रागभाव कहा जाता है। उत्पत्ति के बाद पदार्थों के अभाव को प्रध्वंसाभाव कहा जाता है। इन दोनों के रहने से पदार्थों का अदर्शन होता है। इस अंश में इन दोनों में कोई वैलक्षण्य नहीं है। इसलिए पूर्वोक्त पदार्थों का कारण काल जो सभी पदार्थ रूप में उत्पन्न होना है--उसी की प्रतिबन्ध नामक एक शक्ति है। इस प्रकार काल की जो अभ्यनुज्ञा रूप द्वितीय शक्ति है वह सभी भावाभावों की निर्माणकारिणी है। पूर्वोक्त ग्रन्थ के द्वारा कालतत्त्व का स्वरूप स्पष्ट रूप से व्याख्यात हो गया है। ( इस प्रसंग में उल्लेख करना उचित है कि काल की, जिस दृष्टिकोण से काल को सर्वसंहिष्णु रूप स्वीकार किया गया है।

द्वे एव कालस्य विभोः केषांचिच्छक्तिवर्त्मनी ।
करोति चाभ्यां भावानामुन्मीलननिमीलने ॥ ५६ ॥

प्राकप्रध्वंसाभावयोर्भविस्यादर्शनविशिष्टमित्यैकैव तत्कारणकालस्य सर्वप्रभविष्णुरूपस्य शक्तिः प्रतिबन्धलक्षणा, द्वितीया व त्वभ्यनुज्ञालक्षणा । भावाभासविधायिनी सर्वप्रभविष्णुरूपस्य । तदेवं कालतत्त्वं व्याख्यातम् ॥ ५६ ॥

वा० प०, पृ० ६६-७० ( त्रि० )

पूर्वोक्त काल के स्वरूप में कुछ विरुद्धवादी आचार्य शंका प्रदर्शन करते हैं। व्याकरण दर्शन के सिद्धान्तानुसार काल का जो स्वरूप प्रदर्शित किया गया है, उस स्वरूप को वे लोग स्वीकार नहीं करते है। उन सब दार्शनिकों का यही कहना है कि काल को जो अभिन्न एवं अखण्ड वस्तु स्वीकार किया गया है, उससे व्यवहार नहीं हो सकता है। इसलिए उस काल की भेदक-उपाधि-क्रिया-प्रवृत्ति की परिकल्पना की गई है, वही व्यवहार का कारण हो जायगी। इससे अदृश्य एवं युक्ति द्वारा असिद्ध एक अखण्ड काल को स्वीकार करने का प्रयोजन क्या है? यदि यह कहा जाय कि तत्तत् व्यक्तियों की बुद्धि द्वारा परिकल्पित रूप में विद्यमान जो काल है उसके बिना लोक व्यवहार करने में विपर्यय उत्पन्न हो जायगा, तब इसके उत्तर में यही कहना है कि प्रदर्शित तत्तत् पुरुषों की बुद्धि द्वारा परिकल्पित रूप जो काल है उसी को यथार्थ कालतत्त्व स्वीकार किया जायगा। निष्कर्ष यह हुआ कि कालतत्त्व कोई बाह्य वस्तु नहीं है। वह स्वमतिपरिकल्पित कोई आन्तर वस्तु है। योग दार्शनिक लोग यह मत स्वीकार करते हैं, इसे भर्तृहरि और भी विशदीकरण कर रहे हैं। भिन्न-क्रिया-समूह संकलनात्मिका बुद्धि के द्वारा जब अनुह्रियमाण होता है तब उस संकलनात्मिका अवस्था में प्रदर्शित क्रिया समूह चिर-क्षिप्र प्रभृति व्यवहार का कारण बनता है। केवल यही नहीं, अहोरात्र व्यवहार का भी कारण बनता है। आशय यह है कि बुद्धि के द्वारा जिस क्रिया का संकलन हुआ उसे लेकर जब चिर, क्षिप्रादि व्यवहार होता है, तब यह चिर, क्षिप्रादि कोई बाह्य वस्तु नहीं है। यह सर्वथा विलक्षण चिरादि काल आन्तर वस्तु है। इसके फलस्वरूप चिरादि काल में जो अवान्तर विभाग किया जाता है उसी के द्वारा भिन्न-भिन्न रूप से पूर्वोक्त चिरादि काल के कलासमूह (अंश समूह) की परिकल्पना की जाती है। इस प्रकार क्षिप्रकाल एवं अहरादि काल के भी सम्बन्ध में समझना चाहिये। निष्कर्ष यह है कि क्रियारूप उपाधि निमित्त से चिरादि काल का भेद नहीं होता है।

पूर्व प्रदर्शित युक्ति के द्वारा, संकलनात्मिका बुद्धि, के स्वयं भिन्न होने के कारण, भेदबुद्धि का विषय संकल्यमान क्रियासन्तान में आरोपित किया जाता है। बुद्धि का ही स्वभाव है कि वह अपने विषय के स्वरूप के अनुसार होती है। प्रकृतस्थल में क्रिया सन्तान बुद्धि का विषय है। उसी में बुद्धि के धर्म के भेद का आरोप होता

है। बुद्धि का विषय क्रियाक्षण होता है और उसमें अल्पत्व एवं महत्त्व विद्यमान रहता है। इसी अल्पत्व एवं महत्त्व-निबन्धन बुद्धि के संकलन रूप काल में चिर क्षिप्रादि व्यवहार होता है। यही काल-तत्त्व है। इसे छोड़कर वाह्य कोई काल विद्यमान नहीं है। काल सर्वथा बुद्धि निर्माण है।

कलाभिः पृथगर्थाभिः प्रविभक्तं स्वभावतः।
केचिद् बुद्ध्यनुसंहारलक्षणं तं प्रचक्षते ॥ ५७ ॥

भिन्नाः क्रियालक्षणाः संकलनाबुद्ध्यानुसंह्रियमाणाः संकल्प्यमानाश्चिरक्षिप्रादिव्यपदेशस्य निमित्तं भवन्ति, एवमहोरात्रादिव्यपदेशस्य निमित्तं भवन्ति। तथा च बुद्ध्या संकलनमात्रमेवाबहिस्तत्त्वं चिरादिकालरूपं विलक्षणमेव व्यवतिष्ठते। तथाहि चिरकालस्यावान्तरप्रविभागेन भिन्ना एव कलाः एवांशाः परिकल्प्यन्ते। एवं क्षिप्रकालस्याहरादिकालस्य च। न तु क्रियोपाधिवशादयं चिरादिभेदः, पूर्वोक्तनयेन बुद्धेः स्वयं भेदात्। स एव च स्वविषये सकल्प्यमाने क्रियासन्ताने समारोप्यते। बुद्धिधर्मो हि विषयरूपानुपातीति दृष्टमेतत्। विषयभूतक्षणगणगताल्पत्वमहत्त्ववशेन चिरादिभावो बुद्धिसंकलनस्य कालरूपस्य व्यवह्रियते ॥ ५८ ॥

वा० प०, पृ० ७० ( त्रि० )

### वाक्यपदीय के अनुसार कालस्वरूप निरूपण ( अनुवृत्त )

तृतीय काण्ड में वाक्यपदीयकार ने भिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों में कार्य कारण भाव उपपन्न नहीं हो सकता है यह प्रदर्शन कर व्याकरण दर्शन के अनुसार विवर्त पक्ष को सिद्धान्तरूप में स्थापना की है। उनका कथन यह है कि उत्पत्ति के पूर्व कार्य रूप अर्थ असत् रहने के कारण इस स्थिति में उस कार्य के सम्बन्धी कारण का व्यापार उपपन्न नहीं हो सकता है। उत्पादन क्रिया का आवेशयोग्य जो वस्तुभूत कार्य है उसी कार्य के सम्बन्धी कारण समूह का व्यापार सम्भव होता है। उत्पत्ति के पूर्व में जब कार्य नहीं है तब उसके सम्बन्धी कारण का व्यापार नहीं हो सकता है। जिसका कोई भी स्वरूप विद्यमान नहीं ऐसे कार्य को उद्देश्य करके कारण समूह प्रवर्त्तित नहीं हो सका है। निष्कर्ष यह है कि असत् कार्य कारण प्रभृति के व्यापार उद्देश्य नहीं हो सकता है। कार्य को यदि सत् स्वीकार किया

जाय तब तो उसके लिये कारण की अपेक्षा ही नहीं रहेगी। कार्य की अविद्यमानता-अवस्था में कार्य उत्पत्ति की प्राग् अवस्था का सम्बन्ध सम्भव होना भी सम्भव है। कारण, असत् को लेकर प्राग् भी सम्भव नहीं है और अवस्था भी नहीं।

इसलिये जो असत् कार्यवाद स्वीकार करते हैं उनके मत में कार्य उत्पत्ति के पूर्व में असत् होने के कारण, कारण व्यापार के साथ सम्बन्धित नहीं हो सकता है। सत्-कार्यवाद पक्ष में भी उत्पत्ति की प्राग अवस्था सम्भावित नहीं है। कारण, सत्कार्य नय में तो कार्य वर्तमान काल में भी विद्यमान है।

अपदेऽर्थे पदन्यासः कारणस्य न विद्यते।
अथच प्रागसद्भावः कारणे सति दृश्यते॥

जननक्रियावेशयोग्य-वस्तुभूतकार्यनिष्ठो हि कारणानां व्यापारः पदन्यासः। स च असति कार्ये नास्ति। तस्य किंचिद्रूपमुद्दिश्य कारणानि प्रवर्तितुमुत्सहन्ते। असत् उद्देश्यायोगात्। सत्त्वे तु ···कारपातुपपत्तिरिति तूक्तम्। ·····कालस्य प्रागवस्थेति वस्त्वाश्रितमिति पुनः। प्रागवस्थेति नह्यतद्द्वयमप्यस्त्यवस्तुनि।

तत एवमसत्कार्यनयप्रागसत्त्वादेतन्न युज्यते। सत्कार्यनयेऽपि प्रागर्थानुपपत्तिरिदानीमपि सत्त्वाद्भावस्य।

वा० प०, पृ० १३४–१३५ ( चौ० )

निष्कर्ष यह हुआ कि उत्पत्ति से पूर्व अर्थ के साथ पद का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है। उत्पत्ति के पूर्व ही क्यों, विनाश में भी कार्य का असत्त्व ही समझना चाहिए। विनाश अवस्था में कार्य निःस्वरूप होने के कारण वाक्य का अविषय होता है। इस कारिका में वाक्यपदीयकार ने कहा है कि पदार्थ निरन्वय ध्वंस के बाद असत् हो जाता है और इस स्थिति में वह भाव अस्ति नास्ति–इस व्यवहार के लिये वाक्य प्रयोग का निमित्त नहीं हो सकता है। वाक्य प्रयोग में कारण है उपलभ्यमानता। विनाश अवस्था में जब वस्तु की उपलभ्यमानता नहीं है तब वह शब्द प्रयोग का विषय नहीं हो सकता है।

न चोर्ध्वमस्ति नास्तीति वचनायानिबन्धनम्।
अलं स्यादपदस्थानमेतद्वाचः प्रचक्षते॥

( वा० प० ३ का ( चौ० )

परन्तु पदार्थ मध्यमावस्था में ही केवल दृश्य होता है, अर्थात् उस समय में ही वह शब्द प्रयोग का विषय होता है। इस अवस्था में युक्ति रहित होने के कारण आश्रयभूत वृत्ति अथवा व्यापार द्वारा उत्पत्ति के पूर्व में अदृष्ट एवं विनाश के बाद भी अदृष्ट कार्य-जो कार्य निरंश एवं अक्रम होता है वह विशेष नियम के कारण दृश्यमान होता है। कार्योत्पत्ति की प्रागवस्था में एवं विनष्टाअवस्था में असत् होने के कारण उसमें किसी भाग एवं क्रम की कल्पना नहीं की जा सकती है।

भर्तृहरि का आशय इस प्रकार से भी व्यक्त किया जा सकता है कि कारण व्यापार के विद्यमान रहने पर निरंश एवं अक्रम पदार्थों का अनारोपित रूप ही प्रकाशमान होता है। पदार्थों के अनारोपित रूप ही प्रकाशमान होता है। पदार्थों के अनारोपित रूप में भाग भी नहीं है और क्रम भी नहीं है। एतादृश पदार्थ उत्पत्ति से पूर्व एवं विनाश दोनों अवस्थाओं का त्याग कर केवल मध्य अवस्था में कारण व्यापार के द्वारा दृश्य होकर शब्द के साथ सम्बन्ध लाभ करता है।

अत्यद्भुता त्वियं वृत्तिः यदभागं यदक्रमम्। पदार्थ पूर्व में नहीं बाद में भी नहीं रहेगा, मध्य में कहाँ से प्रकाशित हो गया।

कारण समूह से कार्य की अभिव्यक्ति होने के बाद समवाय नाम की शक्ति कार्य एवं कारण में भेद की बाधिका हो जाती है। आशय यह है कि इस तन्तु समूह में पट है। तन्तु में ही पट है इस विशेष रूप ज्ञान का कारण समवाय है। यह समवाय परतन्त्र है। पर तन्तु को छोड़कर अन्यत्र समवेत नहीं हो सकता है। इसलिये तन्तु में पट के समवाय में पारतन्त्र्य विद्यमान है। इस पारतन्त्र्य के साम्य-निबन्धन समवाय को शक्ति रूप प्रतिपादित किया गया है। तन्तु में ही पट, जब यह नियम विद्यमान है, कपालादि में पट विद्यमान नहीं रहता है, तब इस नियम का फल यह होता है कि पूर्वोक्त समवाय पट एवं कारण तन्तु में भेद को अन्तर्हित करा देता है और इसके फलस्वरूप तन्तु एवं पट में एकत्व भासित होता है।

कुछ दार्शनिक, जैसे सांख्यमतानुसारी आचार्यगण कारण व्यतिरिक्त कार्य का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं। प्रकृतस्थल में तन्तु-रूप अवयव समूह भेदज्ञान का विषय होता है। कारण, अनेक तन्तुओं से पट उत्पन्न होता है। अवयवी पट एक होने के कारण अभेद ज्ञान

का विषय होता है। इसलिये बहु तन्तु रूप अवयव एवं पट रूप एक अवयवी--इन दोनों में वस्तुतः एकत्व नहीं कहा जा सकता है। इसलिये भर्तृहरि ने एकत्वमिव-यहां इव शब्द का प्रयोग किया है, जैसे एकत्व प्रतीत होता है।

ततस्तु समवायाख्याशक्तिर्भेदस्य बाधिका।
एकत्वमिव ता व्यक्तीरापादयति कारणैः॥

इह तन्तुषु पट इत्यादि-प्रत्ययहेतुः समवायः पारतन्त्र्यसाम्यात् पूर्वशक्तित्वेन व्यवस्थापितः। स नियमानन्तरं कार्यकारणयोर्भेदः तिरोधापयति। यत एकत्वमिवात्र भासते। तथाच केचित् कारण-व्यतिरिक्तं कार्यं नेच्छन्ति। भेदप्रत्ययविषयेभ्यो भेद प्रत्ययविषय-स्यावयविनो ऽवयवेभ्यो वस्तुतो भेदान्तैकत्वमिति इवशब्दः॥

( वा० प०, पृ० ५६ ( त्रि० )

इस प्रकार कार्य-व्यक्ति अवस्थिति लाभ करती है। इसके बाद क्या होता है? इस विषय पर वाक्यपदीयकार कह रहे हैं कि कारण शक्ति समूह के द्वारा जब कार्य कारण स्वरूप में नियन्त्रित होता है, अर्थात् तन्तु रूप कारण शक्ति के द्वारा पटरूप कार्य तन्तु में नियन्त्रित होकर उत्पन्न होता है, कपालरूप कारण शक्ति के द्वारा घट रूप कार्यकपाल में नियन्त्रित होता है तब कार्यशक्ति की स्थिति एवं उसके साथ कार्य में रहनेवाली जाति के साथ सम्बन्ध एक ही काल में होता है। कार्य जब उत्पन्न होता है तभी कार्य को जाति के द्वारा वह कार्य सम्बद्ध हो जाता है। यह जाति जन्मादि क्रिया की प्रयोजिका है--यह पहले ही कहा जा चका है। कार्य व्यक्ति जब स्थित हो जाता है तब उसके उत्तर काल क्षणान्तर में कार्य के रूपादि गुण उत्पन्न होते हैं।

वैशेषिक मत का यह सिद्धान्त है कि द्रव्य अपनी उत्पत्ति के क्षण में निर्गुण एवं निष्क्रिय रहता है। रूपादि गुण के कार्य में उत्पन्न होने के बाद इन्द्रिय के साथ उसका सन्निकर्ष होता है। जसे चक्षु इन्द्रिय के साथ किसी रूपवत् द्रव्य का सन्निकर्ष होता है और उसके बाद उस रूपवत् द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से जो जाति विद्यमान है उसका प्रकाश होता है। जिस सम्बन्ध से रूपी द्रव्य में समवेत जाति का प्रकाश होता है उस सम्बन्ध का पारिभाषिक नाम है संयुक्त-समवाय। चक्षु इन्द्रिय रूपी द्रव्य के साथ संयुक्त है और उसमें सम्बन्ध से जाति

विद्यमान है। इस विषय को वाक्यपदीयकार ने एक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट किया है। जैसे निर्मल जल में वृक्षादि की छाया (प्रतिबिम्बित) जल के साथ अभिन्न रूप में भासमान होती है, यद्यपि वृक्षादि की छाया एवं जल परस्पर भिन्न है तथापि स्वच्छ जल के साथ अभिन्न रूप में भासमान होता है। ऐसे ही यद्यपि जाति एवं व्यक्ति परस्पर भिन्न है तथापि लोकव्यवहार में व्यक्ति के साथ अभिन्न होकर सत्ता, द्रव्यत्व, पृथ्वीत्व जाति समूह ज्ञान का विषय होता है। निष्कर्ष यही हुआ कि जिस क्षण में कार्य व्यक्ति की उत्पत्ति है उस काल में ही जाति के द्वारा वह सम्बद्ध हो जाती है। क्षणान्तर के बाद उसमें रूपादि गुण की उत्पत्ति होती है।

अथास्मान्नियमादूर्ध्वजातयो याः प्रयोजिकाः।
ताः सर्वा व्यक्तिमायान्ति स्वच्छे छाया इवाम्भसि ॥

अथेति समुच्चये, उर्ध्वशब्देनानन्तर्यस्योक्तत्वात्। कारणशक्तिभिर्यदा व्यक्तिः स्वात्मनि नियमिता तदनन्तरं निष्ठासम्बन्धयोरेककालत्वात् कार्यव्यक्तिजातैव स्वजात्या सम्बध्यते प्रयोजिकया। निष्ठोत्तरकालं तु क्षणान्तरे रूपादिगुणोपजननाद् इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षात् संयुक्तसमवायेन रूपिद्रव्यसमवायाञ्जातयः प्रकाशन्ते। तद् यथा निर्मले जले वृक्षादीनां छाया प्रतिविम्बः जलाभेदेन, एवं व्यक्तिभिरैकात्म्यमिव प्राप्ता जातयोऽपि गृह्यन्त इति दृष्टान्तसाम्यम्। सर्वा इति सत्ताद्रव्यत्वपृथिवीत्वादयः। (वा० प०, पृ० ५६ ( त्रि० )

इसके बाद उत्पन्न कार्य व्यक्ति में गुण समूह की उत्पत्ति का उल्लेख किया जा रहा है। कार्य कारण का अनुविधायी है। पहले कारण की उत्पत्ति होती है, पश्चात् कार्य के अव्यवहित पूर्वकाल में कारण रहेगा—यही दार्शनिकों का सिद्धान्त है। युगपत् विद्यमान दो वस्तुओं में कार्य-कारण-भाव सम्भावित नहीं होता है। जैसे बायें और दाये गोशृंग में कार्य-कारण भाव नहीं होता है। द्रव्य ही समवायी कारण होता है। इसलिये समवायी कारण द्रव्य एक क्षण अर्थात् उत्पत्तिक्षण में निर्गुण रहता है। क्योंकि पहले ही कहा जा चुका है कि कारण कार्य के अव्यवहित प्राक्काल में रहेगा। इसलिये जो कार्य द्रव्य गुण का समवायी कारण बनेगा उस गुण के साथ एक काल में विद्यमान नहीं रह सकता है। इसलिये कार्य द्रव्य उत्पत्ति क्षण में निर्गुण रहता है—यही सिद्धान्त है।

अवयव में अवयवी समवेत होता है इसलिये अवयव, अवयवी का समवायी कारण है। जैसे तन्तु पट का समवायी कारण है। कपालद्वय घट का समवायी कारण है। समवायी कारण अवयव में विद्यमान गुण अवयवी में जो गुण उत्पन्न होता है उसका असमवायी कारण है। जैसे तन्तु का रूप पट के रूप का असमवायी कारण है। कपालरूप घट रूप का असमवायी कारण है। कारण का गुण कार्य द्रव्य में समान जातीय गुणान्तर का एवं अवयवी रूप जो समवायी कारण हैं उनके सहकृत होने से कार्य अवयवी में रूपादि की उत्पत्ति होती है। कारण दो प्रकार का है--समवायी एवं असमवायी। इन दोनों का स्वरूप प्रदर्शन किया गया है। उत्पन्न रूपादि स्वजातीय रूपत्व को अभिव्यक्त करता है। अदृष्ट के कारण, परमाणु समूह में क्रिया उत्पन्न होती है। क्रिया के बाद विभाग उत्पन्न होता है। विभाग के द्वारा परमाणु के पूर्व संयोग का नाश होता है। इसके बाद परमाणु के साथ उत्तर देश संयोग उत्पन्न होता है। इसके बाद पूर्व देश संयोग विनष्ट हो जाता है। इसी क्रम से परमाणु समूह परस्पर उपसृष्ट होकर द्व्यणुकादि क्रम में भोग के साधन पदार्थों को उत्पन्न करता है। भोग साधन के उत्पत्ति की सभी अवस्थाओं में क्रम रूपी काल शक्ति व्यापार रूप में विद्यमान है।

कारणानुविधायित्वादथ कारणपूर्वकाः।
गुणास्तत्रोपलभ्यन्ते स्वजातिव्यक्तिहेतवः॥

कारणानुविधायित्वेन पूर्वं कारणोत्पत्तेः पश्चात् कार्योत्पत्तिमाह। तेनैकस्मिन् क्षणे निर्गुणैव कार्यव्यक्तिः। ततोऽवयवगुणेभ्योऽसमवायिकारणेभ्यः स्वावयविसमवायिकारणसहितेभ्योऽवयविनि रूपाद्युत्पत्तिः। उत्पन्नाश्च रूपादयः स्वजाती रूपत्वादिकाः समभिव्यंजयन्ति। अदृष्टवशात् परमाणुषु क्रियोत्पन्ना पूर्वदेशसंयोगविभागविनाशपूर्वकं परस्परोपश्लेषेण द्व्यणुकादिप्रक्रमेण भोगेसाधनान् पदार्थानुत्पादयतीति पिण्डितार्थः। अत्र च सर्वत्र क्रमाख्या काल-शक्तिः सव्यापारेत्यभ्यनुज्ञेयम्। वा० प०, पृ० ५६-५७ ( त्रि० )

इस विषय के सम्बन्ध में वाक्यपदीयकार ने पहले भी कहा है--

काल एव हि विश्वात्मा व्यापार इति कथ्यते।

वा० प०, पृ० ५३ ( त्रि० )

जिन कार्य व्यक्तियों का आश्रय अर्थात् कारण नित्य है उन कार्य

व्यक्तियों की अवस्थिति होती है। क्योंकि कारणविनाशपूर्वक कार्य का विनाश होता है। जब तक कारण की निवृत्ति नहीं होती है तब तक कार्य व्यक्ति की भी निवृत्ति नहीं हो सकती है। कारण जहाँ नित्य है और नित्य होने के कारण जहाँ कारण का विनाश नहीं होता है वहाँ कार्य व्यक्ति का भी विनाश नहीं होता है। इसलिये परमाण्वादि जो कारण है वह नित्य होने के कारण कार्य व्यक्ति का उपकार करता है। उपकार नित्य परमाण्वादि कारण कार्य व्यक्तियों का स्थापक बनकर कार्य व्यक्तियों का अवस्थापन करा देता है। यदि ऐसा नहीं होता तब तो कार्य-व्यक्तियों के आधार के विनष्ट होने के कारण कार्य व्यक्ति का किसी भी स्थिति में अवस्थान नहीं हो सकता था। विषय स्पष्ट करने के लिये दृष्टान्त का भी उल्लेख हो सकता है ·····पार्थिव घट का मूल कारण पार्थिव परमाणु है। पार्थिव परमाणु नित्य है। पार्थिव परमाणु समूह के द्वारा घट जब तक उपगृहीत रहेगा तब तक घट का निरन्वय विनाश किसी भी उपाय से नहीं हो सकता है। क्योंकि पार्थिव घट का कारण परमाणु नित्य है। उसी के अनुग्रह से घट विद्यमान रहता है। यदि ऐसा स्वीकार नहीं किया जाय तो कार्य घट की स्थिति भी नहीं होगी। जहाँ कार्य व्यक्ति-समूह का आश्रय अनित्य है वहाँ कार्य व्यक्ति समूह में आश्रित जाति समूह के नित्य होने के कारण कार्य का अवस्थान सम्भव होता है।

इस स्थिति में कार्य व्यक्ति के अवस्थान में जाति का ही अनुग्रह कारण है। क्योंकि अनित्य होने पर भी कार्य व्यक्ति के नियत जाति के द्वारा अनुगृहीत होने के कारण नियत जाति के रूप में अवस्थान सम्भव होता है। उस कार्य व्यक्ति में नियत जाति की विद्यमानता ही उस कार्य व्यक्ति के अवस्थान को सम्भव कराती है। यदि ऐसा नहीं होता तब तो उस कार्य व्यक्ति का आश्रय सामान्य समूह का विनाश स्वीकार किया जाता। तब तो द्रव्य समूह अव्यवहार्य होकर अनवस्थित हो जाता। अवस्थान विनाश का विरोधी है। जिस कार्य व्यक्ति का कारण अनित्य है वह कार्य व्यक्ति यदि अपनी जाति से भी असम्बद्ध हो जाय तब उसका स्वरूप निर्द्धारण ही असम्भव हो जायगा। इसका फल यह होगा कि उस निःस्वरूप द्रव्य के द्वारा किसी तरह का व्यवहार के निष्पन्न न होने के कारण वह

अनवस्थित रूप में परिगणित हो जायगा। इस आशय की अभिव्यक्ति काव्य-प्रकाश में उद्धृत उक्ति से भी स्पष्ट होती है।

आश्रयाणां च नित्यत्वमाश्रितानां च नित्यता।
ता व्यक्तीरनुगृह्णाति स्थितिस्तेन प्रकल्पते॥

यासां तावत् कार्यव्यक्तीनां नित्या आश्रयाः कारणानि, तासां कारणविनाशपूर्वकस्य विनाशस्याभावादवस्थितत्वम्। अतश्च परमाण्वादीनां कारणानां नित्यत्म-कर्तृ ताः कार्यव्यक्तीरुपकरोति, स्थापकत्वेनावस्थापनात्। अन्यथाऽऽधारविनाशान्नावतिष्ठेरन्। अनित्याश्रयणामपि कार्यव्यक्तीनामाश्रितानां जातीनां नित्यत्वादविनाशकारणमवस्थानं स्वजातिभिरेवानुगृह्यते, तावन्तं कालं नियतजातीयतयावस्थानसम्भवात्। अन्यथाधेयानां सामान्यानामपाये द्रव्याण्यव्यवहार्यत्वादस्थितकल्पानि स्युः। ( वा० प०, पृ० ५७ ( त्रि० )

.....नहि गौः स्वरूपेण गौः नाप्यगौः गोत्वामिसम्बद्धात्तु गौः।
( का० प्र० पृ० ३३ ( आ० )

जिस प्रकार उत्पत्ति पराधीन है वैसे ही कार्य व्यक्ति की स्थिति भी पराधीन ही समझनी चाहिए। आशय यह है कि कारण को छोड़कर कार्य व्यक्ति भी उत्पन्न नहीं हो सकती है। इसलिये उत्पत्ति जैसे कारण परतन्त्र है इसी प्रकार कारण का अवलम्बन नहीं कर कार्य-व्यक्ति स्वतः अवस्थित नहीं हो सकता है, अगर उत्पन्न भी हो जाय तब वह उत्पन्न व्यक्ति अपनी उत्पत्ति के बाद ही विनष्ट हो जायगा। इसका फल यह होगा कि विनाश के लिये ही उसकी सृष्टि हुई है—यह मानना पड़ेगा। उत्पन्न-विनष्ट कार्य व्यक्ति से किसी प्रकार अर्थ क्रिया निष्पन्न नहीं हो सकती है। परन्तु यह लोकव्यवहार सिद्ध है कि कार्य व्यक्ति की उत्पत्ति किसी न किसी अर्थक्रिया की निष्पत्ति के लिये ही होती है। इसलिये कार्य व्यक्ति की उत्पत्ति अर्थ न हो जाय इसके लिये उत्पन्न कार्य-व्यक्ति को स्थिति कारणायत्त है। यही वैशेषिक दार्शनिक स्वीकार करते हैं।

अनित्यस्य यथोत्पादे पारतन्त्र्यं तथा स्थितौ।
विनाशायैव तत् सृष्टमस्वाधीनस्थितिं विदुः॥

कारण विनोत्पत्त्यभावाद्, यथाऽसौ तत्परतन्त्रा तथा कारणावष्टम्भमन्तरेण स्वतः स्थित्यभावात् कृतकमुत्पत्त्यन्तरमेव प्रध्वंसमियादिति विनाशायैव तत् सृष्टं स्याद्, नार्थक्रियार्थमित्यर्थः। तस्मा

भूदस्यापार्थकं जन्मेति कारणयत्तस्थितिकं तन्मन्यते—वैशेषिकाः।

( वा० प०, पृ० ५७ त्रि० )

इसमें क्षणभंगवादी बौद्ध दार्शनिकगण यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि सभी वस्तु को क्षणिक ही स्वीकार करना चाहिए, कारण, वस्तु के उत्पत्तिक्षण के बाद ही उसका विनाश हो जाता है। यदि वस्तु को स्थिर स्वीकार किया जाय, क्षणिक स्वीकार नहीं किया जाय तब तो उन स्थिर वस्तुओं से अर्थक्रिया कभी भी निष्पन्न नहीं हो सकती है। कारण, स्थिर वस्तु यदि अर्थ-क्रिया का निष्पादन करे तब तो उसका दो प्रकार से अर्थ क्रिया का निष्पादन हो सकता है, चाहे वह किसी क्रम को ( पौर्वापर्य ) अवलम्बन करे या युगपत् हो। परन्तु इन दोनों प्रकार से ही स्थिर वस्तु के लिये कार्य निष्पादन करना सम्भव है।

बौद्ध दार्शनिकों के इस आशय को व्यक्त करते हुए सर्वदर्शन-संग्रहकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है:—पूर्वोल्लिखित अर्थक्रिया-कारित्व क्रम और अक्रम के द्वारा व्याप्त है। जहाँ-जहाँ अर्थक्रिया-कारित्व है वहाँ-वहाँ क्रम या अक्रम स्वीकार करना पड़ेगा। क्रम-अक्रम परस्पर विरुद्ध है। क्रम एवं अक्रम को छोड़कर कोई तृतीय प्रकार सम्भव नहीं है। स्थिर वस्तु जब क्रम एवं अक्रम इन दोनों में एक का अवलम्बन कर अर्थक्रिया निष्पादन नहीं कर सकता है तब यही सिद्ध होता है कि स्थिर वस्तु में अर्थक्रियाकारित्व ही सम्भावित नहीं है। कारण, स्थिर वस्तु में व्यापक क्रमाक्रम के अभाव में अर्थ-क्रियाकारित्व भी नहीं रहेगा। इसलिए अर्थक्रियाकारित्व का सिर्वाह कराने के लिये सभी वस्तुओं में क्षणिकत्व स्वीकार करना पड़ेगा।

प्रश्न हो सकता है कि अक्षणिक का अर्थ-क्रियाकारित्व क्यों नहीं हो सकता? इसके उत्तर में बौद्ध दार्शनिक कहते हैं कि इस प्रकार शंका प्रदर्शन करना सर्वथा अनुचित है। कारण, पूर्वोक्त शंका विकल्पसह नहीं हो सकती है। क्योंकि, तब इसमें यही विकल्प होगा कि अक्षणिक स्थायी वस्तु वर्तमान काल में अर्थक्रिया निष्पादन करती है। उस समय में उसी अक्षणिक वस्तु में अतीत एवं भविष्य-त्काल विषयक अर्थक्रिया सामर्थ्य है या नहीं? अगर पूर्व कल्प स्वीकार किया जाय तब तो भूत एवं भविष्यत्कालिक घट रूप कार्य व्यक्ति की भी उत्पत्ति की प्रसक्ति होगी अर्थात् युगपत् त्रैकालिक-घट निष्पत्ति रूप अर्थ क्रिया सम्भव हो जायगी। कारण, अर्थक्रिया

निष्पादन समर्थ वस्तु काल का व्यवधान सहन नहीं करती है। जो कारण जिस काल में जिसको निष्पादन करने में समर्थ है वह कारण उसी काल में उसी कार्य को निष्पन्न करता ही है। जैसे कारण-सामग्री अपने कार्य का निष्पादन करती है वस्तु को यदि अक्षणिक स्वीकार किया जाय तब वह समर्थ होने के कारण वर्तमान अतीत एवं भविष्यत् को युगपत् निष्पन्न करेगा। कारण, अक्षणिकवादियों ने तो प्रथम विकल्प के अनुसार वस्तु का अर्थक्रिया निष्पादन-सामर्थ्य स्वीकार कर लिया है। यदि द्वितीय विकल्प के अनुसार स्थायी अक्षणिक वस्तु जो वर्तमान काल में अर्थ-क्रिया कर रही हो, उसका अतीत एवं भविष्यत्कालिक अर्थक्रिया, सामर्थ्य स्वीकार नहीं किया जाय तब तो वह कदापि अर्थक्रिया का निष्पादन नहीं कर सकेगा। कारण, वस्तु का अर्थ क्रियाकारित्व सामर्थ्यमान-निबन्धन है। जो वस्तु अर्थक्रिया निष्पादन में समर्थ है वह अर्थक्रिया का निष्पादन नहीं करे, ऐसा नहीं हो सकता है। अर्थ क्रिया निष्पादन में समर्थ वस्तु के अर्थ निष्पादन विषय में और किसी बाह्य सहकारी की अपेक्षा नहीं है। यदि समर्थ होकर भी अर्थक्रिया का निष्पादन नहीं कर रहा है तब समझना चाहिये कि उसमें सामर्थ्य ही नहीं है।

प्रश्न होता है कि वस्तु का अर्थक्रियाकारित्व वस्तु का सामर्थ्य मानानुबन्धी है। या सामर्थ्य वस्तु का स्वभाव है। अपने स्वभाव को छोड़कर वस्तु का स्वरूप अवधारण ही सर्वथा असम्भव है और इसका निष्कर्ष इस रूप में प्रतिपादित किया जा सकता है कि जो वस्तु जिस काल में जिस अर्थक्रिया का निष्पादन नहीं करता है वह वस्तु उस काल में पूर्वोक्त अर्थक्रिया निष्पादन में असमर्थ है। जैसे शिलाखण्ड अंकुर के उत्पादन रूप अर्थ क्रिया निष्पादन में असमर्थ है।

स्थायी अक्षणिक वस्तु वर्तमान काल में अर्थक्रिया निष्पादन-समर्थ में अतीत एवं भविष्यत्कालीन अर्थक्रिया का निष्पादक नहीं होता है। इसलिये अक्षणिक में अर्थक्रिया सामर्थ्य स्वीकार करना असम्भव है। प्रश्न होता है कि स्थायी वस्तु जो सहकारी लाभ करता है वह क्रमिक ही लाभ करता है। इसलिये स्थायी वस्तु के क्रमिक सहकारिता लाभ करने से वह पूर्वोक्त स्थायी वस्तु अतीत एवं भविष्यत्कालीन अर्थक्रियाकारित्व को क्रमिक रूपसे ही निष्पादन

करता है। इसमें तो स्थायित्व के अर्थक्रिया निष्पादन स्वीकार करने में किसी प्रकार का असामंजस्य नहीं है।

इसके उत्तर में बौद्ध दार्शनिकों की जिज्ञासा है कि स्थायी वस्तुवादियों में जिसे सहकारी का उल्लेख किया है वह उस सहकारी स्थायी वस्तु का कुछ उपकार करता है या नहीं? यदि सहकारी स्थायी वस्तु में कोई उपकार नहीं करता है, तब तो स्थायी वस्तु सहकारी की अपेक्षा ही नहीं करेगी। कारण, जो कुछ भी उपकार नहीं करता है उसके लिये स्थायी वस्तु को कुछ भी अपेक्षा नहीं हो सकती है। वस्तु क्षणिकवादी यदि कहना चाहते हैं कि स्थिर वस्तु पूर्वोक्त सहकारी को साथ कर उस सब सहकारी के साथ भी कार्य का निष्पादन करता है तो यह स्थिर वस्तुओं का स्वभाव है तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि वस्तु तो जो सहकारी अक्षणिक वस्तुओं का स्वभाव बनाता है उसका तो कभी भी त्याग नहीं करेगा, कारण स्वभाव का त्याग कहीं भी देखने में नहीं आता है।

इसमें अन्य कथन है कि पूर्वोक्त सहकारी स्थायी भाव का जो उपकार करेगा यह उपकार भाव से भिन्न है? यदि भिन्न है, तब तो कोई आगन्तुक वस्तु ही कारण हो जायगी। अभिप्रेत अक्षणिक भाव में कारणत्व नहीं रहेगा। आगन्तुक अतिशय के साथ कार्य का अन्वयव्यतिरेक अवधृत हो जायगा। जहाँ आगन्तुक अतिशय रहेगा वहां कार्य उत्पन्न होगा, जहां आगन्तुक अतिशय नहीं रहेगा वहां कार्य नहीं होगा। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक के द्वारा आगन्तुक अतिशय ही अर्थ क्रिया का निष्पादक हो जायगा। अक्षणिक भाव किसी भी रूप में अर्थक्रिया का निष्पादक नहीं बन सकेगा। इस प्रकार की अनुपपत्ति देखकर बौद्ध दार्शनिकों ने क्षणिक भाव में ही अर्थक्रियाकारित्व स्वीकार किया है। स० द० सं०, पृ० २०–२२ ( पूना )

अवसान में सभी पदार्थों का विनाश देखने में आता है। अतएव वस्तु उत्पन्न होकर ही विनष्ट होता है––यही स्वीकार करना उचित है। वस्तु की स्थिति में कोई प्रमाण नहीं है। वस्तु की स्थिति कराने के लिये किसी प्रकार की अपेक्षा भी नहीं है। कारण, जो वस्तु को स्थिर सिद्ध करना चाहते हैं वे तो स्थिर वस्तु के द्वारा अर्थ-निष्पादन कराने के लिये ही वस्तु को स्थिर मानना चाहते हैं।

परन्तु स्थिर वस्तु से अर्थक्रिया निष्पन्न नहीं हो सकती है--इसका विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। निष्कर्ष यही होता है कि वस्तु उत्पन्न होकर ही विनष्ट होती है, उसकी स्थिति का सर्वथा अभाव समझना चाहिए।

इस शंका का समाधान वाक्यपदीयकार कर रहे हैं। उनका कथन है कि सहकारिकारण-समूह के द्वारा अनुगृहीत भाव (वस्तु) अर्थक्रिया-सम्पादन में समर्थ होती है। कोई भी एक वस्तु किसी भी कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकती है। कारण, अनेक के द्वारा किसी कार्य की निष्पत्ति होती है। जब तक कारण-सामग्री का समवधान नहीं होता है तब तक किसी भी क्रिया की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसलिए सहकारियों का अस्तित्व (स्थिति) अस्वीकार कर किसी कार्य में उनका अन्वय-व्यतिरेक का व्यापार नहीं देखा जाता है। निष्कर्ष यह है कि तत्तत्सहकारी कारण को लाभ कर स्थिर वस्तु क्रम रूप से अनेक कार्यों का कर्ता बनता है। इसी तत्तत्सहकारी को प्राप्त कर क्रमिक रूप में जो अनेक कार्यों का कर्तृत्व है उसी को स्थिति समझना चाहिए। वस्तुओं की स्थिति को स्वीकार नहीं करने से सहकारित्व लाभ कर जो सहभावी अनेक कार्य-कर्तृता वस्तु में देखने में आते हैं, वे उपपन्न नहीं होंगे। इससे यही सिद्ध होता है कि उपपन्न भाव (वस्तु) की स्थिति पर्यन्तता काल के द्वारा अन्वानुज्ञात होता है।

यदि पूछा जाय कि सहकारी कारण समुदाय भाव का क्या उपकार करता है तो इसके उत्तर में यही कहा जायगा कि एक साथ में कार्य का निष्पादन करना ही सहकारी का रूप है। सहकारण ही सहकारी शब्द के द्वारा प्रतिपादित होता है। यही उसका प्रयोजन है। प्रतीति के अनुसार वस्तुओं के स्थिरत्व का वैशेषिक दार्शनिकों ने समर्थन किया है। प्रतीति की मर्यादा सभी स्वस्थ चेता व्यक्तियों का मान्य है। उत्पन्न वस्तुओं की स्थिति को अस्वीकार करने से प्रतीति का अपलाप करना पड़ेगा। यही वैशेषिक आचार्यों का कथन है।

स्थितः संसर्गिभिर्भावैः स क्रियास्वनुगृह्यते।
नैषां सत्तामनुद्गृह्य वृत्तिर्जन्मवतां स्मृता॥

संसर्गिभिः सहकारिभिः अनुगृहीतो भावोऽर्थक्रियासु योग्यः। न

ह्येकं किञ्चन जनकं, सामग्रीतः क्रियासिद्धिरित्येषां संसर्गिणां सहकारिणां सत्त्वमस्वीकृत्य कार्ये वृत्तिर्व्यापारो नास्ति जातानां भावानाम् । तदेवं क्रमभाव्यनेक-कार्य-कर्तृत्वं तत्तत्सहकारिप्राप्तौ स्थितिलक्षणमुपपद्यते । तथा च स्थितिपर्यन्ताभ्यमुशोपपत्तिः । यतु सहकारिणः किं कुर्वन्ति इति चोद्यते, तत्र सहकरणमेव सहकारार्थोऽतिशयादेरन्यत्र विचारितत्वाद् यथाप्रतीति स्थिरत्वं समर्थितं तद्वादिभिः । ( वा० प०, पृ० ५७–५८ ) (त्रि०)

पहले यह कहा जा चुका है कि काल प्रतिबन्ध एवं अभ्यनुज्ञा के द्वारा विश्व का निर्माण करता है । काल का वह प्रतिबन्ध रूप व्यापार क्या है यही प्रदर्शित किया जा रहा है । काल जरा नामक शक्ति है । काल शक्ति का नाम जरा इसलिये कहा गया है कि इसके द्वारा पदार्थ जीर्ण हो जाता है । काल की जरा नामक शक्ति प्राणी एवं अप्राणी साधारण की जो यौवनादि अन्य शक्ति है, उस शक्ति की प्रतिबन्धिनी है । यह काल की जरा शक्ति, कार्यव्यक्तियों की अर्थक्रिया में जो सामर्थ्य है उसका प्रतिबन्धन करती है । कार्यव्यक्ति समूहों के अर्थक्रिया समूह में जो सामर्थ्य है वह एक काल से भिन्न कालान्तर में अवस्थान के द्वारा ज्ञात होता है । पूर्वोक्त जरा नामक काल की शक्ति से पदार्थों का जो अर्थक्रिया में सामर्थ्य है उसका विरोधी अवस्थाविशेष-समूह प्राणी एवं अप्राणी समूहों में प्रादुर्भूत होता है । पूर्वोक्त अवस्था विशेष समूह प्राणियों में प्रज्ञा की कमी एवं अप्राणियों की शुष्कता प्रभृति के रूप में उत्पन्न होता है । इसके फलस्वरूप प्राणी एवं अप्राणी दोनों का ध्वंस निकटवर्ती प्रतीत होता है ।

सा शक्तिः कालशक्तिर्या शक्त्यन्तरविरोधिनी ।
सा शक्तिं प्रतिबध्नाति जायन्ते न विरोधिनः ॥

जीर्यते भावोऽनयेति जरा नाम कालस्य शक्तिः प्रायप्राणिसाधारणयौवनादिशक्त्यन्तरप्रतिबन्धिनी कार्यव्यक्तीनां कालान्तरपरिवासावधृतार्थक्रियासु सामर्थ्यं विघ्नयति । ततश्च सामर्थ्यविरोधिनोऽवस्थाविशेषाः प्रायप्राणि प्रज्ञामान्द्यशोषादयः प्रादुर्भवन्ति यतः प्रध्वंसः प्रत्यासन्न इति लक्ष्यते । वा० प०, पृ० ५८ ( त्रि० )

पहले ही कहा जा चुका है कि भाव समूह की स्थिति सहकारी कारण के अधीन है । पदार्थ समूह की स्थिति में सहकारी भाव

समूह को प्रयोजक नाम से उल्लेख किया जाता है। जब कार्य जरा के द्वारा अधिष्ठित होता है तब वह प्रयोजक वर्ग जो एकसमय में कार्य की स्थिति में सहकारी था, वह निवृत्त हो जाता है। जैसे कृतघ्न व्यक्ति दीर्घ काल तक एक स्थान पर रहने पर भी कालान्तर में संसर्ग परित्याग कर दूसरे स्थान में चला जाता है। प्रयोजक सहकारी भाव समूह के निवृत्त हो जाने के बाद अवस्थित पदार्थ के स्वरूप की प्रच्युति होती है। वह अपने स्वरूप में अवस्थान नहीं कर पाता है। उसके द्वारा निष्पाद्य कार्य निष्पन्न हो जाता है और इसके सहकारी समूह के निवृत्त होने के कारण पूर्वोक्त भाव पदार्थ अपने स्वरूप से प्रच्युत होकर अवस्थान करता है।

प्रयोजकास्तु ये भावाः स्थितिभागस्य हेतवः।
तिरोभवन्ति ते सर्वे यत् आत्मा प्रहीयते॥

प्रवर्तिताः ते सर्वस्य स्वकार्यभावाः संसर्गिभिः सहकारिभिः स्थित्यंशहेतवः। ते सर्वस्य जरसाधिष्ठतस्य कृतघ्ना इव सहोषिता अपि निवर्तन्ते तेषु निवृत्तेषु कृतकरणीयस्यास्य भावस्य स्वरूपं प्रच्यवते। ( पा० प०, पृ० ५८ त्रि० )

विनाश कारण से विश्व का विनाश होता है—ऐसा नहीं समझना चाहिए। यह पहले ही प्रदर्शित किया गया है कि उत्पत्ति के पहले विश्व को सद्रूप अथवा असद्रूप—दोनों में एक प्रकार भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अगर यह स्वीकार किया जाय कि सद्रूप विश्व की उत्पत्ति होती है तब विश्व की उत्पत्ति में कारण का व्यापार व्यर्थ हो जायगा। जो सत् अथवा विद्यमान है उसे उत्पादन करने के लिये कारण व्यापार का कोई प्रयोजन नहीं है। वैसे ही, विश्व को अगर असत् स्वीकार किया जाय तब भी विश्व की उत्पत्ति के लिये कारण व्यापार का कोई प्रयोजन नहीं है। कारण व्यापार के द्वारा असत् की उत्पत्ति नहीं दीख पड़ती है। इसलिए विश्व की उत्पत्ति के बारे में जो सत् एवं असत्—प्राचीन आचार्यों के ये दो पक्ष प्रचलित हैं, इन दोनों पक्षों में भी विश्व की उत्पत्ति में कारण व्यापार की कोई अपेक्षा नहीं है। इसलिए, विश्व का अनारोपित रूप क्या है—इसका अवधारण करना असम्भव है। यह विश्व पूर्वपक्षियों के किसी अभिप्रेत कारण से उत्पन्न नहीं हुआ है। विश्व की उत्पत्ति

में कारण व्यापार की अपेक्षा नहीं रहने के कारण उसमें पौर्वापर्य की कल्पना नहीं हो सकती है। जहां कार्य कारण शृङ्खला को स्वीकार किया गया है वहीं क्रम अथवा पौर्वापर्य की सम्भावना हो सकती है। विश्व की उत्पत्ति में जब कारण व्यापार सम्भावित नहीं है तब उस स्थिति में क्रम रूप पौर्वापर्य भी नहीं रह सकता है एवं पूर्वोक्त विश्व-सृष्टि-क्रिया में किसी अंश की भी परिकल्पना नहीं की जा सकती है। इसलिए विश्व की उत्पत्ति क्रमरहित मानी गई है। क्रमरहित एवं कारण रहित विश्व उत्पन्न होकर स्थित है—ऐसा ही दीख पड़ता है।

इस आशय को पहले ही वाक्यपदीयकार ने विश्व की विवर्त्त-रूपता के प्रतिपादन प्रसंग में प्रदर्शित किया है। केवल विश्व की उत्पत्ति ही क्यों विश्व के विनाश के विषय में भी चिन्तन करके देखिये। विश्व के विनाश को भी अगर क्रिया रूप स्वीकार किया जाय तब तो विश्व की विनाश अवस्था में भी भाव रूप स्वीकार करना पड़ेगा। इससे विश्व की विनाश ही अनुपपन्न हो जायगा। कारण, विनाश तो अभाव रूप है। उसे भावरूप कैसे स्वीकार किया जा सकता है? इसलिए विश्व का विनाश क्रियारूप स्वीकृत नहीं है। तब तो यही कहना उचित है कि विश्व के विनाश में भी कोई कारण नहीं है। काल के अवस्थान निबन्धन ही पदार्थ समूहों का विनाश है। विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय कालकृत प्रतिबन्ध एवं अभ्यनुज्ञा के द्वारा सम्भव होते हैं। इसलिये पूर्वोक्त सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय को काल का ही व्यापार समझना चाहिए। काल के व्यापार को छोड़कर उत्पत्ति स्थिति एवं प्रलय नामक और कोई पृथक् क्रिया नहीं है। विश्व में क्रिया रूप से जो प्रतीत होते हैं वे सभी काल के ही व्यापार है। इसलिए भर्तृहरि ने कहा है कि पदार्थ समूह की प्रत्येक अवस्था मे काल को ही व्यापारशील समझना चाहिए।

यथैवादभुतया वृत्त्या निष्क्रमं निर्निबन्धनम्।
अपदं जायते सर्वं तथास्यात्मा प्रहीयते॥

जन्मनि सदसत्पक्षभेदेन पूर्वं कारणव्यापारस्य व्युदासादविभावितत्तत्त्वमविद्यमानकारणभूतनिन्धनम्। अतएव कारणव्यापाराभावात् पौर्वापर्येणांशांशिकयानिष्पद्यतेरक्रमं विश्वभाजायमानमुपलक्ष्यत इति

पूर्वमेव विवर्तचिन्तायां निर्णीतमेतत्। एवं विनाशेऽपि क्रियमाणतायां भावतापत्तेर्निबन्धनमेव प्रहाणं कालपरिवासाधीनं भावानामित्यर्थः। तदेवं सर्वस्थितिप्रलयानां कालकृतप्रतिबन्धाभ्यनुज्ञावशेन सम्भव इति विश्वात्पुनः कालस्य व्यापारोऽत्र सर्वत्रेति निर्णीतम्।

( वा० प०, पृ० ५८ त्रि० )

सम्प्रति वाक्यपदीयकार काल का क्रिया परिच्छेदकत्व प्रतिपादन कर रहे हैं। क्रिया अनेक क्षणों का समाहार रूप है। पूर्वोक्त क्षण-समूहों का समाहार युगपत्--अर्थात् एक काल में संभावित नहीं है। इसलिए क्षण समूह का समाहार रूप जो क्रिया है उसमें क्रम भासमान होता है। जब युगपत् अनेक क्षणों का समाहार संभावित नहीं है तब तो क्रम का अवलम्बन करके ही सम्भव होगा। क्रम एवं यौगपद्य परस्पर विरोधी हैं। निष्कर्ष यही हुआ कि अनेक क्षणसमाहाररूप क्रिया जो क्रमानुविद्ध होकर भासमान होती है वह कालशक्ति के द्वारा अनुगृहीत होकर ही इस रूप में प्रतीयमान होती है। सभी क्रम काल का धर्म है। इसलिए अनेक क्षणसमाहारात्मिका क्रिया है क्रिया में जो क्रम भासमान होता है वह काल का ही धर्म है। लोकव्यवहार में देखने में आता है कि दो पृथक् पृथक् क्रियाओं की उत्पत्ति के बाद ध्वंस होना--इन दोनों समान रहने पर भी विलम्ब से की गई ( क्रिया ), क्षिप्र ( शीघ्र ) की गई--इस प्रकार क्रिया का विलक्षण परिच्छेद बिना एक सम्बन्धी के सम्भव नहीं होता है। इस एक क्रिया के परिच्छेद सम्बन्धी को उपाधि रूप समझना चाहिए। यह एक सम्बन्धी उपाधि काल है। यह परिच्छेदक है, क्रिया परिच्छेद्य है। भर्तृहरि ने जो इस प्रसंग में, नानार्थसमवेतयोः--कहा है, इसका आशय यही है कि आश्रय के भेद से क्रिया का भेद होता है। इससे पूर्वोक्त व्यवहार का जो उल्लेख किया गया है उस स्थल में एक अभिन्न क्रिया को निमित्त रूप से ग्रहण कर उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती है। कारण, आश्रय भेद से क्रिया का भेद होता है। इसलिये एक अभिन्न क्रिया पूर्वोक्त स्थल में प्रतीत नहीं हो सकती है। पट दीर्घकाल में निर्मित हुआ--प्रभृति स्थल में आश्रय भेद निबन्धन क्रिया भेद के होने पर भी काल अभिन्न रूप में अनुवृत्त होता है।

क्रिया भिन्न आश्रय में जहाँ समवेत होती है वहां उसका भेद हो जाता है। जैसे पूर्वोक्त स्थल में घट एवं पट रूप आश्रय का भेद

होने के कारण इन दोनों में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान क्रिया भिन्न हो गई है। इसलिए भिन्न-भिन्न क्रिया पूर्वोक्त स्थल में अनुवृत्त प्रतीति नहीं करा सकती है। आश्रय भेद निबन्धन भिन्न भिन्न क्रिया जैसे पूर्वोक्त स्थल में अनुवृत्त प्रतीति नहीं करा सकती है वैसे ही घट पटादि कार्य द्रव्य भी पूर्वोक्त व्यपदेश का—अर्थात् पट दीर्घ काल में किया गया, घट दीर्घ काल में किया गया—इस प्रकार अनुवृत्त व्यपदेश नहीं करा सकता है। कारण, कार्य द्रव्य घट परस्पर भिन्न हैं। परस्पर भिन्न द्रव्य अभिन्न व्यपदेश का कारण नहीं हो सकता है। अभेद व्यवहार के लिये कोई एक अभिन्न वस्तु चाहिए। अगर यह कहा जाय कि पूर्वोक्त व्यपदेश का कारण ही अभिन्न व्यवहार का कारण हो जायगा, तो यह भी अनुचित है। क्योंकि कारण भी प्रकृतस्थल में अनुवृत्त हो रहा है। पूर्वोक्त स्थल में कारक अगर अभिन्न रूप में प्रतीयमान होता तब तो अभेद व्यपदेश का कारण भी बन सकता था। पट में विद्यमान कारकत्व, घट में विद्यमान कारकत्व से भिन्न है। इसलिए पूर्वोक्त अभेद व्यवहार के कारण को काल समझना चाहिए। यह काल भी अगर भिन्न होता तब तो पूर्वोक्त स्थल में किसी भी हालत में अनुवृत्त ज्ञान नहीं हो सकता था। इसलिए भर्तृहरि ने सम्बन्धिना विनैकेन—इस स्थल में एकेन पद का व्यवहार किया है। काल एक होने के कारण अनुवृत्त को उत्पन्न करता है।

क्रिययोरपवर्गिण्योर्नानार्थसमवेतयोः।
सम्बन्धिना विनैकेन परिच्छेदः कथं भवेत्॥

इह क्रिया तावदनेकक्षणसमाहारात्मिका युगपत् क्षणानामभावात् सक्रमेति कालशक्त्यनुगृहीतैव। सर्वः क्रमो किं कालधर्मः। द्वयोश्च क्रिययोरुदयानन्तरध्वंसित्वे समानेऽपि चिरेण कृतं क्षिप्रं कृतमिति विलक्षणः परिच्छेदो विनैकं सम्बन्धिनमुपाधिभूतं नावकल्पते। नानार्थसमवेतयोरित्यनेनाश्रयमेदात् क्रियाभेदमाह। ततश्च नैकक्रियानिमित्तोऽयं व्यपदेशः। पटश्चिरेण कृतो घटश्चिरेण कृत इत्याश्रयभेदे प्यनुवृत्तेः। क्रियाया भिन्नाश्रयसमवेता भेदे सति तदनुपपत्तेः। अतएव न कार्यद्रव्यनिमित्तोऽयं व्यपदेशः ( कार्यद्रव्यस्यः भेदादभिन्नव्यपदेश हेतुत्वानुपपत्तेः। न च कारकादि निमित्तमत्र, तस्यापि भेदस्यानुवृत्तेः तस्मात् यदत्र निमित्तं स कालः सोऽपि चेद् भिन्नो

नासावनुवृतः प्रत्ययः स्यादित्युक्तमेकेनेति, एकोहि साधारणं यत् कालाऽनुवृत्तं प्रत्ययं जनयति। ( वा० प०, पृ० ५६ त्रि० )

इसमें फिर यह शंका होती है कि चिरेण कृतं क्षिप्रं कृतं—प्रभृति स्थल में चिर, क्षिप्र इत्यादि जो विलक्षण व्यवहार है वह किससे उपपन्न होता है ? कारण, काल को तो एक कहा गया है। एक तो अविलक्षण प्रतीति का कारण हो सकता है। परन्तु चिर क्षिप्र इत्यादि जो काल की विलक्षण प्रतीति होती है--उसके साथ अभिन्न काल को लेकर कैसे सामंजस्य हो सकता है ? इसके समाधान में भर्तृहरि ने एक सुन्दर दृष्टान्त दिया है। उन्होंने कहा है कि सुवर्ण एवं रजतादि द्रव्य में गुरुत्व समवाय सम्बन्ध से अवस्थान करता है। उसे एक ही तुलादंड पलादि ( परिमाण ) रूप में परिच्छेद करता है। तुलादण्ड में वैलक्षण्य यही है कि यह तुला-दण्ड एक होने पर भी उसमें विद्यमान रेखा एवं सूत्र के सम्बन्ध से तुलादण्ड में भेद प्रतीति होती है। एक ही तुलादण्ड की रेखा एवं सूत्र के सम्बन्ध को भेदक उपाधि कहा जाता है। रेखा एवं सूत्र सम्बन्ध रूप उपाधि के द्वारा उपहित भेद तुलादण्ड पलादि परिमाण रूप में सुवर्ण रजतादि में विद्यमान है वह शक्ति सम्बन्धप्रयुक्त काल विश्व रूप लाभ करता है। काल एक होने पर भी उसके शक्ति महात्म्य निबन्धन अनन्त रूप में भासमान होता है। इसका फल यह होता है कि पूर्वोक्त प्रकार से काल क्रिया सन्तान में निमेषादि जो क्रिया है, उन क्रियाओं के भेद से नानात्व भासमान होता है। निमेषादि क्रियाओं का भेद उपाधि है। इस उपाधि के द्वारा उपहित होने के कारण क्रिया सन्तान में नानात्व प्रतीत होता है। इस प्रसंग में यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी एक क्रिया के अभ्यन्तर में अगण्य क्रियाएँ विद्यमान हैं। सबसे अपकृष्ट क्रिया है चक्षु का उन्मेषनिषादि। इसे छोड़कर कोई अवकृष्टतर क्रिया नहीं हो सकती है। ये ही उन्मेषनिमेषादि क्रियाएँ जिस क्रिया सन्तान में अधिक होती हैं उस क्रिया सन्तान से जिस क्रिया सन्तान में उन्मेषनिमेषादि क्रिया स्वल्प होती है, १-विलक्षण है। इस प्रकार निमेषादि क्रिया भेदरूप उपाधि के द्वारा उपहित नानात्व क्रिया सन्तान को पूर्वोक्त काल चिर एवं अचिरादि रूप में परिच्छेद करता है।

इसमें एक और भी दृष्टान्त का उपन्यास किया जा सकता है।

जिस व्यक्ति का पुनः पुनः अभ्यास हो गया ऐसे अभ्यासातिशययुक्त व्यक्तियों का हाथ भी द्रव्य समूहों के गुरुत्व विशेष का परिमाप करता है। लोकव्यवहार में देखने में आता है कि बहुत से ऐसे व्यवसायी हैं जो अपने हाथ में द्रव्य को उठाकर उसका गुरुत्व परिच्छेद कर सकते हैं। जैसे पूर्वोक्त तुलादण्ड का रेखा-सूत्र-सम्बन्ध उपाधि है। इस परिच्छेदक हाथ का कोई उपाधि नहीं है। निरूपाधिक हाथ ही प्रकृतस्थल में परिच्छेदक है। उपाधि रहित होकर एक ही काल में अपनी सामर्थ्य के द्वारा क्रियागत भेद का परिच्छेद करता है। इसलिए पूर्वोक्त चिरक्षिप्र प्रभृति व्यपदेश भी उपपन्न होते हैं।

यथा तुलायां हस्ते वा नानाद्रव्यव्यवस्थितम्।
गुरुत्वं परिमीयेत कालादेवं क्रियागतिः॥

सुवर्णरजतादिद्रव्यसमवेत गुरुत्वमेक एव तुलादण्ड रेखासूत्र-सम्बन्धोपहितभेदो यथा पलादिभावेन परिच्छिनत्ति तथा कालोऽपि स्वशक्तियोगाद् वैश्वरूप्यमनुभवन् निमेषादिक्रियाभेदोपहितनानात्वक्रियासन्तानंचिराचिरादिभावेन परिमिमीते। अभ्यासातिशयवतां हस्तो द्रव्याणां गुरुत्वविशेषं परिच्छिनत्तीति सोऽपि दृष्टान्तः। यथासौ हस्तः एवं निरूपाधिरेक एव स्वसामर्थ्यात् कालः क्रियागतं भेदं परिच्छिनत्ति। ( वा० प०. पृ० ५९ त्रि० )

इस प्रकार जो एक काल के विषय में कहा गया है उसे हायन नाम से भी निर्देशित किया जाता है। एक काल ही जब अवस्थान करता है उस स्थिति में काल का सहकारी नाना प्रकार क्रिया समूह काल को छोड़ देता है। इसलिए काल का एक नाम हायन कहा गया है। हायन शब्द का पर्याय है संवत्सर। हा धातु से हायन शब्द निष्पन्न होता है। इस विषय पर हमलोग आगे पर्यालोचन करेंगे। जो क्रिया को 'जहाति' अर्थात् त्याग करता है उसी का नाम हायन है। इसके दृष्टान्त में कहा गया है कि बीजभूत धान्य अपने साथ अवस्थित जल को त्याग करके हायन---शब्द प्रयोग का विषय होता है। इसलिए सूत्रकार पाणिनि ने हृश्च व्रीहिकालयोः--पाणिनीय सूत्र के सिद्धान्त कौमुदी में भट्टोजिदीक्षित ने निम्नलिखित रूप अर्थ प्रदर्शन किया है---

ओहाक् त्यागे एवं ओहाङ्० गतौ---इन दोनों धातुओं का हः

पंचमी विभक्ति का रूप है। आशय यह है कि पूर्वोक्त दो प्रकार धा धातु क उत्तर ण्यु प्रत्यय होता है। व्रीहि एवं काल रूप अर्थ में व्रीहितथा काल रूप अर्थ जब कर्तृ कारक में भासमान होता है, जल को त्याग करता है जहातिउदकम् )--इस प्रकार व्युत्पत्ति से हायन शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है व्रीहि। भाव अर्थात् पदार्थ या क्रिया का त्याग करता है ( जहाति भावान् )--इस प्रकारक व्युत्पत्ति से हायन शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है वर्ष। सूत्र के द्वारा उपमागर्भ व्युत्पत्ति का अनुशासन किया है। जैसे धान्य अपने साथ अवस्थित जल के द्वारा उपकृत होता है वैसे ही काल भी सहकारी अर्थ समूह के द्वारा भाव समूह का उपकार करता है। वस्तुतः काल में जो भेद भासमान होता है वह पूर्वोक्त उपाधि कृत है। मुख्यतः काल एक एवं अभिन्न वस्तु है।

जहाति सुहृवृत्ताञ्च क्रियाः स समवस्थिताः।
व्रीहिर्यथोदकं तेन हायानाख्यां प्रपद्यते॥

अवस्थिते एकस्मिन्नेव काले नानाविधाः यिक्रास्तत्सह-चारिण्योऽप्ययन्ते। अतः स कालो हायनाख्यां संवत्सरपर्यायां प्रपद्यते। जहाति क्रिया इति हायनः तद्यथा-व्रीहिर्बीजभूतं सहावस्थितमुदकमपजहद्धायन इति व्यपदिश्यते। अतएव हश्च व्रीहिकालयोः ( उ० १-१४८ ) इति सूत्रकारेणोपभागर्भ सहैव व्युत्पत्तिरनुशिष्टा। यथा जलैर्व्रीहिः सहावस्थितैरुपक्रियते, तथा कालोऽपि क्रियाभिः सहकारिणीभिः भावानुपकरोतीति औपाधिकोऽस्य भेदो मुख्यस्त्वभेदः।

( वा० प० पृ० ५९-६० त्रि० )

अब प्रश्न उठता है कि काल अगर एक ही सिद्ध हो जाय तब एक काल में कैसे क्रम रह सकता है? एक में तो क्रम का रहना संभव नहीं है। एक अखंड भी है और उसमें क्रम भी है--ऐसा कहना तो अनुभव विरुद्ध है। इसके समाधान में भर्तृहरि ने कहा है कि किसी क्रिया व्यक्ति के निष्पादक शक्ति समूह के व्यापार का विघात होने से प्रतिबन्ध होना है। क्रिया उत्पन्न नहीं हो सकती है। इसके विपर्यय से अर्थात् किसी क्रिया के साधक शक्ति समूह के व्यापार का जब विघात रूप प्रतिबन्ध नहीं होता है यब वह क्रिया निष्पन्न होती है। इसे अभ्यनुज्ञा कहते हैं। इन दोनों के द्वारा उपलक्षित होकर काल की सभी पदार्थों के विषय में नित्य प्रवृत्ति

होती है। इस विषय में हम लोगों ने पुनः पुनः पर्यालोचन किया है। पदार्थों के स्वरूप के ऊपर अगर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट प्रतीत हो जायगा कि वह निरन्तर परिणामशील है। निरन्तर उसमें क्रिया चलती रहती है। क्रियाशून्य होकर पदार्थ निश्चल ध्रुव कूटस्थ होकर विद्यमान है—ऐसा कभी नहीं होता है। कोई पदार्थ उत्पन्न हो रहा है, कोई पदार्थ क्षय लाभ कर रहा है—यह बात पदार्थ के साथ निरन्तर विद्यमान है। इस स्थिति में कोई पदार्थ क्षय लाभ कर रहा है—उत्पत्ति एवं क्षय में जो क्रम है वह कार्य द्रव्य में प्रविष्ट है। इस क्रम के काम में नहीं रहने पर भी वह उसमें आरोपित किया जाता है। यह विशेष रूप से समझना चाहिए कि काल में यथार्थ कोई क्रम नहीं है। क्रम क्रिया का ही मुख्य धर्म है। वह उपचारवशतः गौण रूप से काल में व्यवहृत होता है। क्रम अथवा पौर्वापर्य पूर्वापर में अवस्थित वस्तु समूह में परिलक्षित होता है। इसलिए वह वस्तु को उपाधि स्वरूप है। वस्तु समूह को छोड़कर स्वतन्त्र रूप में क्रम की प्रतीति नहीं होती है। इस प्रकार क्रम का विरोधी यौगपद्य भी कार्य वस्तु में विद्यमान है। यौगपद्य का भी काल में आरोप किया जाता।

प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां वृत्तिर्या तस्य शास्वती।
तया विभज्यमानोऽसौ भजते क्रमरूपताम्॥

कस्याश्चित् क्रियायाः साधनशक्तीनां व्यापारविघाते प्रतिबन्धः। तद्विपर्ययोऽभ्यनुज्ञा। ताभ्यामुपलक्षिता कालस्य नित्या प्रवृत्तिर्भावेषु। सततपरिणामिषु हि भावेषु किंचिन्नाजायते इति नियतमेतत् तथा च कार्यनिवेशी क्रमः काले समारोप्यते, न त्वसौ तत्र भाविक इत्यर्थः। क्रियाधर्मो हि मुख्यः क्रमस्तदन्यत्रौपचरितः पौर्वापर्यं हि पूर्वापरेषु वस्तुषूपाधिभूतं लक्ष्यते न तु स्वतन्त्रम्। एवं यौगपद्यमपि क्रम-विरोधी धर्मः कार्यगतः काले समारोप्यते।

( वा० प०, दृ० ६० त्रि० )

इस प्रकार समरूपता एवं विषमरूपता का भी काल में उपचार का अवलम्बन कर व्यवहार किया जाता है। इस विषय का विश्लेषण करते हुए भर्तृहरि ने कहा है कि जिस समय में अनुष्ठता पुरुषवर्ग श्रुति एवं स्मृति के द्वारा विहित आचार का अनुष्ठान करता है उस समय प्रकर्ष लाभ करने के कारण काल में समरूपता

का व्यवहार होता है। इस स्थिति में काल एक होने पर भी कृत त्रेता प्रभृति शब्द में व्यवहार किया जाता है। उस समय में शुभ सम्यक् आचार का जो अधिकारी पुरुष है उसका बाहुल्य निबन्धन काल में पूर्वोक्त प्रकार से कृत त्रेतादि व्यपदेश होता है। जब कर्म का अनुष्ठातृ पुरुष वर्ग विशृङ्खल होकर पूर्वोक्त शुभ सम्यक् आचार का लंघन करता है उन स्थिति में आचार के अपकर्ष होने के कारण उपचय को प्राप्ति होती है। इससे कलि प्रभृति विषम काल कह कर व्यवहार किया जाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि काल के एक होने पर भी अनुष्ठान पुरुष अथवा अनुष्ठान क्रिया का भेद निबन्धन काल का कृतयुग, कलियुग प्रभृति रूप में व्यवहार होता है।

कर्तृभेदात्तदर्थेषु प्रकर्षापचयौ गतः।
समत्वं विषमत्वं वा स एकः प्रतिपद्यते॥

इह यदानुष्ठातारः श्रुतिस्मृतिनिबन्धनमाचरमनुतिष्ठन्ति तदा प्रकर्षमासादयन् कालः सम एवैकः कृतादिर्व्यपदिश्यते शुभसमाचाराधिकारिबाहुल्यादिभिरित्यर्थः, तदर्थः कृतसाध्यः समाचारः, यदा तु कर्त्तारो विशृङ्खला यथावत्समाचारमुल्लंघयन्ति तदा समाचारापकर्षादपचयप्राप्तेः कलिप्रभृतिर्विषमः कालोऽभिधीयते, तदेवमेकोऽप्यनुष्टातृभेदाद्विभागमासादयति कालः।

( वा० प०, पृ० ६० त्रि० )

भर्तृहरि काल के और भी आरोपित विभाग का प्रतिपादन कर रहे हैं। इनका कहना है कि तक्षण एवं लोहे का परिणामान्तर सम्पादन रूप क्रिया विशेष के द्वारा तक्षा ( बढ़ई ) एवं अयस्कार ( लोहार ) संज्ञा एक ही कर्त्ता का कल्पित होता है। तक्षा भी तक्षण क्रिया का कर्त्ता है, अयस्कार भी लोहे के विकार सम्पादन में करता है। कर्तृत्वरूप सामान्यधर्म दोनों में अनुवृत्त है। परन्तु तक्षण एवं अयोविकरण रूप क्रिया के विलक्षण होने के कारण उसके सम्बन्ध प्रयुक्त एक ही कर्त्ता तक्षा एवं अयस्कार संज्ञा लाभ करता है। इस प्रकार विशिष्ट पुष्पादि की जो प्रसव रूप क्रिया है उसी क्रिया के भेद निबन्धन एक ही काल की वसन्त, शरद् इत्यादि भेद से भिन्न भिन्न संज्ञाएं होती है। उसी तरह एक ही काल का शुक्ल पक्ष एवं कृष्ण पक्ष इत्यादि व्यवहार अहोरात्र व्यवहार प्रदोष

सन्ध्याकाल प्रत्यूष उषाकाल प्रभृति व्यवहार भिन्न भिन्न क्रिया रूप उपाधि के द्वारा निष्पन्न होता है।

क्रियाभेदात् यथैकस्मिंस्तक्षाद्याख्या प्रवर्तते।
क्रियाभेदात् तथैकस्मिन्नृत्वाद्याख्योपजायते॥

तक्षणायोविकरणादिक्रियाविशेषोपकल्पिता तक्षावस्करादिसंख्याः यथैकस्यैव कर्तुः प्रवर्तते, तथा विशिष्ट-पुष्पादिप्रसवलक्षणक्रिया भेदादेकस्यापि कालस्य वसन्तादिवदने सभाख्या जायते। आदि-ग्रहणात् सितासितपक्षव्यपदेशोऽहोरात्रव्यपदेशः सदोषप्रत्यूषव्यपदेशश्च यथायथं क्रियाभेदोपहितो गृह्यते।

( वा० प०, पृ० ६०–६१ त्रि० )

भर्तृहरि कह रहे हैं कि काल का भेद-व्यवहार भी आरोपित उत्पत्ति के पहले पदार्थ असद्-रूप है। उत्पन्न होने के बाद सद् रूप है। पूर्वोक्त पदार्थ उत्पत्ति की पूर्वावस्था एवं उत्पन्नावस्था में असद् एवं सद्रूप से व्यवहार करने पर भी वस्तुरूप से एक है। उभयावस्था में वस्तुरूपता विद्यमान है। परन्तु पूर्वोक्त पदार्थ का विलक्षण विलक्षण धर्म विशेष के साथ भेद होने से व्यवहार होता है। जैसे मनुष्य बुद्धि द्वारा पदार्थ का स्वरूप निर्णय कर जब उक्त पदार्थ के निष्पादन योग्य साधन का उपार्जन करता है तो उसे आरम्भ काल कहा जाता है। साधन का उपार्जन कर जब पदार्थों का निष्पादन करता है तो क्रिया काल कहलाती है। जो पदार्थ निष्पाद्य है उसकी समाप्ति निष्ठा काल है। इस प्रकार पदार्थों के धर्म भेद की कल्पना कर प्रदर्शित आरम्भ काल, क्रिया काल एव समाप्ति काल प्रभृति एक ही प्रविभाग व्यवहार होता है। परन्तु वस्तुतः काल एक अखंड है।

आरम्भश्च क्रिया चैव निष्ठायेत्यभिधीयते।
धर्मान्तराणामध्यासभेदात् सदसदात्मनः॥

उत्पत्तेः पूर्वमसदात्मा पदार्थः। उत्पन्नस्तु सदात्मा। तस्य बुद्ध्यैकत्वेन वस्तुरूपतया स्वीकारे सति विलक्षणधर्मभेदवशादारम्भादिकालो भेदेन व्यवह्रियते। तथाहि बुद्ध्याभिसन्धाय पदार्थरूपं योग्यसाधनोपार्जनमारम्भकालः। उपार्जितसाधनस्य करणं क्रियाकालः। कर्तव्यस्य समाप्तिर्निष्ठाकालः। तदेवं यथाकालं धर्मभेदकल्पनारम्भादिकालप्रविभागः। ( वा० प०, पृ० ६१ त्रि० )

भर्तृहरि कहना चाहते हैं कि पूर्वोक्त आरम्भादि काल सर्वत्र समान है। कारण अवयवी निरंश है। अवयव का भेद अवयवी में तिरोहित हो जाता है। पूर्वोक्त अवयवी समूह के अंशरहित होने के कारण संसार में विद्यमान सभी अवयवों का आरम्भादि काल समान है। अवयव समूह अवयवी से भिन्न वस्तु है। अवयवी में विद्यमान परिमाण रूप गुण भी अवयवी से भिन्न ही है। इसलिए परिमाण रूप गुण का भेद होने से अवयवी के सत्त्वरूप का अपचय अथवा उपचय ( वृद्धि एवं ह्रास ) नहीं हो सकता है। कारण, दूसरे के भेद से दूसरे में कैसे उसका असर पड़ सकता है? सभी कार्य द्रव्य अवयवी रूप से समान है। इसलिए अल्प परिमाण अवयवी समूह एवं महापरिमाण अवयवी समूह आदि आरंभादि काल विलक्षण नहीं हो सकते हैं। कारण, अवयविनात्व स्वरूप से कार्य द्रव्य सर्वत्र समान है। चाहे वह अल्प परिमाण कार्य द्रव्य हो अथवा महापरिमाण कार्य द्रव्य। इससे द्व्यणुकादि कार्यद्रव्य के आरम्भादि काल जितने हैं, हिमालय का भी आरंभादि काल उतना ही है। इसलिए अवयवी से व्यतिरिक्त धर्मान्तर के द्वारा ही पूर्वोक्त आरम्भादि काल की विलक्षणता हो सकती है।

यावांश्च द्व्यणुकादीनां तावान् हिमवतोऽप्यसौ।
नह्यात्मा कस्यचिद् भेत्तुं प्रचेतुं वापि शक्यते॥

अवयविनां निरंशत्वादारम्भादिकालः सर्वेषां समानः। अवयवास्तु ततोऽर्थान्तरम्। परिमाणमपि च गुणेऽन्य एवावयविन इति न तदभेदे तस्य रूपं प्रचेतुमपचेतुं वा शक्यते। तस्मादवयविमात्रस्य समानत्वान्न तद्वशेऽल्पपरिमाणानां महापरिमाणानां चारम्भादिकालो विशिष्य, अपि त्ववयविव्यतिरिक्तधर्मान्तरवशेनेत्यर्थः।

( वा० पा०, पृ० ६१ त्रि० )

भर्तृहरि पूर्वोक्त आशय का और भी स्पष्टीकरण कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि अल्प परिमाण अवयवि-समूह एवं महापरिमाण अवयवि-समूह—इन सबों को पूर्वोक्त अवयवि-समूह से व्यतिरिक्त अवयवसमूह के बहुत्व होने से अवयवी का प्रचय होता है एवं अवयव के अल्प होने से अवयवी का अपचय होता है। अवयव निबन्धन अवयवी का प्रचय एवं अल्प अवयव निबन्धन अवयवी का अपचय अवयवी में कल्पित है। कारण, पहले ही कहा जा चुका है

कि अवयवी अवयव से व्यतिरिक्त है। इसलिए अवयव बहुत्व के कारण अवयवी में स्थौल्य एवं अवयव के अल्पत्व के कारण अवयवी में अपचय--ये दोनों व्यवहार आरोपित के अतिरिक्त और क्या हो सकते हैं ?

अवयव और अवयवी का वैशेषिक मत में समवाय सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है और इसके फलस्वरूप अवयवी घट में कपालादि अवयव का भेद उपलब्ध नहीं होता है।

निष्कर्ष यह हुआ कि जिस अवयवी में बहु अवयव है वह धीरे धीरे निष्पन्न होता है और जिस अवयवी में अल्पसंख्य अवयव है वह अवयवी क्षिप्र निष्पन्न होता है। इससे दोनों स्थलों में आरम्भादि काल विलक्षण विलक्षण प्रतीत होता है। अल्पत्व एवं बहुत्व अवयव का धर्म है। परन्तु समुदाय में अवयव के तिरोहित हो जाने के कारण जो अल्पत्व--बहुत्व धर्म अवयव में विद्यमान है उसे अवयवी में व्यपदेश किया जाता है। इससे बहु अवयव वाले अवयवी की एवं अल्पावयव अवयवी का आरम्भादि काल विलक्षण विलक्षण अवधारण दिया जाता है। परन्तु तत्त्वतः पूर्वोक्त अवयवि-समूह का आरम्भादि काल परस्पर भिन्न हो सकता है।

अन्यैस्तु भावैरन्येषां प्रचयः परिकल्प्यते।
शनैरिदमिदं क्षिप्रमिति तेन प्रतीयते॥

अल्पमपरिमाणामहापरिमाणानामवयवविनामन्यैर्व्यतिरिक्तैरेवावयवैर्बहुभिः प्रचयोऽल्पैरचयश्च परिकल्प्यतेऽध्यारोप्यते। तथा च बह्वयवोऽवयवी शनैर्निष्पद्यते, अल्पावयवस्तु क्षिप्रमित्यारम्भादिकालस्तत्र विलक्षणोऽवधार्यते। समुदायतिरोहितभेदत्वादवयवधर्मेरवयविनो व्यपदेशः, न तु भावतः कालो विद्यतेऽवयविनाम्।

( वा० प०, पृ० ६१ त्रि० )

पूर्वोक्त आलोच्य विषय को भर्तृहरि और भी स्पष्ट कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि उत्पत्ति के पूर्व में वस्तु असत् है। उत्पत्ति के पूर्व में वस्तु के निःस्वभाव होने के कारण उसका पौर्वापर्य रूप विभाग अविद्यमान है। इसका फल यह होता है कि उस स्थिति में कोई क्रम नहीं है। इस प्रकार उत्पन्न वस्तु एक ही स्वरूप में विद्यमान रहता है। उससे उसका भी भेद नहीं किया जा सकता

है। उत्पन्न वस्तु अभिन्न स्वरूप में अर्थात् एक ही स्वरूप में अवस्थान करता है। उत्पन्न वस्तु की अवस्थिति काल में स्वरूप का कोई भेद नहीं होता है। इसलिए उत्पन्न वस्तु में भी कोई क्रम विद्यमान नहीं है। अपनी बुद्धि द्वारा अनुसन्धान करने से यही प्रतीत होता है कि सत् एवं असत्—इन दोनों में किसी क्रम का व्यवहार नहीं हो सकता है। भेद को आश्रय करके ही क्रम रह सकता है। जहाँ भेद नहीं है वहां क्रम भी नहीं है। यह भेद भी उत्पद्यमानावस्थ जो पदार्थ है वह वस्तुतः सत् एवं असत् रूप अवस्थाद्वय युक्त है उसकी प्रत्येक अवस्था में अर्थात् सत् असत् अवस्था में संभव नहीं हो सकता है। क्यों संभव नहीं हो सकता है यह पहले कहा जा चुका है।

इससे निष्कर्ष यह हुआ कि जब सदसद् अवस्थाद्वय में पदार्थों में भेद संम्भव नहीं है और इससे पौर्वापर्य रूप क्रम भी संभावित नहीं है; तब उसमें पौर्वापर्य-रूपता प्रतीत होती है वह आरोपित है। इससे सिद्ध हुआ कि जब प्रथम क्रम ही काल्पनिक है तब सभी पूर्वोक्त रूप क्रम काल्पनिक ही है। प्रथम क्रम जैसे मुख्य नहीं हो सकता हैं वैसे ही सभी परवर्ती क्रम भी मुख्य नहीं हो सकते हैं।

असतश्च क्रमो नास्ति स हि भेत्तुं न शक्यते।
सतो पि चात्मतत्त्वं यत् तत तथैवावतिष्ठते॥

उत्पतेः पूर्वमसन् भावः। तस्य निःस्वभावत्वात् पौर्वापर्येण विभागाभावात् क्रमो नास्ति। उत्पन्नस्यापि विद्यमानस्य तेनैव प्रकारेणाशक्यभेदत्वेन स्वरूपस्थावस्थानादविद्यमानः क्रम इति बुद्धयानुसन्धाने न क्रमव्यवहारः सदसतोरित्यर्थादभिहितं भवति भेदाश्रयोहि क्रमः। स च भेदः पदार्थस्योत्पद्यमानावस्थस्य तत्त्वतः सदसदवस्थाद्वयरूपस्य प्रत्यवस्था संभवति तत्सङ्कलनया पूर्वापररूपताध्यारोपः। एवं प्रथम एव क्रमः काल्पनिक इति सर्वस्तथारूप न मुख्यः।

### वाक्यपदीय के अनुसार कालस्वरूप निरूपण ( अनुवृत्त )

भर्तृहरि यह प्रदर्शित करते हैं कि केवल क्रियागत भेद निबन्धन एक ही काल में ऋतु प्रभृति का व्यवहार नहीं होता है। दूसरी बात है कि एक ही काल में भूतादि व्यवहार भी क्रिया विशेष

निमित से ही उपपन्न होता है। इसी के विश्लेषण प्रसङ्ग में भर्तृहरि कह रहे हैं कि क्रिया उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाती है। इस स्थिति में तादृश क्रिया जब काल की उपाधि होती है तब उस काल में भूत ( अतीत ) व्यवहार होता है। जब साधन समूह के सन्निहित होने के कारण क्रिया की उत्पत्ति सम्भाव्यमान होती है तब तादृश क्रिया जिस काल की उपाधि बनती है उसी काल में भविष्यत् व्यवहारहोता है। प्रारम्भ से लेकर परिसमाप्ति तक जो क्रिया है—यह क्रिया की उपाधि होती है वह काल वर्तमान संज्ञा लाभ करता है। प्रदर्शित भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान के विभागसमूह का और भी अवान्तर भेद होता है और इस अवान्तर भेद को लेकर काल का एकादश प्रकार भेद होता है।

क्रियोपाधिश्च सद्भूतभविष्यद्वर्तमानताः।
एकादशभिराकारैर्विभक्ताः प्रतिपद्यते॥

उत्पन्नध्वस्ता यदा क्रिया भवन्ति तदा तदुपाधिः कालो भूत इति व्यपदिश्यते। यदा तु सन्निहितसाधनाः सम्भाव्यमानोदयाः क्रियाः तदा तदुपाधिः कालो भविष्यतां प्रतिपद्यते, प्रारब्धापरिसमाप्तक्रियोपाधिस्तु वर्तमानसंज्ञा। ते च भूतादयः कालविभागाः पुनरवान्तरभेदेनैकादशधा भवन्ति। ( वा० प० पृ० ६२ त्रि० )

क्रिया भेद के निमित्त से एक ही काल में किस प्रकार भूतादिव्यपदेश होता है इसका उत्तर भर्तृहरि ने इस प्रकार से दिया है :—उनका कथन हैं कि भूत—सामान्य भूतविशेष से भिन्न नहीं होने के कारण भूतसामान्य रूप भूतकाल का एक भेद होता है। अभियुक्तों ने भी कहा है कि सामान्य जैसे विशेष है वैसे ही विशेष भी सामान्य है। अद्यतनभूत द्वितीय प्रकार का भूत काल है। अनद्यतन भूत तृतीय प्रकार का भूतकाल है। अद्यतन अनद्यतन समुदाय रूप भूत अद्यतन एवं अनद्यतन से भिन्न होने के कारण चतुर्थ प्रकार का भूत भेद काल ; है जो परोक्ष शब्द से प्रसिद्ध है वह कारण क्रिया की उत्पत्ति सम्भाव्यमान होती है तब तादृश क्रिया जिस काल की उपाधि बनती है उसी काल में भविष्यत् व्यवहार होता है। प्रारम्भ से लेकर परिसमाप्ति तक जो क्रिया है—यह क्रिया जिस काल की उपाधि होती है वह काल वर्तमान संज्ञा लाभ करता है। प्रदर्शित भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान के विभागसमूह का और भी अवान्तर

भेद होता है और इस अवान्तर भेद को लेकर काल का एकादश प्रकार का भेद होता है।

क्रियोपाधिश्च सद्भूतमविष्यद्वर्तमानताः।
एकादशभिराकारैर्विभक्ताः प्रतिपद्यते॥

उत्पन्नध्वस्ता यदा क्रिया भवन्ति तदा तदुपाधिः कालो भूत इति व्यपदिश्यते। यदा तु सन्निहितसाधनाः सम्भाव्यमानोदयाः क्रियाः तदा तदुपाधिः कालो भविष्यत्तां प्रतिपद्यते, प्रारब्धापरिसमाप्तक्रियोपाधिस्तु वर्तमानसंज्ञः ते च भूतादयः कालविभागाः पुनरवान्तरभेदैर्नैकादशधा भवन्ति। ( वा० प०, पृ० ६२ )

क्रिया के भेद के निमित्त से एक ही काल में किस प्रकार भूतादिव्यपदेश होता है, इसका उत्तर भर्तृहरि ने इस प्रकार से दिया है—उनका कथन है कि भूत-सामान्य भूतविशेष से भिन्न नहीं होने के कारण भूतसामान्य रूप भूतकाल का एक भेद होता है। अभियुक्तों ने भी कहा है कि सामान्य जैसे विशेष है वैसे ही विशेष भी सामान्य है। अद्यतनभूत द्वितीय प्रकार का भूत काल है। अनद्यतन भूत तृतीय प्रकार का भूतकाल है। अद्यतन समुदायरूप भूत अद्यतन एवं अनद्यतन से भिन्न होने के कारण चतुर्थ प्रकार का भूत भेद काल है। जो परोक्ष शब्द से प्रसिद्ध है वह अनद्यतन विशेष रूप है, भूतकाल का भेद नहीं हैं। इसलिए परोक्ष की भूत भेद रूप में पृथक् गणना नहीं की गई है। जो भविष्यत् होने पर भी व्याकरण सिद्धान्तानुसार अतिदेश-निबन्धन भूतकाल का कार्य लाभ करता है वह पंचम प्रकार का भूत भेद है। इसमें भूतभाव अध्यारोपित है। इसलिये यह गौणभूत है। इस प्रकार संकलन कर पांच प्रकार भूतकाल व्याकरण शास्त्र के अनुसार परिगणित होता है। इसी तरह भविष्यत् काल भी चार प्रकार का है।

१—भविष्यत् सामान्य।
२—अद्यतन भविष्यत्।
३—अनद्यतन भविष्यत्।
४—अद्यतनानद्यतन समुदायरूप भविष्यत्।

इसमें प्रश्न होता है कि पाणिनि ने नाद्यतनवत् क्रिया-प्रबन्धसामीप्यायाम् ( ३।३।१३५ ) सूत्र में क्रिया के सातत्य एवं सामीप्य

में अनद्यतन भूत में विहित लङ् एवं अनद्यतन भविष्यत् विहित लुट् का निषेध किया है। आशय यह है कि भुतानद्यवन में लङ् का विधान किया गया है एवं भविष्यत् अनद्यतन में लुट का विधान किया गया है। पूर्वोक्त स्थल में इन दोनों का निषेध किया गया है। निष्कर्ष यह हैं कि पूर्वोक्त स्थल में भूत सामान्य काल में लुङ्० एवं भविष्यत् सामान्य काल में लृट् होगा। इसका फल यह होता है कि जहां अनद्यतन का निषेध निबन्धन भविष्यत् सामान्य कार्य की प्राप्ति होती है वहां अनद्यतनवत का प्रतिषेध होने के कारण अनद्यतन होने पर भी शास्त्रीय व्यवहार भविष्यत् सामान्य विषयक ही होता है। इस प्रकार वर्तमान काल भी दो प्रकार का है— मुख्य वर्तमान काल एवं अमुख्य वर्तमान काल। जिसमें वर्तमान काल का अतिदेश किया जाता है वह अमुख्य वर्तमान काल है। वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवद्वा ( ३।३।१३१ ) इस पाणिनीय सूत्र के द्वारा वर्तमान के समीप भूत एवं भविष्यत् में वर्तमानवद्भाव का अतिदेश किया जाता है। भूत एवं भविष्यत् में अतिदिष्ट वर्तमान अमुख्यवर्तमान है। अतएव वर्तमान काल दो प्रकार का ही होता है। पूर्वोक्त प्रदर्शित प्रकार से व्याकरण-शास्त्रानुसारी कार्य का प्रविभाग प्रदर्शित करने के लिये एकादश प्रकार काल भाग की कल्पना की गई है। काल की इतनी ही संख्या हो सकती है, ऐसी बात नहीं। प्रदर्शित विवेचन का निर्गलितार्थ यही हुआ कि क्रम भेद-निबन्धन क्रिया का भेद होता है एवं क्रियाभेद निबन्धन भूतादि का लकार भेद होता है।

भूतं पंचविधस्तत्र भविष्यंश्च चतुर्विधः।
वर्तमानो द्विधाख्यात इत्येकदश कल्पनाः॥

भूतं सामान्यं विशेषेभ्यो व्यावृत्तेमेको भूतभेद इति गण्यते। तथा चौवतं सामान्यमपि यथा विशेषस्तद्वति। अद्यतनो द्वितीयो भूतभेदः अनद्यतनस्तृतीयः अद्यतनानद्यतनसमुदायस्ताभ्यामन्यत्वाच्चतुर्थः। परोक्षस्त्वनद्यतनभेदो न भूतभेद इति न पृथग् गण्यते। यस्तु भविष्यन्नप्यतिदेशाद् भुतकार्याणि लभते, स पंचमो भूतभेदेऽध्यारोपितभूतभावो गौणः। भविष्यत्सामान्यमद्यतनोऽनद्यतनोऽद्यतनानद्यतनसमुदायश्चेति चत्वारो भविष्यद्भेदाः। यस्तु अनद्यतनवत् प्रतिषेधाद् भविष्यत्सामान्यकार्याणि प्रतिपद्यते, सोऽनद्यतनोऽपि

शास्त्रव्यवहारो भविष्यत्सामान्यमेव। मुख्यो वर्तमान एकः। अमुख्यभूतस्तु, योऽदितिष्टवर्तमानभावः, वर्तमानसामी·····(२।२।१३१) इति भूतभविष्यतोश्च स द्वितीयः। तदेते शास्त्रकार्य–प्रविभागार्थं कालस्य भेदाः कल्पिताः न त्वसावियत्संख्यः।

( वा० प०, पृ० ६२–६३ त्रि· )

प्रश्न होता है कि अतीत क्रिया तो बिद्यमान नहीं है। ऐसी स्थिति में क्रिया अविद्यमान होकर काल में भूतत्व का व्यवहार कैसे समर्पण कर सकती है? जो विद्यमान है वही व्यवहार का नियामक होता है, जो अविद्यमान है उसमें व्यवहार नियामकता सम्भव नहीं हो सकती है। उस शंका का समाधान भर्तृहरि ने निम्नलिखित रूप में किया है:–

क्रिया के द्वारा निष्पन्न घटादि पदार्थ समूह अतीत कहा जाता है। अतीत स्वरूप पदार्थ समूह को बर्तमान अवस्था में बुद्धि द्वारा जो स्वरूप ज्ञात होता है उसे स्थायी एवं पदार्थ के आधारभूत काल में अर्पण कर वह पदार्थ व्यपगत होता है। इसके फलस्बरूप पूर्वकाल में अनुभूत पदार्थों की उत्पत्ति स्थिति आदि अवस्था समूह स्मर्यमाण होकर काल में भूत व्यवहार की कल्पना कराती है। इससे अतीत काल में अपनी शक्ति को संक्रान्त कराकर पूर्वोक्त पदार्थों का क्रियारूप अवस्था-समूह स्मृति का विषय होता है। निष्कर्ष यह हैं कि कालतत्त्व क्रिया को उपाधि रूप से ग्रहण कर प्रकाशित होता है। क्रियासमूह अपने को अपनी उपाधि बनाकर भूत व्यपदेश का कल्पक होता है। इसके फलस्वरूप अभूत् घटः इत्यादि व्यवहार होता है। यह अभूत् व्यवहार ही काल के अस्तित्व का आवेदक लिंग है। पदार्थों की अविद्यमान दशा में जिस पदार्थ का व्यवहार है वह स्मरण रूप व्यवहार ही होगा। फलित यह हुआ कि काल में पदार्थ अपने स्वरूप को जो संक्रमण करा दिया था उसी के बल से अभूत्···इस प्रकार का व्यवहार होता है और इसके द्वारा काल की भी सिद्धि होती है।

काले निधाय स्वं रूपं प्रज्ञया यन्निगृह्यते।
भावास्ततो निवर्तन्ते तत्र संक्रान्तशक्तयः॥

क्रिययोर्निर्वर्तितां–यद् व्यतीता इति। भण्यते व्यपगतस्वरूपाः तत्र तु तेषां वर्तमानावस्थायां बुद्धचा स्वरूपं गृहीतं तत् स्थायिनि

काले स्वाधारे समर्थ्यं गण्यन्ते, यतोऽनुभूताः स्मर्यमाणावस्था जायन्ते तथाचातीते ध्वनि संक्रान्तशक्तयो व्यवहारं स्वात्तमनुपतन्ति। एतदुक्तं भवति--भावोपाधितया कालतत्त्व प्रख्यायते। भावाश्चानुभूतौ स्मर्यमाणावस्थास्तस्य भूतव्यपदेशमेव स्वोपाधितया कल्पयन्ति। तथा चाभूत् घट ( इति ) इत्यादि व्यवहारः। अतश्चैतदेव कालसद्भावावेदकं लिंगम्, असत्यर्थे तद्व्यवहारानुपपत्तेः।

( वा० प , पृ० ६३ त्रि० )

सिद्ध हुआ कि प्रदर्शित युक्तियों से अभूत् इत्यादि व्यवहार से काल में भूतत्व का व्यपदेश हो सकता है। काल में अपने स्वरूप की संक्रान्ति के द्वारा कैसे पूर्वोक्त व्यवहार उत्पन्न हो सकता है यह व्यक्त किया गया है। अब प्रश्न होता हैं कि काल में भविष्यत् व्यपदेश किस प्रकार उपपन्न हो सकता है। इसका समाधान भर्तृहरि ने निम्नलिखित रूप में किया है--कार्य के उत्पादन में समर्थ कारण जब सन्निधान होता है उस समय में पदार्थों की उत्पत्ति संभावित होती है। जब तक पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हुई है तब तक उसकी उत्पत्ति को संभावित भविष्यत् ही कहना पड़ेगा। इस अवस्था में सम्भावितोत्पत्तिक पदार्थ समूह का स्वरूप बाह्य रूप होता है और पूर्वोक्त बाह्य स्वरूप बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर निश्चित होता है। संभावितोत्पत्तिक पदार्थों के पूर्वोक्त बाह्यरूप में दृश्यत्वयोग्यता है। उसके बुद्धिस्थ प्रतिविम्बित स्वरूप में वस्तु के नहीं होने के कारण वह विकल्प रूप है। इन दोनों दृश्य एवं विकल्प का अभेद-अध्यवसाय होने के बाद स्थायी काल में एकत्व-रूप में अध्यवसित वस्तु स्वरूप का आरोप होता है। इस आरोप को शक्ति की संक्रान्ति समझना चाहिए। कारण, भर्तृहरि के सिद्धान्त के अनुसार वस्तु विवर्त्त रूप है, शब्द ही परमार्थ सत्य है। इसलिए वस्तु एवं उसके स्वरूप से कुछ अतिरिक्त नहीं है।

निष्कर्ष यह हुआ कि पूर्वोक्त अध्यारोप के द्वारा काल में भविष्यत्व का निश्चय करके बाह्य पदार्थ समूह एवं काल के उपाधि भूत क्रियायों में भविष्यत्व का व्यवहार होता है। इस विषय का टीकाकार हेलाराज ने एक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट किया है। जैसे निर्मल दर्पण में रूप के प्रतिविम्ब का निश्चय कर--यह रूप का नील है अथवा पीत है, इस प्रकार नियत नील पीत आदि रूप का निश्चय होता है। इसी प्रकार स्थायी एक काल के अन्तर्गत

होकर पदार्थसमूह भासमान होता है। इसलिए काल के साथ आदर्श का साम्य कहा गया है। अभिप्राय यह है कि बाह्य वस्तु दर्पण से भिन्न होने पर भी दर्पण की निर्मलता के कारण उसमें प्रतिबिम्बित हो भासमान होती है। इसी प्रकार काल के साथ पदार्थ वस्तुतः भिन्न होने पर भी उसमें अपने स्वरूप को संक्रान्त कराकर भविष्यत् रूप में प्रतीति का विषय होता है। काल में भविष्यत् आदि व्यवहार सर्वथा आध्यात्मिक है।

भासिनां चैव यद्रूपं तस्य च प्रतिबिम्बकम्।
सुनिर्मृष्ट इवादर्शे काल एवोपपद्यते॥

समर्थहेतुसन्निधानसमये सम्भावितोत्पतीनां पदार्थानां यद्रूपं बाह्यं, यच्च तस्य बाह्यस्य रूपस्य बुद्धौ निश्चितं प्रतिबिम्बरूपं, तदाकारस्यतयोर्द्वयोर्दृश्यविकल्प्ययोरेकत्वाध्यवतायात स्थायिनि काले समारोपस्तत्र संक्रान्तशक्तित्वमिति तदध्यारोपात् काले भविष्यत्वमध्यवसाय वालेषु भावेषु तदुपाधिषु तद् व्यवह्रियते। यथा निर्मलतले दर्पणे रूपप्रतिविम्बमवसाय नियतरूपनिश्चय इत्यर्थः। कालादिप्रसेकान्तर्गता एव पदार्थाश्चकासतींत्यादर्शसाम्यम्।

( वा० प० पृ० ६३ त्रि० )

पदार्थ समूह काल में अपने स्वरूप की संक्रान्ति कराकर निरन्तर परिणाम लाभ करता है। इस विषय को स्पष्ट करने हुए भर्तृहरि ने कहा है कि जैसे नदी का प्रवाह तृण प्रभृति को अपने से प्रच्याबित कर दूसरे स्थान में प्रेरित होता है और कोई तृण को आकर्षित कर उसके में—जिस तृण को उखाड़ दिया था उसी स्थान में स्थापित करता है, उसी प्रकार निरन्तर प्रवृत्ति-शील काल पदार्थ समूह का आकर्षण करते हुए सृष्टि करता है एवं सृष्ट पदार्थों का धर्म परिणाम समूह निष्पादन करता है।

तृणपर्णलतादीनि यथा स्रोतोऽनुकर्षति।
प्रवर्तयति कालोऽपि मात्रा मात्रावतां तथा॥

नदीप्रवाहो यथा तृणादीनि कानिचित् प्रेरयति स्वस्थानात् प्राच्यावयति, कानिचित् पुनराक्षिप्य तत्स्थाने निवेशयति, एवमजवृत्तिः कालो भावानाक्षिप्याक्षिप्योत्सृजति, उत्सृष्टानां च धर्मपरिणामान् वर्तयति। ( वा० प०, पृ० ६५ त्रि० )

पूर्वोक्त विषय के अन्य दृष्टान्तों का प्रदर्शन करते हुए भर्तृहरि स्पष्टविषयको कर रहे हैं। उनका कहना है कि जैसे प्राणवायु प्राणियों के शरीराभ्यन्तर में शरीरावयव के सन्धि समूह में अवस्थान करता हैं एवं उसमें अवस्थान कर प्राणियों की गमनागमन प्रभृति चेष्टा निष्पादन करा देता है, उसी प्रकार काल भी पदार्थों के अभ्यन्तर में प्रविष्ट होकर पूर्वोक्त प्रतिबन्ध एवं अभ्यनुज्ञा के द्वारा जो प्रतिबन्ध एवं अभ्यनुज्ञा यथाक्रम में पदार्थों का निमज्जन एवं उन्मज्जन रूप है, निर्वाह कर पौर्वापर्यरूपक्रम का प्रवर्तन कराता है।

आविश्येवानुसन्धत्ते यथागतिमतां गतीः ।
वायुस्तथैव कालात्मा विधते क्रमरूपताम् ॥

यथा प्राणाख्यो वायुः शरीरिणामन्तरवयवसन्धिष्ववस्थितो गमनागमनादिचेष्टाः साधयति, तथा कालात्मापि भावानामात्मन्यनुप्रविश्य प्रति बन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां निमज्जनोन्मज्जनपौर्वापर्यलक्षणं प्रवर्तयति ।

अब इस प्रसंग का और भी स्पष्टीकरण करते हुये उनका यह कहना है कि दक्षिणायन, उत्तरायण प्रभृति व्यवहार काल के द्वारा कृत मर्यादा के अधीन है। अयन का पूर्वोक्त विभाग कालाधीन है। इस प्रकार नक्षत्र समूह का उदय एवं अस्त गमनादि रूप नियतगति भी काल का अनुवर्त्तन करता है। इस प्रकार क्षित्यादि महाभूतों की उत्पत्ति एवं प्रलय समय में आविर्भाव एवं तिरोभाव रूप जन्म एवं विनाश भी काल के ही अधीन है। इसलिए सभी पदार्थों के उपकारी काल को विश्वात्मा शब्द से उल्लेख किया जाता हैं। तभी अश्विनी कृतिका प्रभृति नक्षत्र की संज्ञा लाभ करता है। आशय यह है कि चन्द्रमा के साथ पुष्यादि नक्षत्रों का योग होने के बाद जो पदार्थ उत्पन्न होता है उसे उसी नक्षत्र से व्यवहार किया जाता है, जैसे—तिष्यो माणवकः पुनर्वसुर्माणवकः। इसलिए जातार्थ प्रत्यय का लोप कहा गया है।

अयनप्रविभागश्च गतिश्च ज्यौतिषां ध्रुवा ।
निवृत्तिप्रभवाश्चैव भूतानां तन्निबन्धनाः ॥

दक्षिणायनमुत्तरायणमिति कालकृतमर्यादा यतः प्रतिभागः नक्षत्राणां न नियता गतिरुदयादिरूपा कालमनुपतति, महाभूतानां च

सर्गप्रलयसमये जन्मविनाशावाविर्भावतिरोपावलक्षणौ कालयताविति सर्वोपकारी कालो विश्वात्मेत्युच्यते ।

( वा० प० पृ० ६४ त्रि० )

व्यवहारसौविध्य के लिये अपरिच्छिन्न काल को साठ घटिका के द्वारा परिच्छेद किया जाता है । इसमें एक घटिका में एक नक्षत्र के साथ चन्द्रमा युक्त होता है--यही सिद्धान्त है । पूर्वोक्त साठ दण्ड-रूप काल का अवान्तर विशेष दिन और रात है । दिवाभाग एवं रात्रिभाग में इस प्रकार काल नहीं मिलेगा जिस समय किसी न किसी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा युक्त नहीं है । ऐसी स्थिति में कोई भी पदार्थ किसी न किसी चन्द्रमा से युक्त काल में ही उत्पन्न होता है और इसी आशय से सूत्रकार पाणिनि ने धनिष्ठा फाल्गुनी-अनुराधा प्रभृति सूत्र के अनुसार ( पा० सू० ४-३-३४ ) नक्षत्र वाचक शब्द के बाद जातार्थ प्रत्यय अर्थात् तत्रजातः ( ४।३।२५ ) सूत्र के अनुसार विहित जातार्थ प्रत्यय का लुक् विधान किया है । कारण, पूर्वोक्त जात रूप अर्थ का उत्सर्ग ही लाभ होता है ।

शब्द समूह का स्वाभाविक रूप से अर्थाभिधान रूप व्यापार का व्याकरण शास्त्र में प्रतिपादन किया जाता है । इसलिए विशिष्ट काल में उत्पन्न पदार्थ तिष्य पुनर्वसु प्रभृति शब्द के द्वारा व्यपदेश लाभ करता है । तिष्यादि शब्द विशिष्ट काल का वाचक है । इस आशय से नक्षत्रों को उपाधि कर जिस काल का व्यवहार होता है वह मात्रा अर्थात् भौतिक पदार्थों के परिणाम स्तरूप ही है । पहले जो कहा गया है कि विशिष्ट काल के सम्बन्ध से भौतिक पदार्थों का विशिष्ट परिणाम समूह होता है और वह विशिष्ट परिणाम समूह पृथक् पृथक् रूप में प्रविभक्त है, इसका गम्भीर आशय है । केवल वाह्य पदार्थ ही कृत्तिका आदि नक्षत्र संज्ञा लाभ नहीं करता है । स्वयं काल भी कृत्तिका रोहिणी प्रभृति संज्ञा लाभ करता है । पूर्वोक्त कृत्तिका रोहिणी आदि काल भाग पदार्थों के विषय में उत्पत्ति क्रिया को द्वारकर उपाधि रूप से व्यवहृत होता है, जैसे--कृत्तिका उत्पन्न हुआ है, रोहिणी में उत्पन्न हुआ है । इसी का ज्ञापक नक्षत्रादि है । पूर्वोक्त उपाधि स्वरूप का ज्ञापक होना ही नक्षत्र का स्वरूप नहीं हो सकता है । चन्द्रमा के साथ योग होने पर ही रोहिणी आदि पृथक् पृथक् नक्षत्र संज्ञा का व्यवहार होता है ।

मात्राणां परिणामा ये कालवृत्त्यनुयायिनः ।
नक्षत्राख्या पृथक् तेषु चिह्नमात्रन्तु तारकाः ॥
( वा० प०, पृ० ६४ त्रि० )

इसके पूर्व भर्तृहरि ने प्रदर्शित किया है कि नियत काल विशेष नक्षत्र रूप चिह्न के द्वारा ज्ञापित होता है। यह पूर्वोक्त नक्षत्र रूप चिह्न स्वयं कार्य रूप है। इसे कार्यरूप क्यों कहा जाता है यह पूर्व में ही प्रतिपादित किया जा चुका है। वर्तमान प्रसंग में भर्तृहरि कहना हैं कि पूर्वोक्त नियम काल विशेष और पदार्थों के द्वारा भी ज्ञापित होता है। काल को ऋतुधामा कहा गया है। कारण, काल ऋतु समूह का अधिकरण है। काल भिन्न भिन्न ऋतु के रूप में प्रतिभसमान होता है। आशय यह है कि काल, ब्रह्म की स्वतन्त्र शक्ति, वसन्तादि ऋतु के भेद से प्रविभक्त होकर प्रकाशमान होता है। पूर्वोक्त नियत ऋतु तत्त्वतः ऋतुविशेषसमूह पुरुष कोकिल प्रभृति के कूजन द्वारा, नव नव पत्र के सम्बन्ध द्वारा, सूर्यादि ग्रहों के संचारविशेष द्वारा, उपलक्षित छाया एवं आतप ( रौद्र ) के वैलक्षण्य द्वारा, लतावितान एवं पुष्प विशेष के द्वारा प्रतीत होता है। इस प्रसंग में वसन्तादि ऋतु के समागम में प्रकृति एवं तिर्यगादि प्राणियों में जो परिवर्तन होता है उसका सुन्दर वर्णन टीकाकार हेलाराज ने प्रदर्शित किया है। ग्रन्थ विस्तार के भय से उसका आशय प्रदर्शन करने से मैं विरत हो रहा हूँ।

रुतैर्मृगशकुन्तानां स्थावराणां न वृत्तिभिः ।
छायादिपरिणामैश्च ऋतुधामा निरूप्यते ॥

ऋतवो धाम स्थानं यस्य तदात्मकत्वेन प्रतिभासात् कालाख्या हि स्वातन्त्र्यशक्तिर्ब्रह्मणो वसन्तादिभेदेन प्रविभक्ता चकासति। यथासौ नियतऋतुभेदः पुंस्कोकिलादिकूजितवशेन नवनवकिसलय-योगेन सूर्यादिसंचारविशेषोपलक्ष्यमःत्रच्छायातपादिभेदेन लतावितानप्रसूनविशेषेण चावधार्यते। ( वा० प० पृ० ६५ त्रि० )

वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने क्रिया स्वरूप के प्रदर्शन के प्रसंग में जो सिद्ध एवं साध्यरूप क्रिया का भेद प्रदर्शित किया गया है क्रिया दो तरह की मानी गई है—(१) सिद्धा (२) साध्या। के भेद का उल्लेख किया है उसके आशय यह है कि इस विषय में वैयाकरण भूषणकार ने जो कहा है उस मत का लघुमंजूषा में नागेशभट्ट ने उल्लेख किहा है

हैं। भूषणकार द्वारा प्रदर्शित साध्य एवं सिद्ध के व्याख्यान में नागेश भट्ट की अभिरुचि नहीं है। भूषणकार ने कहा है कि क्रियान्तर की आकांक्षा का उत्थापकतावच्छेदक रूप जो वैजात्य है—तत्स्वरूप को ही सिद्धत्व समझना चाहिए। निष्कर्ष यह है कि जहां शब्द के द्वारा क्रिया की अवगति होने पर भी क्रियान्तर की आकांक्षा बनी रहती है वहां सिद्धावस्थापन्न क्रिया समझनी चाहिए। वहां क्रिया में सिद्धत्वरूप रहता है। पूर्वोक्त वैजात्य सत्त्व-भूतत्व है। सत्त्वभूतत्व लिंग-संख्यादि अन्वय योग्यत्व है। सत्त्वभूत होने के कारण क्रियान्तर की आकांक्षा होती हैं। परन्तु साध्यत्व इससे विलक्षण है। साध्यत्व का रूप है—जहाँ क्रिया का अवयव पूर्वापरीभूत रूप में अवस्थित है, कारक के साथ अन्वय योग्यता का अवच्छेदक है एव क्रियान्तर की आकांक्षा का अनुत्थापकता-वच्छेदकरूप है। इसका निष्कर्ष यह है कि पचति—इस शब्द के द्वारा क्रिया की अवगति होने से पुनः किसी अन्य क्रिया की आकांक्षा नहीं होती है। इसलिये क्रियान्तराकांक्षा का अनुत्थापकतावच्छेदक रूप वैजात्य साध्यत्व है। यह वैजात्य असत्त्वभूतत्व है :

असावभूतो भावश्च तिङ् पदैरभिधीयते। ( वा० पा० प्र० )

इसमें प्रश्न होता है कि क्रिया का जो स्वरूप निर्वचन किया गया है उसे स्वीकार करने से हिरुक् ( यह अव्यय है। इसका अर्थ है वर्जन करना। क्रियागत सिद्धत्व का परिष्कार इस प्रकार किया जाता है·····क्रियान्त·····वच्छेदक वैजात्यवत्वं सिद्धत्वम्। तात्पर्य यह है कि जिसका उल्लेख होने पर क्रियान्तर की आकांक्षा होती हैं उसमें क्रियान्तराकांक्षोत्थापकता रहती है। वह उत्थापकता सर्वत्र नहीं रहती है। इसलिए धर्म विशेष को उसका परिचायक माना जाता है। वह धर्म जहाँ रहता है वहीं क्रियाकाँक्षोत्थापकता रहती एवं उस धर्म के नहीं रहने पर नहीं रहती है। इस प्रकार से वह धर्म उस क्रियाकाक्षोथापकता का व्यावर्तक अर्थात् अवच्छेदक माना जाता हैं। जैसे पाकः कहने से क्रिया की आकांक्षा होती है। पाक हो रहा है अथवा हो गया है अथवा होनेवाला है—इस तरह केवल पाक कहने पर क्रियान्तर की आकांक्षा सर्वानुभवसिद्ध है। अतः पाकः कहने पर जब पाकक्रिया का ज्ञान होता है तब क्रियान्तर की आकांक्षा अवश्य होती हैं। पचति तिङन्त के द्वारा वह क्रिया

उल्लिखित होती है तब क्रियान्तर की आकांक्षा नहीं होती है। इसलिए यह मानना आवश्यक है कि पाकः—इस कृदन्त के द्वारा जब क्रिया का बोध होता है तब उसमें किसी धर्म विशेष का भान होता है। तिङन्तस्थल में उस धर्म का भान नहीं होता है। वहां क्रियान्तर की आकांक्षा भी नहीं होती है। अब यह स्पष्ट हो जाता है कि उस धर्म-विशेष के साथ जब क्रिया का ज्ञान होता है तभी क्रियान्तर की आकांक्षा होती है। अतः वह ज्ञान आकांक्षा का कारण माना गया है और उस ज्ञान में विशेषणरूप से धर्म का भान होता है। अतः वह धर्मविशेष ज्ञानगतकारणता का अवच्छेदक होता है। इसी वस्तु स्थिति को ध्यान में रखकर उस धर्मविशेष को क्रियान्तराकांक्षोत्थापकतावच्छेदक कहा गया है। सिद्धत्व को वैयाकरण लोग सत्त्वभूतत्व भी कहते हैं। क्रियान्तर के जिसका अन्वय हो सके वही सत्त्वभूत हैं। इस तरह उक्त वैजात्य सिद्धत्व एक ही पदार्थ माना गया है। जिस धर्म के साथ क्रिया का ज्ञान होने पर क्रियान्तर की आकांक्षा नहीं होती है उसे साध्यत्व कहते हैं। अभिप्राय यह है कि पचति इत्यादि तिङन्त पद के द्वारा जब पाक क्रिया का ज्ञान होता है उस समय क्रियान्तर की आकांक्षा नहीं होती है। इससे तिङन्त के द्वारा होने वाले क्रिया ज्ञान में क्रियांश में साध्यत्व धर्म का भान होता है। उस समय जिस क्रिया ज्ञान में जो प्रकारतया भासमान होता है उस क्रिया ज्ञान में क्रियान्तराकांक्षा की कारणता नहीं रहती है। अर्थात् साध्यत्व धर्म कारणत्वाभाव का अवच्छेदक है, कारणता का नहीं। अतः उसे क्रियान्तराकांक्षानुत्थापकतावच्छेदक कहते हैं। इस साध्यत्व का दूसरा नाम असत्त्वभूतत्व भी है। इत्यादि अव्ययों का तद्धितश्चासर्वविभक्तिः सूत्र में जो भाष्यकार ने क्रिया प्रधानत्व स्वीकार कर व्यवहार किया है वह उपपन्न नहीं हो सकेगा। कारण, हिरुक् आदि अव्ययों में साध्यावस्थापन्न क्रिया नहीं है। इसलिए 'पचति' इत्यादि शब्दों के द्वारा उपस्थित क्रिया ही साध्यावस्थापन्न क्रिया कही जाती है। हिरुक् आदि अव्ययों का क्रियाप्रधानत्व स्वीकर करना उचित नहीं है। अथ च भाष्यकार ने क्रियाप्रधानत्व अंगीकार कर हिरुक् आदि अव्ययों का प्रयोग किया है। इसका समाधान क्या है ?

इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहना चाहते हैं कि हिरुक् आदि

अव्ययों में जो क्रियाप्रधानत्व व्यवहार है उसका कारण यह है कि वह क्रिया मात्र का विशेषण होता है। जैसे क्त्वा प्रत्ययान्त शब्द के व्यवहार में देखने में आता है। तात्पर्य यह है कि हिरुक् आदि अव्ययों में क्रियाप्रधानत्व का व्यवहार गौण है। हिरुक् आदि अव्यय मात्र क्रिया के ही विशेषण होते हैं। अन्य अव्ययों को ऐसी स्थिति नहीं है। इन अव्ययों में वैलक्षण्य है। स्वर आदि अव्ययों के प्रयोग से यह वैलक्षण्य स्वष्ट हो जाता है। स्वरादि के व्यवहार में स्वः पचति·····इस प्रयोग में स्वः शब्दार्थ पचति शब्द के अर्थ के साथ अन्वित है। इसी प्रकार 'स्वः पश्य' प्रयोग में स्वः शब्द का क्रिया में भी अन्वय होता है। किन्तु हिरुक् आदि का प्रयोग होने पर यह क्रिया का ही विशेषण रहेगा, इसका अन्यत्र अन्वय होगा। हिरुक् आदि अव्ययों का अर्थ क्रिया रूप नहीं होने के कारण इसके साथ कारक का अन्वय नहीं होता है। परन्तु हिरुक् आदि अव्ययों के अर्थ के साथ क्रियान्तर की आकांक्षा होती है। हिरुक् आदि अव्ययक्रिया-वाचक नहीं है। इसलिए इसका कारक के साथ अन्वय नहीं होता है।

आशय यह है कि हिरुक् आदि अव्ययों का साध्यरूप क्रिया अर्थ नहीं। इसलिए कारक के साथ उसका अन्वय नहीं होता है और क्रियान्तर की आकांक्षा भी बनी रहती है। यह क्रिया मात्र का विशेषण है। अतएव इसका स्वः पचति के समान किसी नामार्थ के साथ अन्वय नहीं होता है।

सिद्धत्वं च सूक्ष्मरूपेण बोध्यम्। यद्यपि क्रियाऽपि तथा, तथाऽपि शक्तिस्वाभाव्यात्स्थूलरूपे साध्यत्वेनैव तस्याः प्रतीतिः, द्रव्यस्य तु सूक्ष्मरूपेण सिद्धत्वेनैवेति न दोषः। पचति भवति भुक्त्वेत्यादौ भवति भुक्त्वेत्यादीनां क्रियाकांक्षादर्शनेन तादृशवैजात्येनाभानात्कारकान्वयानापत्तिर्घातुत्वानापतिश्च। एवं कृष्णं नमेच्चेदित्यादौ चेत्पदेनापि तथाऽऽकांक्षाया तद्वैजात्येनाभानाद्दोष एव।

( टीकाद्वय सहित ल० म०, पृ० ५५१–५५२ )

पाकः कृतिः आदि कृदन्त प्रयोगों में सिद्धावस्थापन्न क्रिया की प्रतीति होती है। इसीलिये पाकः इस प्रयोग के बाद किसी अन्य क्रिया की आकांक्षा स्वभावतः उत्पन्न होती है। जैसे पाक-कहने के बाद पाक क्रिया करेंगे या करते हैं। पचति इत्यादि तिङन्त

प्रयोग में किसी अन्य क्रिया को आकाक्षा नहीं होती है। आशय यह है कि क्रियान्तर के उत्थान का प्रतिबन्धकतावच्छेदकरूप सिद्ध जातिविशेष ही कौण्डभट्ट के मत में साध्यत्व है। अतः इसके प्रतिद्वन्द्विरूप में क्रिया की आकांक्षा का उत्थापकतावच्छेदक जाति विशेष ही सिद्धत्व है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि पाकः—इस कृदन्त प्रयोग में यदि साध्यावस्थापन्न क्रिया की प्रतीति नहीं होती है तब स्तोकं पाकं आदि प्रयोग की उपपत्ति कैसे हो सकती है? क्योंकि सिद्धावस्थापन्न क्रिया का कर्म तो स्तोक नहीं हो सकता है। अतः साध्यावस्थापन्न क्रिया की उपस्थिति ही प्रकृतस्थल में होती है यह मानना उचित है।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती का यह कथन हैं कि साध्य क्रिया की उपस्थिति भी यहाँ पर होती है और वह साध्यक्रिया धातुवाच्य है। किन्तु धातु के द्वारा उपस्थापित क्रिया प्रत्ययार्थ क्रिया की अपेक्षा अप्रधान ही है, क्योंकि धातुवाच्यक्रिया प्रकृत्यर्थ है और घञ् वाच्य क्रिया प्रत्ययार्थ है। अतः घञ् से उपस्थापित क्रिया सिद्धरूप है। अतः सिद्धावस्थापन्न क्रिया है यह कहा गया है।

इसी आशय को व्यक्त करते हुए कौण्ड भट्ट ने कहा है कि धात्वर्थ की अवगति के समान रूप से होने पर भी क्रियान्तर की आकांक्षा और अनाकांक्षा देखी जाती है। धत्वार्थावगमाविशेषेऽपि क्रियान्तराकांक्षानाकांक्षायोर्दर्शनेस्यैव मानत्वात्। ( वै० भू० सा०, पृ० १० चौ० ) यदि केवल सिद्ध क्रिया की ही प्रतीति मानी जाय तब कर्मतया स्तोक का अन्वय नहीं होता और केवल साध्य की ही प्रतीति मानी जाय तो क्रियान्तर की आकांक्षा नहीं होगी। इसी प्रकार पचति में केवल साध्यावस्थापन्न क्रिया नहीं मानी जाय तो पाकः से विलक्षण प्रतीति न होने से पाकः के समान यहाँ भी क्रियान्तर की आकांक्षा होने लगेगी और केवल साध्यावस्थापन्न क्रिया की प्रतीति मानने से सिद्धावस्थापन्न ही क्रियान्तर की आकांक्षा का आपादक होता है। अतः उससे विलक्षण केवल साध्यत्व रूप क्रिया के होने से क्रियान्तर की आकांक्षा के अभाव का निर्वाह होता है। धातु वाच्य क्रिया सर्वत्र साध्यावस्थापन्न ही होती है, सिद्धावस्थापन्न नहीं होती है इसको उपोद्बलक हरि-कारिक भी मिलती है। तिङन्त स्थल में तिङ् के द्वारा किसी क्रिया की उपस्थिति नहीं है, अतः साध्यावस्थापन्न ही क्रिया तिङन्तस्थल

में रहती है। हरि ने कहा है कि धातु के द्वारा उत्थापित क्रिया साध्यरूपा ही होती है, क्रिया की सिद्धावस्था घञादि प्रत्यय से होती है।

साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूप-निबन्धना।
सत्त्वभागस्तु यस्तस्याः स घञादिनिबन्धनः॥
वा० प० ४२ ( त्रि० )

यहां पुनः शंका होती है कि तिङन्त मे साध्य क्रिया है। अतएव अन्य क्रिया की आकांक्षा नहीं होती है। यही सिद्ध और साध्य क्रिया में विशेष है। यह कहना ठीक नहीं है कि 'कृष्णं नमेच्चेत् सुखं यायात्-कृष्ण को नमस्कार करेगा तो सुख प्राप्त करेगा। इस वाक्य में नमन और सुख प्राप्ति रूप क्रियाओं में हेतुहेतुमदभावरूप से अन्वय देखा जाता है। नमन क्रिया सुख प्राप्ति का हेतु है। अतः सुख प्राप्ति रूप क्रिया हेतु भाव है। क्रियान्तर की आकांक्षा का अनुत्थापकतावच्छेदकरूप वैजात्य के यहाँ रहने पर नमन क्रिया अन्य क्रिया के प्रति साकांक्ष नहीं रहेगी इससे परस्पर अन्वय नहीं होगा। परन्तु अन्वय तो होता है। इसके उत्तर में भूषणकार के मतानुयायी का कथन है कि इस वाक्य में 'चेत्' शब्द के प्रयोग की सहायता से ही अन्य क्रिया की आकांक्षा होती है। इसी आशय की अभिव्यक्ति वैयाकरण भूषण में कौण्ड भट्ट ने की है जिसे नागेश भट्ट ने लघुमंजूषा में उद्धृत किया है। तत्र सिद्धत्वं पाक इत्यादौ घञादिबोध्यम्, साध्यत्वं च सर्वत्रैव धातुप्रतिपाद्यम्। न च धातुतः क्रियान्तराकांक्षानुत्थापकतावच्छेदकवैजात्येनोपस्थितौ कृष्णं नमेच्चेत्सुखं यायादित्यादौ आकांक्षाभावेनान्वयो न स्यादिति वाच्यम्। चेच्छशब्दसमभिव्याहारेणाकाक्षोत्थापनादित्याहुः।
ल० म० पृ० ५५० ख० १ ( चौ० )

कला टीकाकार बालम्भट्ट ने सम्भावित अन्य दोषों का निराकरण करते हुए कहा है कि 'भुक्त्वा व्रजति' एव 'पचति भवति' आदि उदाहरणों में प्रदर्शित साध्यत्व लक्षण की अव्याप्ति नहीं है। शंका यह है कि भुक्त्वा व्रजति—इस प्रयोग में पूर्वोक्त साध्यत्व लक्षण का सामंजस्य नहीं होता है, क्योंकि क्रियान्तर की आकांक्षा का अनुत्थापकतावच्छेदक धर्मरूप वैजात्य की उपस्थिति ही साध्यत्व है ऐसा मानने पर भुक्त्वा व्रजति प्रयोग में भुज् धातु के द्वारा

उपस्थापित क्रिया साध्यावस्थापन्न नहीं रहेगी। कारण, भुक्त्वा—इस प्रयोग में किसी अन्य क्रिया की आकांक्षा स्वभावतः वर्तमान रहती है। भुक्त्वा किसी क्रिया में अन्वय के बिना निराकांक्ष नहीं रहता है। अतः क्रियान्तर की आकांक्षा का अनुत्थापकतावच्छेदक वैजात्य ही साध्यत्व है—यह कथन अनुचित है। इसके समाधान में कलाटीकाकार ने कहा है कि इस स्थल में साध्यत्व लक्षण की अव्याप्ति नहीं है, कारण, भुक्त्वा में जिस क्रियान्तर की आकांक्षा है वह कारणान्तरजन्य है। समान कर्तृक धातुओं में पूर्वकाल में क्त्वा प्रत्यय का विधान किया है। अतः क्त्वा प्रत्यय का विधान ही आचार्य पाणिनि ने धातु सम्बन्ध में किया है। इसलिए क्त्वा प्रत्यय के समान व्यवहार से ही क्रियान्तर की आकांक्षा हो रही है। वहां पर पूर्वोक्त साध्यत्व लक्षण की अव्याप्ति नहीं है। इस प्रकार 'पचति' 'भवति' इत्यादि प्रयोग में क्रियान्तर की आकांक्षा के न होने पर भी भवति को कर्त्ता की अपेक्षा होती है। व्यापार के आश्रय में तिङ् का विधान है। उसके समानाधिकरण के लिए ही पचति का अन्वय होता है। अतः पचति में क्रियान्तर की आकांक्षा के अभाव के रहने पर भी भवति में कर्त्ता आदि की अपेक्षा होने से योग्यतावश परस्पर आकांक्षा होने से ही अन्वय होता है। अतः पूर्वोक्त साध्यत्व लक्षण की अव्याप्ति प्रकृतिस्थल में नहीं है। ( भुक्त्वेत्यत्रापि धातुसबन्धे विधीयमानक्त्वासमभिव्याहारात् सा। पचति भवतीत्यादौ पचतीत्यादेराकांक्षाया अभावेऽपि भवतीत्यादेः कर्त्राद्यपेक्षत्वाद्योग्यतावशादन्यतराकांक्षयैवान्वयेन न दोष इति बोध्यम्। ल० म० क० ) पृ० ५५१

नागेश भट्ट ने पूर्वोक्त मत का खंडन करते हुए लिखा है कि वस्तुतः साध्यत्व क्रियान्तराकांक्षानुत्थापकतावच्छेदक रूप नहीं है। क्योंकि इस प्रकार साध्यत्व लक्षण स्वीकार करने में भाष्य का विरोध, युक्ति का विरोध एवं अव्याप्ति आदि दोष होता है।

भाष्यविरोध ·····उपपदमतिङ्, 'सुटकात्पूर्वः', 'गतिर्गतौ'—इन तीनों सूत्रों के भाष्य से इस लक्षण में विरोध है। उक्त सूत्रों के भाष्य के विश्लेषण से यही ज्ञात होता है कि साध्यत्व निष्पाद्यत्वरूप है। पूर्वोक्त रूप नहीं है। उपपदमतिङ्—सूत्र में अतिङ् का प्रयोजन दिखाते हुए तथा धातु और समास की आशंका करके भाष्यकार ने कहा है कि पूर्व में धातु का साधन के साथ योग होता है, बाद में

उपसर्ग के साथ । अतः पहले धातु से तिङ्. प्रत्यय होता है। फलतः तिङ् विशिष्ट के साथ सामर्थ्य होने से उसी के साथ समास उपपदमतिङ् सूत्र से प्राप्त होता है। इसलिए उपपदमतिङ् सूत्र में अतिङ् पद के द्वारा निषेध होने से तिङन्त के साथ एकार्थीभाव नहीं रहता है यह समाधान किया गया है। पूर्वोक्त साधन से क्रिया की निवृत्ति या निष्पादन होता है। ( यद्येवं धातूपसर्गयोरपि समासः प्राप्नोति, पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन। नैतदिति। पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण। साधनं हि क्रियां निर्वर्तयति। तामुपसर्गो विशिनष्टि। अभिनिर्वृत्तस्य चार्थस्योपसर्गेण विशेषः शक्यो वक्तुम्। म. भा. पृ. ४४० ( नि. सा. )

'सुटकात्पूर्वः' एवं 'गतिर्गतौ'—इन दोनों सूत्रों में भी पहले धातु का उपसर्ग के साथ योग होता है या साधन के साथ योग होता है इस शंका के समाधान प्रसंग में, पूर्व में धातु का और उपसर्ग का कार्य अन्तरंग होता है क्योंकि यह पूर्व में होता है ऐसा पूर्वपक्ष के रूप में कहकर भाष्यकार ने कहा कि यह ठीक नहीं है। पूर्व में धातु का साधन के साथ योग होता है, बाद में उपसर्ग के साथ। अतः धातु और उपसर्ग का कार्य अन्तरंग नहीं हो सकता है, क्योंकि धातु का उपसर्ग के साथ योग यदि साधन का पूर्व में होता तब धातु और उपसर्ग का कार्य अन्तरंग होता किन्तु पूर्व में धातु का साधन के साथ ही योग होता है। क्योंकि साधन क्रिया का निष्पादन करता है। उस क्रिया को उपसर्ग बोधन ( द्योतन ) कराता है। तद्बोधक प्रत्यय और क्रियानिर्वर्तयति से तात्पर्य है साध्यत्वविशिष्ट रूप से बोधन। अतः क्रियानिर्वर्तक प्रत्यय पूर्व में होता है—यह कहा गया है। अतः इस पूर्वोक्त भाष्य का तात्पर्य है—साध्यत्वक्रिया का निष्पाद्यत्व। तिङन्त में क्रियान्तर की अनाकांक्षा शब्दशक्ति के स्वभाव से ही होती है अर्थात् शब्दशक्ति-स्वभाव-प्रयुक्त क्रियानिराकांक्षत्व है, साध्यत्व प्रयुक्त नहीं। यही पूर्वोक्त भाष्य के द्वारा नागेशभट्ट व्यक्त करना चाहते है।

प्रश्न होता है कि 'घटं करोति' इत्यादि स्थल में घट भी तो साध्य अर्थात् निष्पाद्य रूप में प्रतीत होता है तब तो घट भी क्रिया रूप हो जायगा। परन्तु यह सर्वथा सिद्धान्त विरुद्ध है। इसके उत्तर में कहा गया है कि करोति आदि के प्रयोग की दशा में ही घट

साध्य रूप में प्रतीति होता है। पुनः शंका होती है कि घट सिद्ध है। इसलिए सिद्ध घट का करोति आदि प्रयोग दशा में भी किस प्रकार साध्यत्व हो सकता है और घट को यदि असिद्ध स्वीकार किया जाय तब घट किस प्रकार से कर्म कारक रूप में क्रिया का जनक हो सकता है? जो स्वयं असिद्ध है वह दूसरे का निष्पादन किस प्रकार कर सकता है? इसका समाधान यह है कि करोति आदि का असमभिव्याहार ( अवर्तमान ) दशा में घटादि पट् से द्रव्य ही सिद्धरूप में प्रतीत होता है। इसमें पुनः शंका होती है कि स्थूल घटादि रूप द्रव्य किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? कारण, घटादिगत स्थौल्य घटादि के सिद्धत्व में बाधक है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहना चाहते हैं कि घटादि में जो सिद्धत्व है उसे सुक्ष्मरूप में समझना चाहिए। आशय यह है कि घटादि अपने कारण मृत्पिण्ड में सूक्ष्म अर्थात् अनभिव्यक्त रूप में अवस्थान करता है। इस स्थिति में घट अपने स्थूलरूप का परिहार कर अनभिव्यक्त होकर अपने कारण में विद्यमान रहता है। वही घट की सूक्ष्मावस्था है। इस अवस्था में घट केवल ज्ञान का ही विषय हो सकता है और इसी अवस्था को लक्ष्य कर घट को सिद्ध रूप स्वीकार किया गया है।

यद्यपि क्रिया भी सूक्ष्मरूप में सिद्ध है तथापि शब्दों को जो शक्ति है उसका ऐसा ही स्वभाव है जिसके बल से क्रिया स्थूलरूप में साध्यत्वरूप में प्रतीत होती है। घटादि द्रव्य शब्दशक्ति स्वभाव से सूक्ष्मरूप में सिद्धावस्था रूप में परिणत हो शब्द का वाच्य होता है। निष्कर्ष यही हुआ कि क्रिया की भी सूक्ष्मरूप में सिद्धावस्था के सम्भावित होने पर भी शब्द के द्वारा वह उस रूप में वाच्य नहीं होती है। कियान्तराकांक्षावादियों ने जो कहा है वह सर्वथा असमीचीन है, कारण, पचति, भवति, भुक्त्वा व्रजति आदि स्थलों में भवति क्रिया पचति क्रिया के साथ साकांक्ष है एवं भुक्त्वा व्रजति के साथ साकांक्ष है। इसलिए पाक क्रिया के प्रकृति साकांक्ष रहने के कारण साध्यत्व लक्षण में अव्याप्ति दोष सुस्पष्ट है। विशेषतः क्रियारूप में साकांक्ष नहीं होने पर भी कर्तृत्व की आकांक्षा रह जाती है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि पूर्व पक्षी ने जिस पूर्वोक्त वैजात्य के उपर आग्रह किया है उस वैजात्य का अन्त प्रकृत स्थल में नहीं होता है और इसका फल यही होगा कि प्रदर्शित स्थल में आकांक्षा को स्वीकार नहीं करने से कारक के

साथ अन्वय नहीं रह सकेगा। एवं पचति भवति, भुक्ता व्रजति परस्परं अन्वित वाक्य भी नहीं होगा। इतना ही नहीं पचति भवति इत्यादि स्थल में पूर्वपक्षी मत को स्वीकार करने पर धातुत्व भी नहीं रहेगा। कारण, उनलोगों ने धातु का जो स्वरूप निरूपण किया है उससे पचति भवति आदि स्थल में सामंजस्य नहीं होगा। इस प्रकार कृष्णं नमेत्चेत् सुखंयायात्.....इस स्थल में उत्थापित क्रियान्तर की आकांक्षा के विद्यमान रहने के कारण पूर्वपक्षी के मत में अव्याप्तिदोह दुष्परिहार है। यदि पूर्व पक्षी कहें कि प्रदर्शित स्थल में चेत पद का समभिव्यवहार निबन्धन ही क्रियान्तर की आकांक्षा होती है तब भी निस्तार नहीं है। कारण, पूर्वपक्षी जिस वैजात्य के उपर इतना आग्रह प्रदर्शित करते हैं उस वैजात्य का भान तो इस स्थल में नहीं है। इससे पूर्वपीक्षा किस प्रकार अपने सिद्धान्त को निर्दुष्ट रूप में सिद्ध कर सकते है? हिरुक् इत्यादि में क्रियाप्रधानत्व का निर्वचन जो भूषणकार ने इस प्रकार किया है कि क्रिया मात्र का विशेषण होने के कारण ही इसे भाष्यकार ने क्रिया-प्रधान कहा है। इसमें भी नागेश भट्ट के अनुसार साध्यत्व निर्वचन करने में किसी प्रकार का दोष नहीं होगा, क्योंकि यहाँ भाष्य के अनुसार क्रिया की प्रतीति होने पर भी साध्यत्व अर्थात् निष्पाद्यत्व रूप से क्रिया की प्रतीति नहीं होती है। अतः इसके साथ किसी कारक का अन्वय नहीं होता।

वस्तुतः साध्यत्वं निष्पाद्यत्वमेव। तद्रूपेणैव च बोधः स्पष्टं चेदम् उपपदमतिङ्० सुटकात्पूर्व इत्यादौ भाष्ये इति उपसर्गवादे निरूपयिष्यामः।

यद्यपि घटं करोति इत्यादौ घटस्यापि साध्यमानत्वं प्रतीयते, तथापि पदान्तरसमभिव्याहारत्तथा। स्वतस्तु घटादिपदाद् द्रव्यं सिद्धत्वेनैव प्रतीयते। सिद्धत्वं च सूक्ष्मरूपेण बोध्यम्। यद्यपि क्रियाऽपि तथा तथापि शक्तिस्वाभाव्यात्स्थूलरूपेण साध्यत्वेनैव तस्याः प्रतीतिः। द्रव्यस्य तु सूक्ष्मरूपेण सिद्धत्वेनैवेति न दोषः। पचति भवति भुक्त्वेत्यादौ भवति भुक्त्वेत्यादीनां क्रियाकांक्षादर्शनेन तादृशवैजात्येनामानात्कारकान्वयानापत्तिर्धातुत्वानापत्तिश्च। एवं कृष्णं नमेच्चेदित्यादौ चेत्पदेनापि तथाकांक्षायां तद्वैजात्येनाभाना-द्दोष एव। हिरुगित्यादेश्च न साध्यत्वेन मानमिति न कारकान्वय इति दिक्। ( ल० म०, पृ० ५५१–५५२ )

इस तिश्लेषण से यह सिद्ध है कि क्रिया और काल का ही महत्त्व सभी ने स्वीकार किया है। इसके विना कुछ भी नहीं है। लगता है। साधना से काल का विशेष महत्त्व है। काली और महाकाल की उपासना इसी पर आधृत है। काल एक है, अतः इस अखण्ड काल के द्वारा, कुछ भी साध्य हो सकता है वस्तुतः, वह सिद्ध है, अभिव्यक्ति शेष रहती है जिसे साधना से साधन किया जाता है। अतः काल का सामान्य परिचय देते हुए साधना के साथ परिचय है। काल एक अखण्ड और भगवद्रूप है। तब साधना का निरूपण अग्रिम पंक्तियों से हो रहा है जो सिद्धरूप है।

॥ श्रीदक्षिणामूर्त्तये नमः ॥

सुप्रेमभंगोत्थभयादिवेश्वरः
प्राणाधिकं चाप्यवदत्सदागमं ।
सा पार्वती वीतभयेवभूतले
प्रख्यापयद्वै प्रणमामि तं च ताम् ॥ १ ॥

श्रीमत्सत्यधराद्यं सुषुवे साध्वीह सत्यरूपाख्या ।
स हि चक्रपाणिशर्मा शिवताण्डवे टिप्पणी लिखति ॥ २ ॥

---

श्री सदाशिवाय नमः । दक्षिणामूर्त्तिरुवाच ।

अथ देवि ? प्रवक्ष्यामि परमाद्भुतकारणम् ।
यन्न कस्यचिदाख्यातं तत्ते वक्ष्यामि सांप्रतम् ॥ १ ॥

शृणुष्वैकमनाः कांते मत्तमातंगगामिनि ? ।
नव्यवस्तुपरिज्ञानं पृथक् पृथक् यथा तथा ॥ २ ॥

वश्यार्थे भूर्जपत्रं तु मोहने रौप्यपत्रकम् ।
मारणे लौहपत्रं तु स्तंभने पैत्तलं मतम् ॥ ३ ॥

विद्वेषणे श्मशानस्य चीवरं समुदाहृतम् ।
आकर्षे सीसजं प्रोक्तं राज्यार्थे ब्रह्मवृक्षजम् ॥ ४ ॥

---

महानृत्यावसाने तु गौरी पृच्छति शंकरम् ।
प्रसन्नमानसं दृष्ट्वा विनयावनता सती ॥

दक्षिणामूर्त्ति-संज्ञा विशेषवेषधारिणं शंकरं प्रकरणपरामृष्टमनस्का देवी पृच्छतीति तन्त्रांन्तःकथाः ततोदक्षिणामूर्त्तिरुवाचेति । अथेत्यानंतर्ये वक्ष्यामीति प्रतिज्ञा पुनरुक्तिर्वक्तव्यमाहात्म्यान्त्यात् आगच्छागच्छ भद्रं त इतिवत् ॥ १ ॥

नव्यवस्तूनां परिज्ञानं वक्तव्ययन्त्राणामादावप्रकाशनात् । पृथक् पृथक् इतरवैलक्ष्यण्येन यथाभवेत्तथा ॥ २ ॥

वश्येत्यादिभिर्लोख्यपत्राण्युक्तानि ॥ ३ ॥

चीवरं वस्त्रम् । ब्रह्मवृक्षजंसमीपत्रमित्यर्थः ॥ ४ ॥

पुत्रार्थे पैत्तलं पत्रं भार्यार्थे तु तमालजम् ।
देशार्थे अम्बुजं पत्रं भोगार्थे वटवृक्षजम् ॥ ५ ॥

मोक्षार्थे ताडपत्रं तु शांत्यर्थं तु मधूकजम् ।
कामार्थं कांस्यपात्रं भक्ष्यार्थं कदलीभवम् ॥ ६ ॥

ताम्रे जगत्सदावश्यं पत्रे पर्वतचालनम् ।
ताडने शिविकापत्रं सर्वाभावे तु विल्वजम् ॥ ७ ॥

अत्र चान्यप्रकारेण लेखनद्रव्यमुच्यते ।
चंदनागरुकर्पूरकस्तूरीरोचनान्विता ॥ ८ ॥

मदः करिभवो लाक्षारसः कुंकुमसंयुतः ।
मन्त्रलेखनप्रव्याणि क्रूरेष्वष्टविषाणि च ॥ ९ ॥

लवणोषणमेहांबुगृहधूमाग्निसंयुतः ।
श्मशानांगारनिम्बोत्थनिर्यासो विषमीरितम् ॥ १० ॥

---

अम्बुजं कमलपत्रं तच्च कुड्मलस्थं कमलपत्राक्षत् इत्यादिप्रसिद्धे ॥ ५–६ ॥

जगद्वश्यमित्युक्त्या एकैकवश्ये भूर्जपत्रमेवेति सूचितम् एकैकस्य कार्यकारणपरत्वात् सदेति मदेन श्रेष्ठत्वापादकं जगद्वश्यं सूचितम् । पत्रे पत्रके पर्वतस्थस्थिरस्यचालनं चंचलीकरणमुच्चाटनकरणमिति यावत् । शैलागस्थिरपर्वता इत्यभिधानात् । ये त्वन्यथा व्याकुर्वन्ते न हि ते शास्त्रज्ञाः । पत्रे इत्यत्र ताम्रपत्र इति व्याख्याता तु पण्डितमानी निर्लज्जः । ताडने शत्रुपराक्रमजडीकरणे ॥ ७ ॥

अत्रास्मिन् प्रकरणे अन्यप्रकारेणेत्यनेन पूर्वप्रकरणाद्विशेष उक्तः । अथ पाठोऽत्रासम्प्रदायिकः प्रारब्धप्रकरणे लेखनद्रव्यस्यादावुक्तेरन्यप्रकारशब्दास्वारस्यात् । चन्दनादीनि कुकुमांतानि अष्टस्यांघशब्दव्यवहार्याणि । क्रूरेषु विद्वेषणादिषु अष्टविषाणि तत्र क्षेप्याणीति ॥ ८–९ ॥

ऊषणा चोषणं चेत्येकशेषात्पिप्पलीमरीचे । मेह इष्टिकोद्भवक्षारस्तदम्बुजलम् । अग्निश्चित्रकः । निम्बोत्थनिर्यासः स्वतः सिद्धोपास्यो न तु व्रश्चनात्प्रभवः । अष्टानां योगादष्टविषम् ॥ १० ॥

त्रिलोहभूर्जपत्राणि क्षौमतालदलानि च ।
तत्तत्कल्पोदितानि स्युर्यंत्राधिकरणानि च ॥ ११ ॥

भूमिस्पृष्टं शवस्पृष्टं दग्धं निर्माल्यसंगतम् ।
विशीर्णं लंघितं यंत्रं यंत्रवान्नैव धारयेत् ॥ १२ ॥

लेखिन्या तु लिखेद्यन्त्रं वश्ये दूर्वांकुरोत्थया ।
आकृष्टौ तु करंजोत्था मारणे तु प्रमस्थिजा ॥ १३ ॥

स्तंभकर्मणि विज्ञेया राजवृक्षोद्भवा तथा ।
शांतिके पौष्टिकं चैव आयुः कामान्वितेतथा ॥ १४ ॥

सर्वोपशमने चैव कर्त्तव्या जातिसंभवा ।
हेमजा रौप्यजा वापि ताम्रजात्रपुलोहजा ॥ १५ ॥

अपामार्गोद्भवा वापि शुभकर्मणि सिद्धिदा ।
अशुभेषु च सर्वेषु शस्यते तीक्ष्णलोहजा ॥ १६ ॥

विष्ट्यंगारदिने घोरे यदि चोत्पादिता भवेत् ।
कालदण्डसमा ज्ञेया सर्वशत्रुनिकृंतनी ॥ १७ ॥

---

त्रिलोहेत्यनेन लिखितयंत्ररक्षणायाधार उक्तः । क्षमाया इदं क्षौमं अतसीवस्त्रम् । तालदलं ताडपत्रम् । तत्तत्कल्पोदितानि तत्तद्यन्त्रां गोदितानि च यंत्राधिकरणानि । एतेन कल्पोदिताधिकरणाभावे त्रिलोहादीन्यधिकरणानीत्युक्तं ज्ञेयम् । समुच्चयासङ्गत्यापत्तेरसम्प्रदायाच्च । त्रिलोहलंक्षणं तंत्रान्तरे । दशहेमद्विषट्ताम्रं रौप्यं षोडशभागकं । त्रिलोहं धाम्यमुद्दिष्टं सोमामायां सुसाधितमिति ॥११॥

विशीर्णं जातव्रणम् ॥ १२–१३ ॥

शांतिके ज्वरादिपीडानाशने । पौष्टिके बलाधिक्यकामनायां १४

सर्वोपशमने परकृतकृत्यादिनाशने । शांत्यादिषु जातिसंभवा लेखनीत्यर्थः । हेमेत्यनेन शांत्यादिषु शुभकर्मसु साधारणं लेखन्येतरमुक्तं । त्रपुजा सीसजा ॥ १५ ॥

अशुभेषु तीक्ष्णलोहजा खड्गादिसंपादिना जाता ॥ १६ ॥

घोरे भरणीकृत्तिकाव्याघात-वज्रकालदण्डव्यतीपातवैरिसंवधाष्टमराशिचन्द्रादिभयावहे दिवसे ॥ १७ ॥

सौम्यकर्मणि सर्वत्र लिखेद्रोचनया हि तत् ।
शववस्त्रे चितांगारैररिनाशार्थमालिखेत् ॥ १८ ॥
नागेन्द्रमदयुक्ता वै तथा वश्ये तु रोचना ।
विषचित्रकयुक्तेन चितांगारसमन्विता ॥
मारणोच्चाटनादीनि क्षुद्रकर्माणि साधयेत् ॥ १९ ॥
अथवान्यप्रकारेण लेखनद्रव्यमुच्यते ।
शान्तिके खण्डिका प्रोक्ता वश्ये चैव तु गैरिका ॥ २० ॥
स्तंभने निशया लेख्यं विद्वेषे विषारिणा ।
उच्चाटे पारदेनैव मारणं रुधिरेण तु ॥ २१ ॥
राज्यप्राप्त्यै चंदनेन पुत्रप्राप्त्यै सदा लिखेत् ।
रोचनां कुंकुमेनैव मोहने गंधकेन तु ॥ २२ ॥
इंगालेन सदालेख्यं बालग्रहविनाशने ।
हिंगुलेन सदा शापे लेखनीयं सुरेश्वरि ॥ २३ ॥
इदानीं भूवलं चक्रं प्रवक्ष्यामि शृणुष्व तत् ।
चतुरस्रं समालेख्यं भूमौ सम्यक् प्रमार्जिते ॥ २४ ॥

---

सर्वत्रेत्यनेन पूर्वोक्ताष्टसुगन्धाद्यभावे सतीति सूचितं प्रकारान्तरम् ॥ १८ ॥

विषं कालकूटं न तु पूर्वोक्तम् । समन्वितेत्यनेन रोचनापरामृष्टा ॥ १९ ॥

अथवेत्यनेनोक्तं प्रकारान्तरं पूर्वपूर्वाभावे ग्राह्यं सति च विशेषे पूर्वपूर्वोक्तमपि त्यक्त्वोत्तरोत्तरोक्त स्वीकरणीयमिति सूचितम् । अव्ययानामनेकार्थत्वात् । खडिका गौडीति सम्प्रदायः । गैरिकास्थानविशेषशिला न त्वन्या ॥ २० ॥

रुधिरं महिषादेः ॥ २१ ॥

रोचनायुक्तेकुंकुमेन पुत्रप्राप्त्यै । सदेत्यनेन पूर्वोक्तत्यागः सूचितः ॥ २२ ॥

शापे स्वदत्ते परदत्ते वा ॥ २३ ॥

इदानीमित्यनेनास्य प्रकरणस्य मुख्यांगभूतं भूवलचक्रमुद्दिष्टं ॥२४॥

वज्राष्टकं चाष्टदिक्षु देशिको विलिखेत्प्रिये ।
मध्ये सांतं षांतत श्रुतिभुवनस्वरसंयुतम् ॥ २५ ॥

नादविंदुकलाक्रान्तं सविसर्गं समालिखेत् ।
पृथ्वीबीजं चाष्टदिक्षु मध्यबीजस्य पार्श्वतः ॥ २६ ॥

सान्तं षान्तं स्वरश्चोक्ता शान्तं स्याच्च विसर्गयुक् ।
षान्तं त्रयोदशोपेतं सान्तं सानुस्वरं वदेत् ॥ २७ ॥

लिखित्वा मातृकावर्णैः परिवेष्ट्य समंततः ।
व्योमेदं शक्तिसहितं भुवनस्वरभूषितम् ॥ २८ ॥

बीजैः संवेष्ट्य सन्मंत्री व्योमाकारं तथोपरि ।
भूचक्रं तु विनिर्माय प्राणान्संस्थापयेत्ततः ॥ २९ ॥

गंधाढ्यैः सुमनोभिश्च सिंदूररजसापि वा ।
अर्चयित्वा प्रयत्नेन मूलं तत्र शतं जपेत् ॥ ३० ॥

तदग्रे सर्वयंत्राणां लेखनं समुदाहृतम् ।
भूचक्रेण विना देवि ! यन्त्रसिद्धिर्न जायते ॥ ३१ ॥

भूचक्रे तु परिज्ञाते ज्ञातं सर्वं भवेत्प्रिये ।
भूचक्रं तु समाख्यातं न देयं परशिष्यके ॥
दत्ते च सिद्धिहानिः स्यादित्याज्ञा पारमेश्वरी ॥ ३२ ॥

---

वज्रमिथः संसक्तत्रिषष्ट्यकाकारं दीर्घकल्पम् । सांतं हं षां तेन सेनयुतं भुवनस्वरेण अँ वासं युतं नादविन्दुकलार्द्धचन्द्रेणाक्रान्तं विसर्गसहितं समालिखेत् । पृथ्वीबीजं लँ, मध्यबीजस्य हलौंदित्यस्य पार्श्वतो दक्षिणवामयोः, सां तं हं शांतमनुस्वारां तं, षां तं च विसर्गयुक्तमित्यन्वयः किं कृत्वा सां तं षां तं लिखेदित्याकाक्षायां स्वरंश्चोक्त्वेति न तु व्यञ्जनभावनेत्यर्थः । षां तं सं त्रयोदशेन अवा सहितं सां तं हमनुस्वारसहितम् । मातृकावर्णैरादिलक्षांतैः । व्योमहं शक्त्या सेनसहितं भुवनस्वरेणाबाभूषितमिदं सविसर्गनादविन्दु-कलाक्रान्तं मध्यगतं वीजैः पृथ्वी पृथ्वीवीजैर्मातृकासंख्याकैः संवेष्ट्-योपरि व्योमाकारं यथाभवति तथा कुर्यादित्यर्थः लिखनं पठितं ब्रूमे रोरेवेति तथोक्तं, प्राणान् भूचक्रस्य, मूलमभीष्टयन्त्रदेवताकं मन्त्रम् ॥ २५–३२ ॥

भूचक्रं तु मया प्रोक्तं लिपिचक्रं शृणु प्रिये ! ।
वाय्वग्निभूजलाकाशवर्णान्सम्यग्विभावयेत् ॥ ३३ ॥
अकारश्च तथाकार एकारोऽथककारकः ।
चकारश्च टकारश्च तकारश्च पकारकः ॥ ३४ ॥
यकारश्च षकारश्च वायुवर्णाः समीरिताः ।
इकारेकारवर्णस्तु ऐकारश्चखवर्णकः ॥ ३५ ॥
छकारस्तु ठकारोऽथ थकारः फार्णकः स्मृतः ।
रकारश्च क्षकारश्च अग्निवर्णा इमे प्रिये ॥ ३६ ॥
उकारोकारवर्णौ च ओकारोथ गवर्णकः ।
जकारश्च डकारश्च दकारोथ बकारकः ॥ ३७ ॥
लकारश्च लकारश्च भूमिवर्णाः उदाहृताः ।
ऋकारोथ ॠकारश्च औकारोथ घवर्णकः ॥ ३८ ॥
झकारश्च ढकारश्च धकारश्च ततः परम् ।
भकारोथ वकारश्च सकारश्च जलार्णकाः ॥ ३९ ॥
ऌकारश्च ॡकारश्च अंकारस्तदनन्तरम् ।
ङकारोथ ञकारश्च णकारः परतः स्मृतः ॥ ४० ॥
नकारोथ मकारश्च शकारश्च हकारकः ।
एते वर्णा नियत्संख्याः क्रमेण परिकीर्त्तिताः ॥ ४१ ॥
पृथ्वीवर्णाः शान्तिके तु जलवर्णास्तु मोहने ।
विद्वेषे च तथोच्चाटे वह्निवर्णाः प्रकीर्त्तिताः ॥ ४२ ॥
वश्ये तु वर्णा वायोः स्युर्नाभसाः सर्वकर्मसु ।
मारणे ताडने स्तंभने शत्रुनाशनके परे ॥ ४३ ॥
शाकिनी डाकिनीभूतप्रेतवेतालजेपि च ।
महामारीप्रशमने महोत्पातप्रशान्तये ॥ ४४ ॥
वह्निवर्णान्समाहृत्य लिखेद्यन्त्रपरायणः ।
लिपिवर्णाः समाख्याता यथावत्प्राणवल्लभे ! ॥ ४५ ॥

---

भूचक्रमिवावश्यकत्वाल्लिपिचक्रमिदं तु कार्यविशेषे एककोष्ठ-वर्णप्रयोजकम् ॥ ३३–४१ ॥

भूचक्रन्यासः लिपिचक्रन्यासः

शत्रुनाशनके परे श्रेष्ठे कर्मणि, यस्य ॥ ४२ ॥
नाशे सति लोकः सुखं विन्दतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥
वेतालज इत्यनन्तरं भये इति शेषः ॥ ४४–४५ ॥

इदानीं शृणु देवेशि ! प्रयोगानुक्रमेण तु ।
शान्तिवश्यस्तंभनादि विद्वेषोच्चाटने तथा ।
मारणं रसकर्माणि तानि वक्ष्याम्यशेषतः ॥ ४६ ॥
रोगकृत्या ग्रहादीनां निराः शान्तिरीरिता ।
वश्यं जनानां सर्वेषां विधेयत्वमुदाहृतम् ॥ ४७ ॥
प्रत्यक्षरोधः सर्वेषां स्तम्भनं समुदाहृतम् ।
स्निग्धानां द्वेषजननं मिथो विद्वेषणं मतम् ॥ ४८ ॥
उच्चाटनं स्वदेशादेर्भ्रंशनं समुदाहृतम् ।
सर्वेषां प्राणहरण मारणं परिकीर्त्तितम् ॥ ४९ ॥
रतिर्वाणी रमाज्ययेष्ठा दुर्गाकाली यथाक्रमात् ।
षट्कर्मदेवताः प्रोक्ताः कर्मादौ ताः प्रपूजयेत् ।
ईशचन्द्रेन्द्रनिर्ऋतिवाखग्नीनां दिशो मताः ॥ ५० ॥
सूर्योदयं समारभ्य भटिकादशकक्रमात् ।
ऋतवः स्युर्वसन्ताद्या अहोरात्रं दिने दिने ।
वसन्तग्रीष्मवर्षाख्य शरद्धैमन्तशैशिराः ॥ ५१ ॥
हेमन्ते शान्तिकं कर्म कर्त्तव्यं समुदाहृतम् ।
वश्ये वसन्तनामातु सर्वकार्याणि साधयेत् ॥ ५२ ॥
शिशिरे स्तम्भनं प्रोक्तं पूर्वाचार्यैर्विचक्षणैः ।
ग्रीष्मे विद्वेषणं प्रोक्तं कर्त्तव्यं देशिकोत्तमैः ॥ ५३ ॥
वर्षा तूच्चाटने प्रोक्ता निश्चयेन मनीषिभिः ।
मारणे तु शरद्ज्ञेया सर्वेषां हि मतं त्विदम् ॥ ५४ ॥

---

रसकर्माणि षट्कर्माणीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

निराशो विध्वंसनम्, विधेयत्वं स्वाधीनत्वम् ॥ ४७ ॥

प्रत्यक्षाविरोधः सत्यपि ज्ञाने कर्तव्यानुत्पादको व्यापारः । मिथः स्निग्धानां परस्परं प्रीतिभाजाम् ॥ ४८ ॥

स्वदेशादेः साधकाभिप्रेतदेशग्रामगृहक्षेत्रादेः सकाशात् । प्राणहरणं येषां नाशे लोकः सुखं स्वपतिस्वधर्मानुष्ठानपरतया तेषामेव ॥ ४९ ॥

षट्कर्म देवतापूजनं चोक्तनाममन्त्रेण कार्यम् । यथा ऊँ रं रत्यै नम इत्यादि । ईशादीनां दिशः षट्कर्मकर्त्रभिमुखा मता. ईशदिक् ऐशानी चन्द्रदिक उत्तरा इन्द्रदिक पूर्वा ॥ ५०–५१ ॥

सर्वकार्याणि शान्त्यादीनि ॥ ५२–५४ ॥

त्रिवर्षाद्वित्सराद्वापि षण्मासार्द्धायनादपि ।
मण्डलान्मासमात्राद्वा पक्षाद्वा त्रिदिनादपि ॥ ५५ ॥

दिवसान्ते तु देवेशि ! ज्ञात्वा कार्यस्य गौरवम् ।
षट्कर्माणि प्रयुञ्जीत यथोक्तफलसिद्धये ॥ ५६ ॥

यदैव ज्ञायते कार्यं तदा काले तथैव हि ।
गुरूणां वचनाद्देवि ! क्रियतां कर्मसंचयः ॥ ५७ ॥

गुरुवाक्यं यदाप्राप्तं सिद्धिस्तत्र न संशयः ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गुरुरेव परात्परम् ॥ ५८ ॥

शुचिर्मन्त्री लिखित्वैवं वेष्टितं पदसूत्रकैः ।
साध्यसाधकयोः प्राणप्रतिष्ठां सम्यगाचरेत् ।
देवहस्तगतं लब्ध्वा धारयेत्साधकोत्तमः ॥ ६० ॥

करे कण्ठे शिखायां वा यथा संल्लिखितं भवेत् ।
श्रद्धावतो गुरोर्भक्त्या सर्वत्र फलभाग्भवेत् ॥ ६१ ॥

---

अर्द्धायनान्मासत्रयात् । मण्डलादेकोनपञ्चाशद्दिवसात् ॥ ५५ ॥

कार्यस्य गौरवं ज्ञात्वा दिनत्रयपक्षमासमण्डलार्द्धायनायन-वर्षवर्षत्रयाणामन्यतमावधिकालमनुसृत्य दिवसान्ते षट्कर्माणि प्रयुञ्जीत ॥ ५६ ॥

कार्यं शान्त्यादिकं कर्म यदैव यस्मिन्काले एव ज्ञायतेऽवश्यं कर्त्तव्यतया निश्चीयते तदा तस्मिन्काले समये तथैव पूर्वोक्तप्रकारेणैव प्रयुंजीतेति पूर्वेणान्वयः ॥ ५७–५८–५९ ॥

साध्यं देवता, साधकः फलाभिलाषी, तयोः, प्राणप्रतिष्ठायन्त्रोपरि साधकस्य नित्यं कर्मावसरे कृतापि प्राणप्रतिष्ठाप्रसंगादधुनोक्ता न तु साम्प्रतं सा कार्येति केचन प्रोचुस्तदयुक्तं नित्यकर्मसमाप्त्यनन्तरं काम्यककर्मणोऽनुष्ठीयमानत्वात्तदंगानिभूतशुद्धयादीन्यवश्यं कर्त्तव्यानि, अन्यथा काम्योक्तभूतशुद्ध्यादीनां वैयर्थ्यं स्यात् । नित्यकर्मान्तर्गतकाम्यकर्मणां पुनः करणेदोषाश्रवणाच्च । सम्यक् क्रव्यादिपूर्वकं देवहस्तगतं गुरुहस्तगतं गुरुर्देवोत्याद्युक्तिप्रसिद्धेः तच्च भावनयैव ॥ ६०–६१ ॥

पाशबीजं समुच्चार्य मायाबीजं ततो वदेत् ।
अंकुशान्ते तु यं रं लं वं शं षं सं समोरितम् ॥ ६२ ॥

तदन्ते हंसमंत्रः स्यात्ततोऽमुष्यपदं ववेत् ।
प्राणा इति वदेत्पश्चादिहप्राणास्ततः पर ॥ ६३ ॥

अमुष्यजीवः स्थितोऽमुष्यपदं च ततो वदेत् ।
सर्वेन्द्रियाणि सर्वान्ते वाङ्मनश्चक्षुरीरितम् ॥ ६४ ॥

श्रोत्रघ्राणपदे पश्चादिहागत्य सुखं चिरम् ।
तिष्ठन्त्वग्निवधूः प्राणप्रतिष्ठामनुरीरितः ॥ ६५ ॥

प्रत्यमुष्यपदं पूर्वं पाशादीनि प्रयोजयेत् ।
प्रयोगेषु समाख्यातः प्राणमन्त्रोमनीषिभिः ॥ ६६ ॥

स्थापयेन्मनुनानेन प्राणान्सर्वत्र देशिकः ।
वहच्छ्वासं करे स्पृष्ट्वा यन्त्रं संमन्त्रयेत्ततः ॥ ६७ ॥

एवं तव मया प्रोक्तं प्राणानां स्थापनं परम् ।
एवं क्रमेण ते ज्ञेयं सर्वकार्येषु सर्वदा ॥ ६८ ॥

---

पाशः आं, ह्रीं अंकुरी क्रों, एतदन्ते यादीनि, तसन्ते हंसः ततः अमुष्यपदं, तच्च यन्त्राधिष्ठातृदैवषष्ट्यन्तनामलिंगसहचरं कर्त्तव्यं सम्प्रदायात् ॥ ६२–६३ ॥

जीव इत्यनन्तरमिह पदं तस्याद्यन्तनिदर्शनात्, एवं सर्व इत्यापि । सर्वान्ते पाशादिद्वादशाक्षारामुष्यपदान्ते ॥ ६४–६५ ॥

प्रत्यमुष्यपदं यत्र यत्रामुष्यपदं तत्र तत्र पूर्वं पाशादिद्वादशाक्षराणि प्रयोजयेदित्यर्थः ।

आं ह्रीं क्रों यं रं वं शं षं सं हं सः अमुष्यप्राणा इह प्राणाः आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हं सः अमुष्य जीव इह स्थितः आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हं सः अमुष्य सर्वेन्द्रियाणि इह स्थितानि आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हं सः वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रघ्राणानीहागत्य सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहेत्युद्धारः ॥ ६६ ॥

सर्वत्र साध्यसाधकविषये, वहच्छ्वासं यथास्यात्तथा करे धृत्वांगुलीभिः स्पृष्ट्वेत्यर्थः करे धारणं चाधारसंलग्नतया ॥ ६७–६८ ॥

यन्त्राणि कतिचित्तानि यानि तानि वदाम्यहम् ।
यन्त्रे हि यन्त्रता प्रोक्ता यमने शमने परम् ॥ ६९ ॥

यन्त्र्यते सकलं विश्वं यन्त्रमित्यभिधीयते ।
यन्त्रं सन्त्रायते त्रातं यन्त्रार्थस्तदुदीरितः ॥ ७० ॥

यन्त्रं गोप्यं कृतं यत्नैः फलदं भवति प्रिये ।
अङ्कानां चापरे भेदा यन्त्राणां चापरे मताः ।
यन्त्राकमंजसा देवि ! सर्वसिद्धि प्रसाधयेत् ॥ ७१ ॥

इदानीं वर्गसंख्यां तु कथयामि समासतः ।
अष्टवर्गान्समुद्दिश्य नामतस्तान्ब्रवीम्यहम् ॥ ७२ ॥

अ आ इ ई उ ऊ चैव ऋ ॠ ऌ ॡ तथैव च ।
ए ऐ ओ औ च अं अश्च अवर्गः षोडशार्णकः ॥ ७३ ॥

कवर्गः पञ्चवर्णः स्यात्कखगेतिघङास्तथा ।
चवर्गः पञ्चवर्णः स्याच्चछजाश्च झञास्तथा ॥ ७४ ॥

टवर्गः पञ्चवर्णः स्याट्टठडढणसंयुताः ।
तवर्गः पञ्चवर्णोऽत्र तथदाधनसंयुताः ॥ ७५ ॥

पञ्चवर्णः पवर्णोऽपि पफबभमसंयुताः ।
यवर्गस्तुर्यवर्णः स्याद्यरलावार्णसंयुताः ॥ ७६ ॥

---

तान्यागमारम्भे त्वया पृष्टानि यन्त्राणि कतिचिदहं वदामि यानि प्रकरणारम्भे प्रतिज्ञाविषयीभूतानि तानि त्वं शृण्विति शेषः हि यतः यमने इत्यस्य विवरणं शमने इति । तथा च यतः शमने परं तत् परं ततो यन्त्रे यन्त्रतेत्येकोर्थः ॥ ६९ ॥

यन्त्र्यते नियम्यते रोगकृत्यादिभ्यो व्यावर्त्यत इति द्वितीयः । अत्रान्तकेनाप्यरक्षितम् । यन्त्रार्थस्तृतीयः । तत् तस्मात् ॥ ७० ॥

अंकानां भेदाः कार्यसिद्धिविधायका अपरे भेदाः यन्त्राणां चापरे भेदाः कार्यसिद्धिविधाय कामतास्तन्त्रान्तरे प्रतिपादिताः । तत्र यन्त्राकं समाहाररूपमंजसा सुखेनैव सर्वसिद्धि प्रसाधयेत् । ते तु कृच्छ्रेण सिद्धि प्रतिपादयन्तीति भावः ॥ ७१ ॥

इदानीमित्यनेन सिद्धिप्राप्तिद्वारकतया वर्गसंख्या वर्गनामानि चोक्तानि ॥ ७२–७६ ॥

शवर्गंगा एव वर्णाः क्षशषाः सहलान्विताः ।
केषांचित्पंचवर्णोत्र शवर्गः परिकीर्त्तितः ॥ ७७ ॥

वर्णान्संज्ञाय सम्यग्वै यन्त्रधारणकर्मणि ।
कर्तव्या चांकसंख्यानां गणना वर्गवर्णके ॥ ७८ ॥

युग्मस्वरेण संयुक्तं गणयेद्देशिकोत्तमः ।
गणनाविधिमुल्लंघ्य वर्गसंख्यामजानता ।
यन्त्रं नैव च कर्त्तव्यं यदीच्छेत्सिद्धिमात्मनः ॥७९॥

भूभूपुरं त्रिकोणं च वर्त्तुलं नवकोणकम् ।
अष्टारं चतुरस्रं च चन्द्रार्द्धं वसुकोणकम् ॥ ८० ॥

पञ्चकोणं च षट्कोणं तथा वै सप्तकोणकम् ।
शतकोणं सहस्राख्यं कोणानां गणना स्मृता ॥ ८१ ॥

अथोच्यते समासेन रेखाणां क्रमणं शुभम् ।
येन विज्ञातमात्रेण यन्त्रविद्याविशारदः ॥ ८२ ॥

---

शवर्गः षड्वर्ण एव, केषांचिन्मुनीनां मतेऽत्र पञ्चवर्णः शवर्गः परिकीर्त्तितः ॥ ७७ ॥

वर्गस्य वर्णको वर्गवर्णकस्तस्मिन्, जातावेकवचनं वर्गार्णां वर्णेष्वित्यर्थः सम्यक् यथास्यात्तथा वर्णान्साध्यसाधकवर्णान्विज्ञाय अयं बर्ण एतद्वर्गीयोऽयं वर्ण एतद्वर्गीय इति ज्ञात्वा अङ्कसंख्यानां गणना साध्यसाधकाक्षरांकसंख्यानां गणना यन्त्रधारणकर्मणि कार्या ॥७८॥

अत्र गणनायां स्वरेण संयुक्तमक्षरं युग्मं गणयेन्नत्वेकम्, ये त्वन्यथा व्याख्यानं कुर्वन्ति न हि ते आगमशास्त्रविदः । श्रीपरमेश्वरस्थापितपञ्चवर्णात्मकशवर्गसन्मतिकमुनिपक्षेऽक्षारत्रयेण कोष्ठकपूर्त्यसम्भवाच्चातिनिर्लज्जाः । एतस्य विधिमात्रत्वाज्ज्ञानमात्रमित्याह गणनेति ॥ ७९ ॥

भूभूपुरमित्याभ्यां वक्ष्यमाणयन्त्राणां कोष्ठरचनाप्रकारो दर्शितस्तस्य न्यासाः । शतसहस्रयोः स्थानाभावान्न दर्शितौ ॥ ८०–८१ ॥

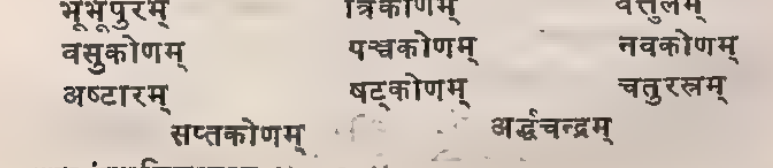


अथानंतप्रतिज्ञायाम् ॥ ८२ ॥

अथातोऽहं प्रवक्ष्यामि रेखानां गणनाक्रमैः ।
सम्यग्यन्त्राणि विधिवद्दुर्लभानि कलौ युगे ॥ ८३ ॥
पश्चिमात्पूर्वगारेखाश्चतस्रो दक्षिणाग्रतः ।
उदग्ग्रास्तु तथा चक्रं नवकोष्ठात्मकं भवेत् ॥ ८४ ॥
पश्चिमात्पूर्वगाः पञ्चरेखास्तिर्यग्गतास्तथा ।
पञ्चरेखाः प्रजायन्ते कोष्ठाश्चापि च षोडश ॥ ८५ ॥
अनेनैव प्रकारेण रेखावृद्धिक्रमेण तु ।
चक्राण्यनेकान्युत्पाद्य विषमाणि समानि च ॥ ८६ ॥
तेष्वंकान्विलिखेत्प्राज्ञः सम्यग्विज्ञानतत्परः ।
इष्टांकपूरणोवायं तं ते वक्ष्यामि साम्प्रतम् ।
अशेषं नवकोष्ठेषु नास्ति शेषप्रपूरणम् ॥ ८७ ॥
प्रकृतेर्द्विगुणं कृत्वा त्रिगुणं वा चतुर्गुणम् ।
पूरयेदनया रीत्या नवकोष्ठे क्रमादरात् ॥ ८८ ॥

---

अथातो रेखाक्रमप्रतिज्ञानन्तरं कलौ युगे दुर्लभानि यन्त्राणि रेखाणां गणनाक्रमैर्विधिवत्कृत्वा सम्यक् यथा भवन्ति तथाहं प्रवक्ष्यामीत्यन्वयः । कलावित्यनेन जपसंख्याचातुर्गुण्याभावः सूचितः ८३

पश्चिमात्पूर्वगा दक्षिणादुत्तरगा इति नियमात्पश्चिमात्पूर्वनयने दक्षिणभागो मर्यादास्थलं दक्षिणादुत्तरनयने पश्चिमभाग इति ज्ञेयमेवं षोडशकोष्ठे ॥ ८४ ॥

तिर्यग्गता रेखास्तथा तद्वन्नवकोष्ठक्रमवत् दक्षिणाग्रत उदग्गताः कार्येत्यर्थः ॥ ८५ ॥

रेखावृद्धिः क्रमेणानुल्लंघनमर्यादया एकादिरेखास्मरणपूर्वकमित्यर्थः । अनेकानि चक्राणि सिद्धदारिद्र्यशमनपूर्वकाणि न तु प्रकरणान्तरोक्तानि नानाविधानि, चक्रपदेन यत्र स्मरणपूर्वकमुत्पादनं सूचितम् ॥ ८६ ॥

इष्टांकः साध्यसाधकाक्षरांकोत्पन्नः । तेन पूरणस्य यदुपायस्तं नवकोष्ठेषु शेषप्रपूरणं नास्ति किन्तु अशेषं सकलं, षोडशकोष्ठेषु तु शेषपूरणं ज्ञानं शिवपदे ज्ञानमित्याद्यस्त्येवेति कृतिस्मरणन्यायात् ८७

प्रकृतेः सकाशात् य इष्टांकः स तु प्रकृत्या तिष्ठतीति तस्य प्रकृतिसंज्ञा । द्व्यादिगुणस्य वक्ष्यमाणत्वादेकगुणस्तिष्ठतीत्यर्थः । क्रमस्य प्रतियन्त्रं प्रोक्तस्य आदरः स्वीकारस्तस्मात् । इष्टाकं प्रथमप्रोक्तकोष्ठे विन्यस्य द्वितीयप्रोक्तकोष्ठादिषु द्व्यादिगुणं कृत्वा लिखेदिति निर्गलितार्थः ॥ ८८ ॥

षोडशादिषु कोष्ठेषु सशेषं पूरयेद्बुधः ।
इष्टांकान् स्थापयन्मन्त्री क्वचित्तान् रागतो हरेत् ॥ ८९ ॥

प्रत्यंकान्गुणान्यन्त्रपंक्तिसंख्या समं लिखेत् ।
लिखित्वा पंक्तिभेदेन वारणेनैव पूरयेत् ॥ ९० ॥
पूरयेत्पूर्वमार्गेण पक्षेणानेन देशिकः ।
यन्त्रयन्त्रयोस्तु संख्याभिर्विभजेत्ताम्यथाक्रमात् ॥[7]९१ ॥

तत्रैकभागे प्रथमे कोष्ठे मन्त्री प्रपूरयेत् ।
द्वितीयादिषु कोष्ठेषु एकवृद्ध्या प्रपूरयेत् ॥ ९२ ॥
पंक्तिसंख्याविभागेन शेषांका ये भवन्ति ते ।
पुनः प्रोक्तक्रमेणैव पूरयेदंकशास्त्रतः ॥ ९३ ॥

क्रमोऽयं सर्वयन्त्राणां पूरणेषु मयोदितः ।
यन्त्रे षोडशकोष्ठाख्ये भरणेऽपि क्रमान्तरम् ॥ ९४ ॥
ज्ञानं शिवपदे ज्ञानं ज्ञानं गोप्तुः सुराननम् ।
इष्टार्द्धयूनितं तेषु गुप्तसारशिवापदैः ॥ ९५ ॥
नानारसतुलानाना नाना जपशानना ।
एकैकहीनमिष्टार्द्धं प्रागादिदिशकं क्रमात् ॥ ९६ ॥

माया बीजान्तरे लेख्याः सर्वे वर्णाः प्रयत्नतः ।
विन्द्यात्तृतीयकूटस्थात्तत्तदंकानुगुण्यतः ॥ ९७ ॥
ततत्तद् कोष्ठे लिखेद्वापि तत्तद्यन्त्रस्य मध्यतः ।
विलेखेद्वांच्छितं यन्त्रे मया प्रात्तेनवर्त्मना ॥ ९८ ॥

नवषोडशकोष्ठेषु विलिखेद्वर्णमण्डलम् ।
मातृकाक्षरविन्यासं तत्रादौ नवकोष्ठके ॥ ९९ ॥

अकारादिक्षकारान्तान्विन्यसेत्कोष्ठकेषु तान् ।
पंचपंचविभागेन ङत्रणास्तु विवर्जयेत् ॥ १०० ॥

पुनराद्येषु तिसृषु शेषान्वर्णान्समालिखेत् ।
नवकोष्ठेष्वनेनैव प्रकारेण लिखेत्प्रिये ॥ १०१ ॥

---

अत्रादिशब्दः प्रकारे शिव इत्येवं च विंशादिकोष्ठं शषपूरणकथनात् । षोडशकोष्ठप्रकारेषु कोष्ठेषु षोडषोरित्यर्थः । सशेषं समानशेषं । कोष्ठाष्ठकशेषं यथास्यात्तथेत्यर्थः । क्वचित्षोडशकोष्ठकप्रकारे । तानिष्टांकान् । रागत इच्छातः हरेत् लेख्यकोष्ठानित्यूहः ॥ ८९ ॥

अर्द्धं क्रमश एवार्द्धमेकाद्यूनं ततः क्रमः ।
स्वरान् काद्यान्विनाऽऽत्मनैः
क्षाद्यान्युत्क्रमतो लिखेत् ॥ १०२ ॥
षोडसाख्येषु यन्त्रेषु मातृकार्णान्समालिखेत् ।
लिखिते मातृकार्णे तु सर्वसिद्धिर्भवेत्प्रिये ॥ १०३ ॥
वर्गाष्टकं चतुर्दिक्षु क्रोधबीजेन वेष्टयेत् ।
मारबीजं वधूबीजं मायामध्ये समालिखेत् ॥ १०४ ॥
मात्रिकार्णैः समावेष्टच वहिर्बज्राष्टकेन च ।
लँ रँ टँ क्षँ वँ यँ सँ हँ चाष्टदिक्षु प्रविन्यसेत् ॥ १०५ ॥
हसौः बीजं यन्त्रमध्ये प्राणत्वेनानुकल्पयेत् ।
हंसबीजं दक्षपार्श्वे सोहं बीजं तु वामतः ॥ १०६ ॥
साध्यसाधकयोर्वर्णान् विलिखेद्यन्त्रमध्यतः ।
एवं यन्त्रं समुत्पाद्य क्रोधपाशांकुशैः क्रमात् ॥ १०७ ॥
वेष्टयित्वा ततः पश्चाद्वेष्टयेत्तद्वृवेण तु ।
ततः सिद्धि. प्रजायेत नान्यथा ममभाषितम् ॥ १०८ ॥
इति ते कथितं भद्रे ! यन्त्रलेख्यविधानकम् ।
समासेन कुलेशानि ! कथयिष्येप्यतः परम् ॥ १०९ ॥

॥ इति सर्वतन्त्रोत्तमे दक्षिणामूर्त्तिपार्वतीसंवादे
शिवताण्डवे द्वादशः पटलः ॥

श्री दक्षिणामूर्त्तिरुवाच—

अतः परं प्रवक्ष्यामि गोपनीयं त्वयानघे: ! ।
गुरुवाक्यादृतेनैव प्राप्तव्यं जन्मकोटिभिः ॥ १ ॥
समं च विषमं चैव विषमं च समं ततः ।
समाभ्यां विषमं हन्याद्विषमेण समं पुनः ॥ २ ॥
समं च विषमं चैव विषमेण समेन च ।
विषमैश्च समं हन्याद्विषमै मार्गमाहरेत् ॥ ३ ॥
समेषु विषमं ज्ञेयं विषमेषु समं प्रिये ।
पूर्वं समं कार्ययोगात्पश्चाद्विषमकं प्रिये ॥ ४ ॥
पूर्वं तु विषमं ज्ञेयं कार्ययोगात्समं पृथक् ।
कोष्ठानां ज्ञानवशतः समं च विषमं भवेत् ॥ ५ ॥
समं च परिजानातु यन्त्रे ज्ञानसमाकुले ।
वेत्ता भवति सर्वेषां यन्त्राणां देशिकोत्तमः ॥ ६ ॥
साध्यसाधकयोर्वर्णानिकीकृत्य विधानवित् ।
विलिखेत्पूर्वपूर्वाच्च वृद्धितः परकोष्ठके ॥ ७ ॥

श्रीपार्वत्युवाच—

देवेश ! भक्तिसुलभ ! करुणार्णवविग्रह ! ।
सर्वज्ञाननिधे ! नाथ ! वदस्व कृपया विभो ॥ ८ ॥
साध्यवर्णाः कथ ज्ञेयाः कथं साधकवर्णकाः ।
तेषां वर्णाः कथं ज्ञेया उभयोर्भक्तिभावित ॥ ९ ॥
एतत्सर्वं ममाचक्ष्व विचार्य त्रिपुरान्तक ! ॥ १० ॥

श्रीदक्षिणामूर्त्तिरुवाच—

शृणु देवि ! महाप्राज्ञे ; सर्वयन्त्रार्थसिद्धये ।
रहस्यं सम्प्रवक्ष्यामि साध्यसाधकयोर्भवम् ॥ ११ ॥
साध्यस्तु देवता ज्ञेया साधकः कार्यलोलुपः ।
मयोक्तेषु तु यन्त्रेषु साध्यनामानि वै पृथक् ॥
कथयिष्ये वरारोहे ! साम्प्रतं साधकं शृणु ॥ १२ ॥
साधको यस्य वै कार्यं तन्नामाक्षरसंख्यया ।
देवदत्तेति यन्नाम तन्नामांकस्य मेलनम् ॥ १३ ॥
स्वरांकांस्तु पृथग्ग्राह्या हलाकारस्तु पृथक्कृताः ।
मेलयित्वा तु तान् सर्वानिकीकृत्य विधानवित् ॥१४॥
शम्भुकोष्ठं तु प्रथमं द्वितीयं तस्य दक्षिणे ।
तद्दक्षिणं तृतीयं स्यादेवमग्रेपि कल्पना ॥१५॥

लेखनस्य प्रकारोऽयं कथितस्तव सुव्रते ! ।
साम्प्रतं शृणु देवेशि ! वर्णांकमितकोष्ठकम् ॥१६॥
वेदरेखाः समाः कार्या दक्षिणोत्तरदिग्गताः ।
तथा सप्तदशैवेति कार्याः प्राक् पश्चिमाश्रिताः ॥१७॥
जायते वर्णयन्त्रं च सर्वतः परिसंस्कृतम् ।
ज्ञेयं गुरूपदेशेन अन्यथा विफलप्रदम् ॥१८॥
कथयिष्ये मातृकार्णानंकसंख्यासमन्वितान् ।
अकारे गजसंख्यांकमाकारे वाणसंख्यकम् ॥१९॥
इकारे गजसंख्या स्यादीकारे पक्षसंख्यया ।
उकारे वह्निसंख्यातमूकारे वेदसम्मितम् ॥२०॥
ऋकारे शशिसंख्यातमॄकारे स्वरसम्मितम् ।
ऌकारे रससंख्यातं ॡकारे मुनिसम्मितम् ॥२१॥
एकारे तर्कसंख्यातमैकारे वेदसम्मितम् ।
ओकारे चन्द्रसंख्यातमौकारे नेत्रसम्मितम् ॥ २२ ॥
अंकारे वह्निसंख्यं तु अःकारे पञ्चसम्मितम् ।
स्वरांकाः कथिता भद्रे ! कादीनां चाधुना शृणु ॥२३॥
ककारे नेत्रसंख्यातं खकारे वह्निसंमितम् ।
गकारे पञ्चसंख्यातं घकारे गजसंमितम् ॥२४॥
ङकारे पञ्चसंख्यातं चकारे चाष्टसमितम् ।
छकारे युग्मसंख्यातं जकारे वह्निसंमितम् ॥२५॥
झकारे वेदसंख्यातं ञकारे भूमिसंमितम् ।
टकारे मुनिसंख्यातं ठकारे तूमिसंमितम् ॥२६॥
डकारे मुनिसंख्यातं ढकारे रससंमितम् ।
णकारे वेदसंख्यातं तकारे च धरामितम् ॥२७॥

वर्णयन्त्रम्

| | | | | | | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अ | आ | इ | ई | उ | ऊ | ऋ | ॠ | ऌ | ए | ऐ | ओ | औ | अ | अ |
| ८ | ५ | ३ | २ | ३ | ४ | १ | ७ | ६ | ६ | ४ | १ | २ | ३ | ५: |
| घ | ङ | ऊ | छ | ज | झ | ञ | ट | ठ | ड | ढ | ण | त | थ | द | ध |
| ८ | ५ | २ | २ | ३ | ४ | १ | ७ | ६ | ६ | ६ | ४ | १ | २ | ३ | ५ |
| न | प | १ | १ | म | म | य | र | ल | व | श | ष | स | क /ह | ख | ग/क्ष |
| ८ | ५ | २ | २ | ३ | ४ | १ | ७ | ६ | ७ | ६ | ४ | १ | २ | ३ | ५ |

थकारे युग्मसंख्याकं दकारे वह्निसंख्यकम् ।
धकारे कामसंख्याकं गजसंख्यं नकारके ॥२८॥

पकारे पञ्चसंख्याकं फकारे गजसंमितम् ।
वकारे पक्षसंख्याकं भकारे तु शिवाक्षिकम् ॥२९॥
वेदसंख्या मकारे तु यकारे भूमिसंमतम् ।
सप्तसंख्यं रकारेपि रससंख्यं लकारके ॥३०॥
वकारेपि च मुन्यङ्कं रसांकं च शवर्णके ।
षवर्णे तु तथा वेदाः सवर्णे शशिसंख्यया ॥३१॥
कवर्णांकं हकारेपि कवर्णं पुरवो लिखेत् ।
क्षवर्णं गार्णसंख्याकं पुरतो विलिखेत्प्रिये ॥३२॥
इत्यर्णनामसंख्या तु कथिता ते वरानने ! ।
सम्यग्विज्ञाय भावेन मेलनं च ततः कुरु ॥३३॥
प्रथमं सिद्धियन्त्रं तु कथयिष्ये तवाग्रतः ।
सिद्धयन्त्रस्य साध्यं तु त्रिपुरा नाम देवता ॥३४॥

सिद्धयन्त्रम्

| | | |
|---|---|---|
| ६ | १ | ८ |
| ७ | ५ | ३ |
| २ | ९ | ४ |

साध्यवर्णांकसंख्या तु मेलयित्वा वरानने ।
हलानां च स्वराणां च संख्यां सम्यग्विधाय च ॥३५॥
साध्यसाधकवर्णांकान् गजभक्तान् प्रकल्पयेत् ।
तदुच्चारितसंख्याकं नवकोष्ठेषु विन्यसेत् ॥३६॥
अथवांकं तु संमेल्य त्रिघ्न चाष्टहृतं पुनः ।
नवभिः संयुतं कृत्वा विलिखेन्नवकोष्ठके ॥३७॥
अथवान्यप्रकारेण मेलयित्वा तदंककान् ।
द्वियुक्तान्सप्तविहृतान् नवयुक्तान् गजैर्हृतान् ॥३८॥
विलिखेत्सर्वकोष्ठेषु वृद्धितोंकान्समाहितः ।
नवकोष्ठात्मकं यन्त्रं विरच्य विधिवत्प्रिये ! ॥३९॥
तदंकं विलिखेत्कोष्ठे नेत्रसंख्ये ततः परम् ।
सप्तमे षष्ठकोष्ठे तु नवमे पञ्चमे ततः ॥४०॥

प्रथमे वेदसंख्ये तु तृतीये चाष्टमे प्रिये !।
विलिखेद्वृद्धितो देवि ! अंकानां पूर्त्तिसंख्यया ॥४१॥
पूर्वोक्तवर्णान्संलिख्य पूर्वं-पूर्वं विधानतः।
यन्त्रं निष्पाद्य देवेशि ! मुद्रिकायां समालिखेत्।
प्रातरुत्थाय तां मुद्रां द्रष्टवा दुःखैर्नलिप्यते ॥४२॥
प्रक्षाल्य जलमध्ये तु मुद्रिकां मुखधावनम्।
कुरुते यो नरो देवि ! न स दुःखैः प्रबाध्यते ॥४३॥
बालस्य कण्ठसंलग्नं यन्त्रं दुष्कृतिनाशनम्।
महायन्त्रं वरारोहे ! भाण्डागारे तु निःक्षिपेत् ॥
कुबेर इव वित्ताढ्यो जायते मण्डलात्प्रिये ! ॥४४॥
इति ते हि समाख्यातं महायन्त्रं परात्परम्॥४५॥

इति सिद्धयन्त्रं प्रथमम्।

श्रीदक्षिणामूर्त्तिरुवाच—

शृणु ते संप्रवक्ष्यामि यन्त्रं सम्मोहनं परम्।
येन विज्ञातमात्रेण सर्वसिद्धिमवाप्नुयात् ॥४६॥

संमोहनं यन्त्रम्

| | | |
|---|---|---|
| २ | ७ | ६ |
| ९ | ५ | १ |
| ४ | ३ | ८ |

षष्ठे च प्रथमे चाष्टे सप्तमे बाणसंज्ञके।
तृतीयेपि द्वितीयेपि पञ्चाच्च नवमे बुधः ॥४७॥
तुर्य-कोष्ठे लिखिद्देवि ! सम्यग्विज्ञाय मानसम्।
साध्यमत्र भवेद्देवि ! शिखिपिच्छाभिधं बृहत् ॥४८॥
साध्यसाधकयोर्वर्णान् रविघ्नान् पञ्चभाजितान्।
पूर्वोक्तैरष्टगन्धैस्तु विलिखेत्सर्वयन्त्रकम्।
धारणाच्चास्य यन्त्रस्य जगत्संमोहनं ध्रुवम् ॥४९॥
इति सम्यक्समाख्यातं यन्त्रं संमोहनं नृणाम्।
राज्ञां राजपत्नीनां सिंहव्याघ्रादिकर्षणम् ॥५०॥

इति संमोहनं द्वितीयं यन्त्रम्।

भूतविद्रावणं चान्यत्सम्यक्त्वं श्रोतुमर्हसि ।
नामोच्चारेण यन्त्रस्य भूतानां शमनं परम् ॥५१॥

**भूतविद्रावणं यन्त्रम्**

| | | |
|---|---|---|
| ४ | ९ | २ |
| ३ | ५ | ७ |
| ८ | १ | ६ |

अष्टमेपि तृतीयेपि चतुर्थे सुरसुन्दरि ! ।
प्रथमे पञ्चमे पञ्चान्नवमे रससंज्ञिते ॥५२॥
सप्तमे नेत्रसंख्येपि लिखेदंकाननुक्रमात् ।
साध्यमत्र तु देवेशि ! त्वरिताकुलनायिका ॥५३॥
साध्यसाधकयोर्वर्णान् सप्तसंभाजितान् कुरु ।
अथवा नवसप्तत्या विभजेत्सुरमानतः ॥५४॥
अष्टभिः पूर्वद्रव्यैश्च विषनामांकमेलितैः ।
धारणाच्चास्य यन्त्रस्य भूतानां संक्षयो भवेत् ॥५५॥
डाकिनीशाकिनीभूतप्रेतवेतालसंज्ञितान् ।
वशमानयते देवि ! भस्मीभूतान् करोत्यसौ ॥५६॥
इति सम्यक्सुगदितं यन्त्रं भूतविदारणम् ।
पुत्राय भक्तियुक्ताय दत्त्वा भवेद्ध्रुवः ॥५७॥
इति भूतविद्रावणं यन्त्रम् ।
अथ वक्ष्ये परं यन्त्रं जगद्विजयसंज्ञकम् ।
इदं यन्त्रं वरारोहे सद्यः प्रत्ययकारकम् ॥५८॥

**जगद्विजयदं यन्त्रम्**

| | | |
|---|---|---|
| ६ | ७ | २ |
| १ | ५ | ९ |
| ८ | ३ | ४ |

मया धृत्वा महादेवि ! त्रिपुरो निहतः पुरा ।
तुर्यकोष्ठे वह्निकोष्ठे कोष्ठे तु गजसंमिते ॥५९॥
नवकोष्ठे वाणकोष्ठे प्रथमेपि द्वितीयके ।
सप्तमे रससंज्ञेपि विन्यसेत्सुसमाहितः ॥६०॥
इदं यन्त्रं विजयदं द्रव्यैः पूर्वोदितैर्लिखेत् ।
साध्यमत्र भवेद्देवि विरजासुरसुन्दरी ॥६१॥
लिखित्वा यन्त्रराजं तु भेर्यां संस्थापयेद्बुधः ।
अथवा तु पताकायां वाहनोपरि धारयेत् ॥६२॥
शत्रून्सर्वान् पराभूय विजयी मानवो भवेत् ॥६३॥
इदं गोप्यं त्वया भद्रे ! ममातिप्रियमुत्तमम् ।
जगद्विजयदं यन्त्रं श्रुत्वा गोप्यं त्वयानघे ! ॥६४॥

इति जगद्विजयदं यन्त्रम् ।

त्रैलोक्यमोहनं चान्यत्सम्यक् शृणु वरानने ! ।
द्वितीये सप्तमे षष्ठे नवमे पञ्चमे पुनः ॥६५॥
प्रथमे तुर्यकोष्ठे च तृतीये नागसंमिते ।
विलिखेदमुना देवि ! प्रकारेण समाहितः ॥६६॥
त्रैलोक्यविजयं नाम यन्त्रं मम प्रियंकारकम् ।
साध्यसाधकयोर्वर्णान् रससप्ताष्टभाजितान् ॥६७॥

त्रैलोक्यविजयं यन्त्रम्

| | | |
|---|---|---|
| ६ | १ | ८ |
| ७ | ५ | ३ |
| २ | ९ | ४ |

अथवा सप्तवसुभिरथवा नवपञ्चकैः ।
साध्यमत्र वरारोहे चण्डिकादेवता परा ॥६८॥
पूर्वोक्तैरेव संलेख्य गन्धैश्चातिमनोहरैः ।
धारयेन्मस्तके भद्रे ! अथवा बाहुमूलके ॥६९॥
पुटके तु समाधाय स्थाने विमलसंज्ञके ।
इदं त्रैलोक्यविजयं तवाग्रे प्रकटीकृतम् ॥७०॥

इति त्रैलोक्यविजयं यन्त्रम् ।

आपद्धरमिदं यन्त्रं सद्यः प्रत्ययकारकम् ।
महादुःखे महाकष्टे महाव्याधौ महाभये ॥७१॥

आपद्धरं यन्त्रम्

| | | |
|---|---|---|
| ६ | १ | ९ |
| ७ | ५ | ३ |
| २ | ८ | ४ |

मानसे राज्यदे कष्टे धारयेद्यन्त्रनायकम् ।
साध्यसाधकयोर्वर्णान् रससंख्याविभाजितान् ॥७२॥
साध्यमत्र वरारोहे ! हिंगुला नाम देवता ।
इदं यन्त्रं वराधक्यं कण्ठे वाहौ तु धारयेत् ॥७३॥
न दुःखं जायते तस्य विलिखेद्गन्धचन्दनैः ।
पूजयेत्तु प्रयत्नेन यावद्दुःखं प्रशाम्यति ॥७४॥
इदं यन्त्रं समाख्यातं गोप्यं प्राणाधिकं मम ॥७५॥

इत्यापद्धरं यन्त्रम् ।

अथ वक्ष्ये विधानेन सर्ववश्यकरं परम् ।
यन्त्रं सम्यग्लिखित्वा तु मानिनि ! प्राणतोधिके ॥७६॥
युग्मे तुरंगे तर्के तु नवमे पञ्चमादिमे ।
पुनश्चतुर्थे विलिखेत्तृतीये गजसंमिते ॥७७॥
साध्यसाधकयोर्वर्णान्सिप्तसप्तनवेहृतान् ।
विलिखेत्परमेशानि यन्त्रं सर्ववशं करम् ॥७८॥

सर्ववशकरं यन्त्रम्

| | | |
|---|---|---|
| ६ | १ | ८ |
| ७ | ५ | ३ |
| २ | ९ | ४ |

साध्यमत्र महादेवी देवता कुलसुन्दरी ।
धारयेद्धृदये देवि दक्षबाहौ तथा प्रिये ॥७९॥
इदं यन्त्रं सदा धार्यं मम चातिप्रियं करम् ।
मया संधार्यते नित्यं लोकवश्यार्थ-सिद्धये ॥८०॥

इति सर्ववशंकरं सप्तमं यन्त्रम् ।

अथ सम्यक् शृणु प्राज्ञे यन्त्रं कर्षणकारकम् ।
भूदेशवनितावृक्षनदीनदसु संज्ञिता ॥८१॥

आकर्षणं यन्त्रम्

| | | |
|---|---|---|
| ६ | १ | ८ |
| ७ | ५ | ३ |
| २ | ९ | ४ |

हिरण्यवस्त्रदेवादि-प्रतिमा चालनं परम् ।
अश्वद्वयं ततो नागो मन्त्री वारद्वयं भवेत् ॥८२॥

नागश्चापि तुरंगौ च विलिखेद्द्वौ विभागशः ।
साध्यसाधकयोर्वर्णान्विभज्य जगती रसैः ॥८३॥

विलिखेन्मध्यकोष्ठादिकोष्ठप्रथमपंक्तितः ।
साध्यमत्र वरारोहे देवी मधुमती स्वयम् ॥८४॥

विलिखेच्चाष्टगन्धैश्च मनोऽभिलषितप्रदम् ।
कण्ठे बाहौ धारयेद्यो नरो नरशताधिपः ॥८५॥

इदं यन्त्रं समाख्यातं कर्षणं सर्वदेहिनाम् ।
न देयं परशिष्येभ्यो मान्यं मम वचो यथा ॥८६॥

इत्याकर्षणं यन्त्रमष्टमम् ।

शृणु भद्रे ! परं यन्त्रं निधिदर्शनकारकम् ।
भूमिस्थं च जलस्थं च तथा पर्वतसंस्थितम् ॥८७॥

**निधिदर्शनं यन्त्रम्**

| | | |
|---|---|---|
| ४ | ९ | २ |
| ३ | ५ | ७ |
| ८ | १ | ६ |

राजगृहे स्थितं यच्च बहुकालेन विस्मृतम् ।
स्ववंशे स्थापितं यच्च यच्च कालेन हापितम् ॥८८॥
तं निधिं कुरुते ज्ञातं यन्त्रं तद्वच्मि सांप्रतम् ।
अष्टमे च तृतीये च चतुर्थे प्रथमे भवेत् ॥८९॥
पञ्चमे नवमे कोष्ठे रसे सप्तमके तथा ।
द्वितीये तु वरारोहे विलिखेच्छास्त्रमार्गतः ॥९०॥
साध्यसाधकयोर्वर्णान्द्विगुणान्सप्तभाजितान् ।
मध्यकोष्ठं समाश्रित्य बिलिखेन्मन्त्रवित्तमः ॥९१॥
साध्यमत्र वरारोहे भोगिनीतलवासिना ।
इदं यन्त्रं स्थले तस्मिन् स्थापयित्वा गवेषयेत् ॥९२॥
सम्यक्संलभते द्रव्यं निधिं नवविधं प्रिये ! ।
मया भगवते पूर्वं विष्णवे प्रभविष्णवे ॥९३॥
कथितं प्रकटीकृत्य तवाग्रे चाधुना प्रिये ।
सर्वस्वदायिने वाच्यं सुप्रजायापि वा प्रिये ॥९४॥

इति निधिदर्शनं यन्त्रं नवमम् ।

अथ वक्ष्ये बालरक्षाकरं यन्त्रं हितार्थदम् ।
बालानां पूतनादोषहरणं भयनाशनम् ॥९५॥
तुर्ये चैव तृतीयेपि नागाख्ये नवमे पुनः ।
पंचमे प्रथमे नेत्रे सप्तमे रससंज्ञिते ॥९६॥

विलिखेत्परमेशानि शास्त्रदृष्टया विचक्षणः ।
साध्यसाधकयोर्वर्णान् वेदघ्नान्नवभाजितान् ॥९७॥

**बालरक्षाकरं यन्त्रम्**

| | | |
|---|---|---|
| ६ | ७ | २ |
| १ | ५ | ९ |
| ८ | ३ | ४ |

मध्यकोष्ठाद्विपंक्तेस्तु विभज्य पुनरग्रतः ।
साध्यमत्र भवेद्देवि शीतला परमेश्वरी ॥९८॥
पूर्वोक्तद्रव्यविभवैर्यथाविधि परमेश्वरि ।
धारयेत्कण्ठमध्ये तु बालस्य सततं प्रिये ॥९९॥
न पूतना भयं तस्य डाकिनीशाकिनी भयम् ।
वह्निदाहभयं तस्य आधिःव्याधिविनाशनम् ॥१००॥
इदं यन्त्रं बालरक्षाकरं तव हिताय वै ।
कथितं तु मया सम्यग्विचार्य यन्त्रनायकम् ॥ १०१ ॥

इति बालरक्षाकरं यन्त्रम् ।

अथातस्स्तम्भनं वक्ष्ये यन्त्रं मम प्रियं करम् ।
स्तंभनं च रथाश्वानां गजानां मदशालिनाम् ॥ १०२ ॥

**स्तम्भन यन्त्रम्**

| | | |
|---|---|---|
| ६ | १ | ८ |
| ७ | ५ | ३ |
| २ | ९ | ४ |

दुष्टानां विषनागानां सलिलाग्रमहीरुहाम् ।
स्तंभनं पररा्ष्ट्रस्य वादिनो बुद्धिकीलनम् ॥ १०३ ॥

योषितां मनसस्तंभं यन्त्रं चैव करोति हि ।
अश्वद्वयं गजश्चैको मन्त्रिद्वयमतः परम् ॥ १०४ ॥

**जगन्मोहनं यन्त्रम्**

| | | |
|---|---|---|
| ६ | १ | ८ |
| ७ | ५ | ३ |
| २ | ९ | ४ |

गजोश्वोऽश्वश्च प्रथमाद्विलिखेन्मध्यकोष्ठतः ।
साध्यसाधकयोर्वर्णान् त्रिगुणान्मूलभाजितान् ॥१०५॥
मध्यकोष्ठं समाश्रित्य यावत्संख्यांकपूरणम् ।
साध्यमत्र समाख्याता बगला दुष्टघातिनी ॥ १०६ ॥
पूर्वोक्तैः सहरिद्रैश्च हरितालेन मेलितैः ।
विलिखेद्यंत्रराजं तु सर्वस्तंभनकारकम् ॥ १०७ ॥
धारयेद्वामबाहौ वा वामपादेथवा प्रिये ।
धारणाद्यन्त्रराजस्य स्तंभयेदखिलानरीन् ॥ १०८ ॥
इदं यन्त्रं मयाख्यातं कार्त्तिकेयाय सुन्दरि ! ।
दैत्यसेनास्तंभनार्थं ततो ख्यातं तवाग्रतः ॥ १०९ ॥

इति स्तम्भनयन्त्रम् ।

जगन्मोहननामानं यन्त्रं सम्यग्ब्रवीमि ते ।
मोहनं राजपत्नीनां राज्ञां धनवतां तथा ॥ ११० ॥
रिपूणां राजतुल्यानां व्यावहारिकसद्दृदाम् ।
हितदं परमं यन्त्रं शृणु ज्ञान-विशारद ॥ १११ ॥
तुरगस्तुरगोदन्तो यन्त्री मन्त्री ततः परम् ।
पुनर्नागः पुनश्चाश्वस्तुरगस्तदनन्तरम् ॥ ११२ ॥
नवकोष्ठं समालिख्य यथानुक्रमयोगतः ।
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्यांकभाजितान् ॥ ११३॥
पञ्चभिर्गुणितान्सप्तभाजितान् पूरयेद्बुधः ।
साध्यमत्र विदित्वा तु देवीं श्रीभुवनेश्वरीम् ॥ ११४ ॥

पूर्वोक्तैरेव सद्द्रव्यैर्मधुरत्रयमिश्रितैः ।
विलिखेद्यंत्रराजं तु जगन्मोहनकारकम् ॥ ११५ ॥

मोहयेत्सकलान् राज्ञो जगत्स्थावरजंगमान् ।
देवता प्रतिमां वाणीं योषितं जनसंकुलम् ।
मोहयेद्दयिते सर्वं नात्र कार्या विचारणा ॥ ११६ ॥

इदं यन्त्रं जगन्मोहजननं शुभदं हितम् ।
गोप्यं त्वया वरारोहे ! वन्ध्याय तु न दापयेत ॥ ११७ ॥

इति जगन्मोहनं द्वादशं यन्त्रम् ।

अतः परं प्रवक्ष्यामि महापदप्रदायकम् ।
यन्त्रं वक्ष्यामि ते देवि ! मम चातिप्रियं करम् ॥११८॥

**महापदप्रदायकं यन्त्रम्**

| | | |
|---|---|---|
| ६ | १ | ८ |
| ७ | ५ | ३ |
| २ | ९ | ४ |

राज्यदं चेन्द्रपददं भुवनत्रयदं त्विदम् ।
राष्ट्रदं द्विपदं देवि यन्त्रं सर्वार्थसिद्धिदम् ॥ ११९ ॥

घोटकस्तुरगोदंती प्रकृतिः प्रकृतिः पुनः ।
पुनर्हस्ती पुनश्चाश्वस्तुरगश्चयथाक्रमम् ॥ १२० ॥

मध्यकोष्ठं समाश्रित्य विलिखेत्साधकोत्तमः ।
साध्यसाधकयोर्वर्णान्विभज्य नवभिस्तथा ॥ १२१ ॥
गुणितान् पञ्चनवभिः शेषं संपूरयेद्बुधः ।
साध्यमत्र दयासिंधो दुर्गा दुर्गत्तिनाशिनी ॥ १२२ ॥
पूर्वोक्तैरष्टगंधैश्च विलिखेत्सुसमाहितः ।
महापदप्रदं शीघ्रं राज्यदं धनदं महत् ॥ १२३ ॥
गजाश्वरथसम्पत्तिविविधार्थविधायकम् ।
मम प्रियं मया पूर्वं ब्रह्मणे समुदाहृतम् ॥ १२४ ॥

इदं यन्त्रं मया तुभ्यं महापदविधायकम् ।
कथितं शास्त्रयोगेन श्रुत्वा गोप्यं त्वयानघे ! ॥
गोपनात्सिद्धिदं ह्येतत्प्राकट्यान्न फलप्रदम् ॥ १२५ ॥

इति महापदप्रदायकं १३ यन्त्रम् ।

अथातः शृणु देवेशि मारणाख्यं परं त्विदम् ।
न कस्यचिन्मयाख्यातं यन्त्रं दुष्टभयप्रदम् ॥ १२६ ॥

**मारणं यन्त्रम्**

| | | |
|---|---|---|
| ६ | १ | ८ |
| ७ | ५ | ३ |
| २ | ९ | ४ |

प्राणात्यये हि कर्त्तव्यं न क्षुद्राय कदाचन ।
प्राणानां हरणं यन्त्रं सदा गोप्यं मया कृतम् ॥ १२७ ॥

साम्प्रतं तव निर्वन्धाद्वक्ष्येहं यन्त्रनायकम् ।
वाजी वाजी तथा दंती मंत्री मंत्री ततःपरम् ॥ १२८ ॥

अनेकशः पुनर्दन्ती तुरगद्वयमेव च ।
यथानुक्रमयोगेन मध्यकोष्ठात्सुरेश्वरि ॥ १२९ ॥

साध्यसाधकयोर्वर्णान्वेदसंगुणितान्पुनः ।
त्रिवेदविहृतान् पश्चात् मध्यकोष्ठादितो लिखेत् ॥१३०॥

साध्यमत्र तु विज्ञेया नाम्ना धूमावती सती ।
पूर्वोक्तैरेव सद्द्रव्यैर्यन्त्रराजं समालिखेत् ॥ १३१ ॥

दुष्टानां धनिनां चैव द्रोहिणां द्रोहकारिणाम् ।
राज्यवृत्तिहराणां च राष्ट्रदेशाभिमानिनाम् ॥ १३२ ॥

क्रूराणां कठिनानां तु मारणं तु समुदाहृतम् ।
प्राणात्यये तु कर्त्तव्यं मारणार्थं प्रयोगकम् ॥ १३३ ॥

इदं मया दैत्यवधे पूर्वं सम्यक् प्रकीर्तितम् ।
अंधकस्य वधे ह्येतन्मया संधारितं पुरा ।।
तव स्नेहेन देवेशि प्रकटी क्रियते मया ।। १३४ ।।

इति मारणं यन्त्रम् १४ ।

अथ वक्ष्ये सुरेशानि दुष्टानां तु निवारणम् ।
यन्त्रराजं वरारोहे सकलाभीष्टदायकम् ।। १३५ ।।

दुष्टनाशनं यन्त्रम्

| | | |
|---|---|---|
| ६ | १ | ८ |
| ७ | ५ | ३ |
| २ | ९ | ४ |

तुरगस्तुरगोदंती मन्त्री मन्त्री ततः परम् ।
अनेकशः पुनर्मन्त्री घोटकश्चापि घोटकः ।। १३६ ।।

विलिखेत्परमेशानि नायकं यन्त्रनामिनाम् ।
साध्यसाधकयोर्वर्णान् विभज्य नवभिः पुनः ।। १३७ ।।

सप्तभिः सुसमागुण्य मध्यकोष्ठादिकं न्यसेत् ।
साध्यसाधकयोर्वर्णान् विभज्य नवभिः पुनः ।। १३८ ।।

पञ्चभिर्गुणितान्कृत्वा विलिखेद्देशिकोत्तमः ।
साध्यमत्र विजानीयाल्लघुश्यामा परा मता ।। १३९ ।।

पूर्वोक्तेन विधानेन चाष्टगंधेन संलिखेत् ।
धारयेद्दक्षिणे वाहौ कण्ठे वा मूर्दिघ्न विन्यसेत् ।।
सर्वदुष्टमुखस्तंभो नाशनं चारिणां भवेत् ।। १४० ।।

इदं यन्त्रं मया ख्यातं दुष्टनाशनमुत्तमम् ।
गोपनीयं त्वया भद्रे ! स्वयोनिरिव वसुव्रते ! ।। १४१ ।।

इति दुष्टनाशनं यन्त्रम् ।

मारीणां शमनं यन्त्रं संक्षेपात्ते ब्रवीम्यहम् ।
महामारीप्रशमनं सर्वारिष्टविनाशनम् ॥ १४२ ॥

मारीहरं यन्त्रम्

| | | |
|---|---|---|
| ६ | १ | ८ |
| ७ | ५ | ३ |
| २ | ९ | ४ |

दमनं दृष्टिमुष्टीनां शमनं व्याधिभेषजम् ।
गन्धर्वोप्यथ गन्धर्वः पद्मी मन्त्रिद्वयं तथा ॥ १४३ ॥
पुनः पद्मो पुनर्मन्त्री गन्धर्वद्वयमेव च ।
क्रमशो भरयेदंकान्मध्यकोष्ठविभागतः ॥ १४४ ॥
साध्यसाधकयोर्वर्णान्दिशविभाजितान् ।
शेषांकभरणं कुर्याद्दैशिकः प्रोक्तमार्गतः ॥ १४५ ॥
साध्यमत्र महादेवि विचित्रा परमेश्वरी ।
पूर्वोक्तैः सुमनोभिश्च चन्दनैर्गन्धमेलितैः ॥ १४६ ॥
विलिखेद्यन्त्रराजं तु साधकः सुसमाहितः ।
कण्ठे वा वामबाहौ वा धारयेद्यन्त्रमुत्तमम् ॥ १४७ ॥
मारीभयं शमं याति महामारी भयं तथा ।
अकालमरणं नैव लभते देवि ! मानवः ॥ १४८ ॥
इदं यन्त्री महामारीशमनं समुदाहृतम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन कलौ कृतवतां शुभम् ॥
नासाध्यं यन्त्रराजेन विद्यते जगतीतले ॥ १४९ ॥

इति मारीहरं यन्त्रम् ।

अथातो दुर्घटं यन्त्रं वदिष्ये प्राणवल्लभे ! ।
अप्राप्तप्राप्तिकरणं मनोभिलषितप्रदम् ॥ १५० ॥
दूरस्थं वा समीपस्थं दुर्घटं सुघटं भवेत् ।
हयद्वयं गजश्चैको मन्त्री मन्त्री तथा गजः ॥
हयोऽश्वश्च क्रमेणैव पूरयेन्मध्यकोष्ठतः ॥ १५१ ॥

हस्तद्वयं गजश्चैको मन्त्रीचैव भवेन्मन्त्री ॥ १५२ ॥
साध्यसाधकयोर्वर्णान्द्विगुणान् दशविभाजितान् ।
मध्यादितः समालिख्य यन्त्रराजमनुत्तमम् ॥ १५३ ॥

दुर्घटं यन्त्रम्

| | | |
|---|---|---|
| ६ | १ | ८ |
| ७ | ५ | ३ |
| २ | ९ | ४ |

साध्यमत्र विजानीयाद्देवीं ज्वालां द्युमालिनीम् ।
पूर्वोक्तैरष्टगन्धैश्च विलिखेत्सुसमाहितः ॥ १५४ ॥

धारयेद्धरणी - मध्ये हस्तमात्रं विलेखिते ।
ज्ञायते सर्वसिद्धिश्च नात्र कार्या विचारणा ॥ १५५ ॥
इदं यन्त्रं समुद्दिष्टं दुर्घटं सुखदं त्विदम् ।
विजयप्रदमेतत्तु नानाकार्यकरं परम् ॥ १५६ ॥

इति दुर्घटं यन्त्रम् १७ ।

अथ दुःखहरं वक्ष्ये यन्त्रं मम मनोहरम् ।
नानादुःखहरं चैतत्सदा विभवदायकम् ॥ १५७ ॥

व्याधिदुःखं मनोदुःखं दुःखं स्त्रीजनितं तथा ।
द्रव्यदुःखं सुतादुःखं दुःखं ज्ञातिभवं परम् ॥ १५८ ॥
नाशमायाति देवेशि ! यन्त्रस्यास्य विधारणात् ।
हयश्चाशुरयो हस्ती मन्त्री मन्त्री ततः परम् ॥१५९ ॥

गजो हयो हयश्चैव मध्यकोष्ठादिकं न्यसेत् ।
साध्यसाधकयोर्वर्णान् रुद्रघ्नान् सविभाजितान् ॥१६०॥
शेषांकैः पूरणं कृत्वा मन्त्री गुरुविधानतः ।
साध्यमत्र विशालाक्षी देवी त्रिभुवनेश्वरी ॥ १६१ ॥

### दुःखहरं यन्त्रम्

पूर्वोक्तेनाष्टगन्धेन विलिखेद्यन्त्रनायकम् ।
धारयेदंगसंलग्नं सर्वदुःखहरं परम् ॥ १३२ ॥
इदं यन्त्रं मया भद्रे ! तव स्नेहात्पृथक्कृतम् ।
दुष्टाय भक्तिहीनाय न देयं वै त्वयानघे ॥ १६३ ॥

इति दुःखहरं यन्त्रम् ।

अथ यन्त्रं सिद्धिसंज्ञं प्रब्रवीमि शृणुष्व तत् ।
मुनीनां तपसायुक्तमनसां योगिनां तथा ॥ १६४ ॥
वैद्यकानां च शिल्पीनां दैवज्ञानां विमानिनाम् ।
सिद्धिदं ज्ञानदं चैतद्विधिपूर्वं निबोध तत् ॥ १६५ ॥

### सिद्धिकरं यन्त्रम्

अश्वमश्वं तथा नागं मन्त्रिणं मन्त्रिणं पुनः ।
नागं मन्त्रिणमेवं स्यात्तुरगं तुरगं पुनः ॥ १६६ ॥
यथानुक्रमयोगेन शास्त्रमार्गेण भामिनि ! ।
मध्यकोष्ठादितो लेख्यं यावदंकविसर्पणम् ॥ १६७ ॥

साध्यसाधकयोर्वर्णान् पक्षघ्नान् तिथिभाजितान् ।
विलिखेन्मध्यकोष्ठादि - क्रमेण सुरवन्दिते ॥१६८॥
साध्यमत्र तु विज्ञेया मातंगी परमा परा ।
अष्टगंधैस्तु पूर्वोक्तैर्मेलयित्वा लिखेदमुम् ॥ १६९ ॥
धारयेत्सततं मूर्ध्निधनतः सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १७० ॥
इदं यन्त्रं मया भद्रे ! भवतारणकारणम् ।
कथितं तव सान्निध्यप्रदं परमपावनम् ॥ १७१ ॥
गोप्यं गोप्यं त्वया भद्रे सिद्धार्थं सिद्धसेवितम् ॥ १७२ ॥

इति सिद्धिकरं यन्त्रम् ।

सारस्वतप्रदं यन्त्रं वक्ष्यामि शृणु साम्प्रतम् ।
वेदशास्त्रपुराणानि काव्यव्याकरणानि च ॥१७३॥
ज्यौतिषं भैषजं कर्म सर्वविद्योपयोगिकम् ।
विद्योपविद्यासंघानां ज्ञानानां च परं त्विदम् ॥ १७४ ॥

विद्याप्रदं यन्त्रम्

| | | |
|---|---|---|
| ६ | १ | २ |
| ७ | ५ | ९ |
| २ | ३ | ४ |

न कस्यचिन्नमयाख्यातं पृच्छतामपि भामिनि ।
साम्प्रतं कथ्यते देवि ! तवाग्रे यन्त्रनायकम् ॥ १७५ ॥
अश्वश्चैव हयश्चैव गजश्चैवं वरानने ।
मन्त्री मन्त्री चापि परं नागश्चापि हयद्वयम् ॥ १७६ ॥
क्रमेणानेन देवेशि ! विलिखेद्देशिकोत्तमः ।
साध्यसाधकयोर्वर्णान्नवघ्नान्सप्तभाजितान् ॥ १७७ ॥
पूरयेन्मध्यकोष्ठादिविधानेन नरोत्तमः ।
साध्यमत्र महाघोरा काली नामाद्य दैवतम् ॥ १७८ ॥

सुगंधैश्चाष्टगधैश्च पूरयित्वा विधानतः ।
प्रक्षाल्य जलमध्ये तु क्षालयित्वा पिबेन्नर ॥ १७६ ॥

मासात्कविर्भवेन्नूनं षण्मासात्पण्डितो भवेत् ।
वर्षात्सर्वविधानज्ञः सर्वविद्याविशारदः ॥ १८० ॥

मूर्खः पण्डिततां याति किं पुनः पण्डितो जनः ।
इदं यन्त्रं मया भद्रे ! गणेशाय समर्पितम् ॥ १८१ ॥

गुरवे गिरिजे दत्तं स विद्याविभवो भवत् ।
गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं परात्परम् ।
शिष्याणां हितकामाय मया प्रोक्तं वरानने ! ॥ १८३ ॥

इति विद्याप्रदं यन्त्रम् ।

अथ ते सम्प्रवक्ष्याभि यन्त्रं वनभयापहम् ।
न व्याघ्रपथिकक्षुद्रदस्युपर्वतजं भयम् ॥ १८४ ॥

भयं न जायते देवि ! मानसस्थं न संशयः ।
अश्वोऽश्वश्च राजो मन्त्री द्वयमतः परम् ॥ १८५ ॥

गजो मन्त्री तुरंगश्च हयेन परित. क्रमात् ।
पूरयेन्मध्यकोष्ठादि गणनाक्रमभेदतः ॥ १८६ ॥

**वनभयापहं यन्त्रम्**

| | | |
|---|---|---|
| ६ | १ | ८ |
| ७ | ५ | ३ |
| २ | ९ | ४ |

साध्यसाधकयोर्वर्णान् रविभक्तान् शिवा हतान् ।
कोष्ठपंक्तेः प्रथमतो मध्यतो वै समा लिखेत् ॥१८७॥

साध्यमत्र विजानीयाद्देवी श्रीवनदुर्गिका ।
पूर्वोक्तैर्गन्धबहुलैः पदार्थैः संलिखेद्बुधः ॥ १८८ ॥

धारयेद्दक्षिणे बाहौ मुकुटे आथवा प्रिये ।
धारणाद्यन्त्रराजस्य भयं नैव प्रजायते ॥१८९॥

इदं यन्त्रं वरारोहे न गजोद्भूयनाशनम् ।
गोप्यं त्वया प्रयत्नेन देयं पुत्राय पार्वति ॥ १९० ॥

इति वनभयावहं यन्त्रमेकविंशम् ।

ॐ ऐं ऐं ऐं सरस्वतीं वाक्तत्त्वं स्फुरन्ति जिह्वाकण्ठे शारदाय नमः ॥

अथ वक्ष्ये महेशानि विषाशकरं परम् ।
यन्त्रं सम्प्रति ते वच्मि श्रुत्वा तदवधारय ॥ १९१ ॥

विषाणि नवभेदानि स्थावराणि चराणि च ।
लूताविषं सर्पविषं वृश्चिकस्यापि यद्विषम् ॥ १९२ ॥

**विषहरं यन्त्रम्**

| | | |
|---|---|---|
| ६ | १ | ८ |
| ७ | ५ | ३ |
| २ | ९ | ४ |

व्याघ्रजं वृक्षजं चैव विषं नाशयते ध्रुवम् ।
हयो हयो गजो मन्त्री मन्त्री चैव तथा गजः ॥ १९३ ॥

हयो हयः क्रमादेतान् विलिखेन्मध्यकोष्ठतः ।
साध्यसाधकयोर्वर्णान्निवध्नान् पंचभाजितान् ॥ १९४ ॥

विलिखेन्मध्यतो देवि ! गुर्वाज्ञा लब्धमार्गतः ।
साध्यमत्र महेशानि ! ललिता परमेश्वरी ॥ १९५ ॥

अष्टगन्धैस्तु पूर्वोक्तैर्विलिख्य परमेश्वरि ।
धारयेद्यंत्रराजं तु विधिना साधकोत्तमः ॥ १९६ ॥

इदं यन्त्रं विषहरं नानाजातिसमुद्भवम् ।
हरते धारणाद्देवि ! सत्यं सत्यं न संशयः ॥ १९७ ॥

इति विषहरं यन्त्रम् ।

अथ कीटहरं वक्ष्ये नानाजंतु-निवारणम् ।
सिंहानां चित्रकाणां तु जरायूणां च विद्युताम् ॥ १ ॥
नागानां च विषोल्वानां नानालूतादिसंभवम् ।
शरभाच्च तथा कोलाद्भृश्चिकाच्च यदुद्गतम् ॥ २ ॥
सर्वं करटिसंभूतं भयं नश्यति तत्क्षणात् ।
हयश्चाश्वस्तथा नागो मन्त्री मन्त्री च भामिनि ॥ ३ ॥
नागश्चैको हयद्वन्द्वं मन्त्री पूर्वमतः परम् ।
मध्यकोष्ठादि संलिख्य यावदङ्कस्य पूरणम् ॥ ४ ॥
साध्यसाधकयोर्वर्णान्निरसहनान्सप्तभाजितान् ।
विलिखेत्परमेशानि गुरुदर्शितमार्गतः ॥ ५ ॥
साध्यमत्र महेशानि ! देवी नीलसरस्वती ।
पूर्वोक्तैरष्टगन्धैश्च विलिखेन्मन्दगामिनि ॥ ६ ॥
धारयेत्स्वभुजे देवि यथेच्छं विहरेद्वने ।
न भयं जायते क्वापि सर्वत्र समदर्शिनः ।
विचरेत्सकलां पृथ्वीं निर्भयो मानवोत्तमः ॥ ७ ॥
इदं यन्त्रं महेशानि ! कीटजन्यभयापहम् ।
गोपनीयं मनुष्येभ्यो वक्तव्यं प्रेयसे सदा ॥ ८ ॥

इति कीटभयहरं यन्त्रम् ।

अथ वक्ष्ये महेशानि यन्त्रं परमकारणम् ।
नानाकूटहरं यन्त्रं कूटकोद्गमनाशकम् ॥ ९ ॥

**कीटभयहरं यन्त्रम्**

| | | |
|---|---|---|
| ६ | १ | ९ |
| ७ | ५ | ३ |
| २ | ८ | ४ |

ज्ञातिकूटं मित्रकूटं शत्रुकूटं तथा प्रिये ।
स्त्रीकूटं देशकूटं च निवारयति यन्त्रराट् ॥ १० ॥

कूटं परकृतं कार्यं कर्मणा देहघातनम् ।
हरते यन्त्रराजोऽसौ नात्र कार्या विचारणा ॥ ११ ॥

सप्तियुग्मं गजश्चैको मन्त्रियुग्मं गजः प्रिये ।
सप्तिद्वयं च देवेशि ! मध्यकोष्ठक्रमेण तु ॥
विलिखेत्परमेशानि मम मार्गविचक्षणः ॥ १२ ॥

साध्यसाधकयोर्वर्णान्विभज्य रसपंचभिः ।
सप्तभिस्तु हरेद्भागं शेषं कोष्ठे प्रविन्यसेत् ॥ १३ ॥

साध्यमत्र महामाया सुमुखी सुमुखार्थदा ।
कोष्ठपंक्तेः प्रथमतो विलिखेत्सुखनन्दिते ॥ १४ ॥

पूर्वोक्तैरष्टगन्धैस्तु विलिख्य च शुभे दिने ।
धारयेद्दक्षिणे बाहौ मूर्ध्नि कण्ठेऽथ वा प्रिये ॥ १५ ॥

इदं यन्त्रं सुखदे मया भुवनरक्षया ।
धारितं धार्यते लोकैः सिद्धिकामार्थसिद्धये ॥ १६ ॥

इति कूटहरं यन्त्रम् ।

अथ वक्ष्ये महादेवि ! लूताविस्फोटनाशनम् ।
यन्त्रराजं सुरानन्दे अधुना प्रकृतं शृणु ॥ १७ ॥

लूताविषं प्राणहरं नाना व्याधिविधायकम् ।
असाध्यं तु महादेवि लूताविस्फोटसंज्ञकम् ॥ १८ ॥

**कुष्ठहरं यन्त्रम्**

| | | |
|---|---|---|
| ६ | १ | ८ |
| ७ | ५ | ३ |
| २ | ९ | ४ |

द्विसप्तरसनन्देषु बाणभूवेदसंमिते ।
तृतीये चाष्टमे देवि ! विलिखेद्देशिकोत्तमः ॥ १९ ॥

साध्यसाधकयोर्वर्णान्संगुण्यरसपञ्चभिः ।
नंदाग्निना भाजयित्वा शेषं कोष्ठेषु संलिखेत् ॥ २० ॥

साध्यमत्र वरेशानि ! कुरुकुल्ला वराधिका ।
मध्यकोष्ठस्थपंक्तेस्तु विलिखेद्ज्ञानवान्नरः ॥ २१ ॥

## लूताविषहरं यन्त्रम्

| | | |
|---|---|---|
| ६ | १ | ८ |
| ७ | ५ | ३ |
| २ | ९ | ४ |

पूर्वोक्तैरेव तैर्द्रव्यैर्विविच्य प्रतिपादितैः ।
लिखित्वा यन्त्रराजं तु धारयेत्कण्ठदेशतः ॥ २२ ॥

इदं यन्त्रं समुद्दिष्टं लूताविषहरं परम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन जननी जारवत्प्रिये ॥ २३ ॥

इति लूताविषहरं यन्त्रम् ।

ज्वरदाहहरं यन्त्रं नानोपद्रवनाशनम् ।
ऐकाहिकंद्व्याहिकं च त्र्याहिकं तु महाज्वरम् ॥ २४ ॥

चातुर्थिकं पांचमिकं मास्यं षाण्मासिकं तथा ।
वार्षिकं पित्तजं चैव कफजं वातजं प्रिये ॥ २५ ॥

सन्निपातं महाघोरं कृत्याराक्षसभूतजम् ।
ज्वरं नाशयते शीघ्रं यन्त्रराजः सुरेश्वरि ॥ २६ ॥

नेत्रेमुनौ रसे नंदे वाणे भुवि चतुर्थके ।
तृतीये चाष्टमे देवि विलिखेत्मध्यकोष्ठतः ॥ २७ ॥

साध्यसाधकयोर्वर्णान् त्रिघ्नान् पंचविभाजितान् ।
विलिखेत्परमेशानि पंक्तिकोष्ठविभेदतः ॥ २८ ॥

साध्यमत्र महेशानि भैरवी त्रिपुरसुन्दरी ।
उक्तक्रमेण गंधाद्यैर्विलिखेद्यन्त्रनायकम् ॥ २९ ॥

धारयेन्मणिबन्धे तु दक्षबाहौ वरानने ।
सर्वे ज्वराः पलायन्ते सिंहं दृष्ट्वा यथा गजाः ॥ ३० ॥

इदं यन्त्रं ज्वरहरं मया प्रोक्तं वरानने ।
उपकाराय लोकानां साधूनां च हिताय वै ॥ ३१ ॥

ज्वरहरं यन्त्रम्

| | | |
|---|---|---|
| ४ | ९ | २ |
| ३ | ५ | ७ |
| ८ | १ | ६ |

गोप्यं त्वया सदा भद्रे साधुभ्यो नैव गोपयेत् ॥ ३२ ॥

इति ज्वरहरं यन्त्रम् ।

कुष्ठरोगहरं यन्त्रं श्वैत्यकायकरांतकृत् ।
रूपहीनं नरं दृष्टा मच्चित्तमनुकंपितम् ॥ ३३ ॥
तदर्थं तु महायन्त्रं कल्पितं प्राणिनां हितम् ।
ब्रह्महत्यादिपापैस्तु जायते व्याधिसंभवः ॥ ३४ ॥
तन्नाशकं वरारोहे महायन्त्रमिमं शृणु ।
करे मुनौ रसे चैव नवमे पंचमे प्रिये ॥ ३५ ॥

कुष्ठहरं यन्त्रम्

| | | |
|---|---|---|
| ४ | ९ | २ |
| ३ | ५ | ७ |
| ८ | १ | ६ |

प्रथमे च चतुर्थे च तृतीये चाष्टमे प्रिये ! ।
कोष्ठस्य पंक्तिभेदेन विलिखेद् गुणोदितः ॥ ३६ ॥
साध्यसाधकयोर्वर्णान् वेदघ्नान् रसभाजितान् ।
शेषांकतः समारभ्य यन्त्रराजं लिखेत्सुधीः ॥ ३७ ॥

साध्यमत्र शुभे भद्रे विरजा नाम देवता ।
पूर्वोक्तैरेव सद्द्रव्यैर्लेखनीयं प्रयत्नतः ॥ ३८ ॥
धारयेद्वक्षसा देवि यत्र कुष्ठं भवेत्प्रिये ।
तत्क्षणान्नाशमायाति यन्त्रराजस्य धारणात् ॥ ३९ ॥
वक्तव्यं साधवे देवि ऋजवे दंभवर्जिते ।
दुष्टाय भक्तिहीनाय न वक्तव्यं कदापि च ॥ ४० ॥
इदं यन्त्रं मया प्रोक्तं सद्यः प्रत्ययकारकम् ॥ ४१ ॥

इति कुष्ठहरं यन्त्रम् ।

अथ चिन्ताहरं वक्ष्ये प्राणिनां धर्मशालिनाम् ।
धातुचिन्ता मूलचिन्ता चिन्ता या जीवसंभवा ॥ ४२ ॥
देशचिन्ता राज्यचिन्ता पुत्रचिन्ता तथा प्रिये ।
नाशयेद्यन्त्रराजस्तु नात्र कार्या विचारणा ॥ ४३ ॥
वाहुपर्वत - तर्केषु नवपंचादिमेषु च ।
तुर्यतृतीयकोष्ठे च वसुसंख्ये लिखेत्क्रमात् ॥ ४४ ॥
मध्यकोष्ठविभेदेन तत्र दृष्टेन वर्त्मना ।
साध्यमत्र महेशानि ! भवानी भवतारिणी ॥ ४५ ॥
साध्यसाधकयोर्वर्णान्दिशगुण्यान्विभाजितान् ।
त्रयोदशैः परेशानि शेषं कोष्ठे प्रविन्यसेत् ॥ ४६ ॥

चिन्ताहरं यन्त्रम्

| | | |
|---|---|---|
| ६ | १ | ८ |
| ७ | ५ | ३ |
| २ | ९ | ४ |

अष्टगन्धैः पुरोद्दिष्टैर्विलेख्यं यन्त्रमुत्तमम् ।
धारयेद्धृदये देवि नानाचिन्ताहरं भवेत् ॥ ४७ ॥
गोपनीयं प्रयत्नेन सर्वथा वीरवन्दिते ।
नाभक्ताय प्रदातव्यं निंदकाय दुरात्मने ॥ ४८ ॥

इति ते कथितं यन्त्रं सर्वचिन्ताहरं परम् ।
मया धृतं महाकालि त्रिपुरासुरनाशिनि ॥ ४९ ॥

इति चिन्ताहरं यन्त्रम् ।

अथातः शृणु देवेशि ! यन्त्रं मोक्षकरं परम् ।
ऋषीणां तापसानान्तु मुनीनां योगिनां प्रिये ॥ ५० ॥

विरक्तानां गृहस्थानां धर्मशीलविलासिनाम् ।
हितार्थं कथ्यते यन्त्रराजमिमं शृणु ॥ ५१ ॥

भुजे शैले रसे नन्दे पंचमे प्रथमे बुधौ ।
वह्नौ गजे सुरेशानि विलिखेत्तन्त्रमार्गतः ॥ ५२ ॥

साध्यसाधकयं वर्णान् रसघ्नान्सप्तभाजितान् ।
मध्यकोष्ठविभेदेन विलिखेत्सुरवन्दिते ॥ ५३ ॥

मोक्षकरं यन्त्रम्

| | | |
|---|---|---|
| ६ | १ | ८ |
| ७ | ५ | ३ |
| २ | ९ | ४ |

साध्यमत्र महारौद्रे वैष्णवी शक्तिरुत्तमा ।
पूर्वोक्तैरष्टगंधैश्च विलिखेत्सुरसाधिके ॥ ५४ ॥

धारयेद्ब्रह्मरन्ध्रे तु शिखायां वा मम प्रिये ।
धारणाद्यन्त्रराजस्य मुक्तो भवति मानवः ॥ ५५ ॥

इदं यन्त्रं मया प्रोक्तं यथार्थफलदं प्रिये ।
मार्कण्डेयाय निर्दिष्टं पूर्वं तच्चाधुना स्मृतम् ॥ ५६ ॥

गोपनीयं त्वया सम्यक् सर्वत्र श्रेयसोच्छया ।
स्वयं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं यन्त्रराजं हितं मम ॥ ५७ ॥

इति मोक्षकरं यन्त्रम् ।

अथ सम्यक् शृणु प्राज्ञे यन्त्रं मन्त्रमयं परम् ।
वन्दिमोक्षकरं यन्त्रं प्राणिनां हितकारकम् ॥ ५८ ॥
राजद्वारगतानां तु वन्दिनां चौर्यकारिणाम् ।
परस्त्रीधर्षकाणां तु परद्रव्यापहारिणाम् ॥ ५९ ॥
हितकारिमहायन्त्रं सुखकीर्त्तिकरं परम् ।
शये मुनौ रसे चांके पंचमे प्रथमे प्रिये ॥ ६० ॥
चतुर्थे च तृतीये च गजसंख्ये लिखेत्सुधीः ।
साध्यसाधकयोर्वर्णान् गजघ्नान् रुद्रभाजितान् ॥ ६१ ॥
विलिखेन्मध्यकोष्ठादि पंक्तिकोष्ठस्य भेदतः ।
साध्यमत्र महेशानि चामुण्डा वरवाहिनी ॥ ६२ ॥
पूर्वोदितैश्च तैर्द्रव्यैर्यथास्वं परिकल्पितैः ।
लिखित्वा धारयेद्यन्त्रं वन्दी मुक्तो भवेन्नरः ॥ ६३ ॥

**वन्दिमोक्षकरं यन्त्रम्**

| | | |
|---|---|---|
| ६ | १ | ८ |
| ७ | ५ | ३ |
| २ | ९ | ४ |

देयं शान्ताय दीनाय दयादानपराय च ।
राज्ञे च सखिने देयं यन्त्रराजं सदानघे ॥ ६४ ॥
न देयं निन्दकायापि कृतघ्नायानसूयवे ।
इति ते कथितं भद्रे यन्त्रराजं मनोहरम् ॥ ६५ ॥
वंदिमुक्तिकरं ह्येतद्रावणायार्पितं पुरा ।
वंदिशालां गतायापि सहस्रार्जुनमन्दिरे ॥ ६६ ॥
इदं गोप्यं पुण्यकरं दुःखदं तु प्रकाशितम् ॥ ६७ ॥

इति वंदिमोक्षकरं त्रिंशं यन्त्रम् ॥

इतिश्रीशिवताण्डवतन्त्रे दक्षिणामूर्त्तिपार्वतीसंवादे ।
नवकोष्ठयन्त्रकथनो नाम त्रयोदशः पटलः ॥

श्रीदक्षिणामूर्त्तिरुवाच—

कोष्ठषोडशकानां तु शृणु भद्रे परां क्रियाम् ।
क्रियते विबुधैर्या हितं समाधानतः परम् ॥ १ ॥

कथयिष्ये वरारोहे ! महाप्रत्ययकारकम् ।
विशेषतः कलियुगे गोप्तव्यं सर्वथांबिके ॥ २ ॥

दारिद्र्यशमनं यन्त्रं दुःखिनां प्रीतिकारकम् ।
श्रियो विप्रलतामिच्छन् साधयेद्यंत्रनायकम् ॥ ३ ॥

निधिदं रत्नदं चैव स्वर्णदं रौप्यदं प्रिये ।
देयं नासाधवे भद्रे सदा भद्रविधायकम् ॥ ४ ॥

आदौ षोडशकोष्ठानि कृत्वा साधकसत्तमः ।
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य विधानवित् ॥ ५ ॥

अर्द्धीकृत्य ततो भद्रे विषमे सार्द्धहीनकम् ।
समादेकेन वा शून्यं कर्त्तव्यं तन्त्रचोदितम् ॥ ६ ॥

ज्ञानं शिवपदे ज्ञानं ज्ञानं गोप्तुः सुराननम् ।
शेषांकमर्द्धविषमं गुप्तसारशिवापदैः ॥ ७ ॥

अनेन विधिना देवि ! पूरणीयं प्रयत्नतः ।
साध्यमत्र वरारोहे ! त्रिपुराभुवनेश्वरी ॥ ८ ॥

दारिद्र्यशमनं यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३ | ६ | ५ | ४ |
| १ | ८ | ७ | २ |
| ५ | ४ | ३ | ६ |
| ७ | २ | १ | ८ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ४ | ३ | ० | ० |
| ० | ० | २ | १ |
| ५ | ६ | ० | ० |
| ० | ० | ७ | ८ |

मध्यकोष्ठविभेदेन पूर्वोक्तैश्चाष्टगन्धकैः ।
पूर्वोक्तमातृकावर्णानां लेखनं कारयेत्क्रमात् ॥ ९ ॥

कण्ठे वा दक्षिणे बाहौ धारयेद्यन्त्रनायकम् ।
दरिद्रो लभते सौख्यं धनं निधिसमाकुलम् ॥ १० ॥

इति ते कथितं सौम्ये महादारिद्र्यनाशनम् ।
यन्त्रवर्यं मया प्रोक्तं गोपनीयं विशेषतः ॥ ११ ॥

इति दारिद्र्यशमनं यन्त्रम् ।

अतः परं प्रवक्ष्यामि यन्त्रं विद्वेषणं परम् ।
साधकानां हितार्थाय कथयिष्ये तवाग्रतः ॥ १२ ॥
द्वेषिणां राज्यहर्त्तॄणां तथा ग्रामापहारिणाम् ।
वृत्तिवर्तनकर्तॄणां तथा पैशून्यशालिनाम् ॥ १३ ॥
महामात्यं वशीकर्त्तुं राज्ञो जनविलोडनम् ।
युवत्योः प्रेमसंगार्थं तथा त्रयविकारिणाम् ॥ १४ ॥
सर्वस्वहारिणां भद्रे विद्वेषकरणं मतम् ।
शून्यं शून्यं वाणवेदाश्चन्द्राष्टौ शून्यरन्ध्रकम् ॥ १५ ॥
रन्ध्रं रोकं वह्निशास्त्रे स्वरपक्षौद्विशून्यकम् ।
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य विधानवित् ॥ १६ ॥
अर्द्धीकृतं प्रथमतस्त्रितर्कमुनिवाहुषु ।
बाणतुर्येन्दुनागेषु शेषं संमेलयेद् बुधः ॥ १७ ॥
साध्यमत्र प्रिये देवि तुलजापरमेश्वरी ।
आद्यकोष्ठविभागेन पूर्वोक्तैश्चाष्टगन्धकैः ॥ १८ ॥

विद्वेषणं यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३ | ६ | ५ | ४ |
| १ | ८ | ७ | २ |
| ५ | ४ | ३ | ६ |
| ७ | २ | १ | ८ |

विलिख्य यन्त्रराजं तु कण्ठे वा मूर्ध्नि धारयेत् ।
धारणाद्द्विषतां द्वेषो भवत्येव परस्परम् ॥ १९ ॥
इदं यन्त्रं द्वेषणकं कथितं तव सन्निधौ ।
गोपनीयं त्वया भद्रे ! स्वयोनिरिव सुन्दरि ॥ २० ॥

इति विद्वेषणं यन्त्रम् ।

वन्ध्यापुत्रप्रदं यन्त्रं तवाग्रे तु मया स्मृतम् ।
शृणुतं संप्रवक्ष्यामि यन्त्रराजं मनोहरम् ॥ २१ ॥
नारीणां हि महद्दुःखं वन्ध्याशब्देनवाचितम् ।
तद्दुःखं हरते देवि यन्त्रराजो मया स्मृतः ॥ २२ ॥
तुर्यकोष्ठे स्वगत्या च तिथौ च स्वगतिं लिखेत् ।
द्विःसप्तेरपगत्या च वाजिगत्या खरात्मके ॥ २३ ॥

मन्त्रिगत्याश्वगत्या च प्रथमं पूरयेत्सुधीः ।
तदंकाद्गजगत्या च नागकोष्ठानि पूरयेत् ॥ २४ ॥
सर्वतो न्यूनमंकेन विपरीतं समाश्रयेत् ।
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य विशेषतः ॥ २५ ॥

वन्ध्यापुत्रप्रदम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| १६ | ३ | १३ | २ |
| ९ | ६ | १२ | ७ |
| ४ | १४ | १ | १४ |
| ४ | १० | ८ | ११ |

प. वन्ध्यापुत्रप्रदम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| ८ | १ | १४ | ११ |
| १३ | १२ | २ | ७ |
| ३ | ६ | ९ | १६ |
| १५ | १० | ४ | ५ |

प. वन्ध्यापुत्रप्रदम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| १४ | ११ | ८ | १ |
| ७ | २ | १३ | १२ |
| ९ | १६ | ३ | ६ |
| ४ | ५ | १० | १५ |

अर्द्धीकृत्य च पूर्वोक्तविधानेन लिखेत्सुधी ।
साध्यमत्र वरारोहे ! नित्य विलन्ना परात्परा ॥ २६ ॥
पूर्वोक्तैरेव तद्द्रव्यैर्यन्त्रराजं समालिखेत् ।
धारयेदुत्तरे कट्यां योषितो गर्भधारणात् ॥ २७ ॥
यावदुत्पाद्यते जन्तुस्तावद्यन्त्रं तु धारयेत् ।
पश्चाच्छिशोः कंठदेशे वन्धनीयं प्रयत्नतः ॥ २८ ॥
इदं यन्त्रं धर्मकाममोक्षद्रव्यैकसाधनम् ।
संतानं लभते वन्ध्या सत्यं सत्यं वचो मम ॥ २९ ॥

इति वन्ध्यापुत्रप्रदं यन्त्रम् ।

क्षत्रमर्दननामानं यन्त्रं वक्ष्ये तवाग्रतः ।
महायुद्धे घोरयुद्धे कूटयुद्धे भयापहम् ॥ ३० ॥

पुरा परशुरामेण शिक्षितं यन्त्रमुत्तमम् ।
ततो वैरेण तेनैव क्षत्रं दग्धं मनोहरं ॥ ३१ ॥

नाना-रस-तुला नाना नाना जयवशानना ।
इष्टार्द्धयूनितं तद्वद्गजगत्या ततो लिखेत् ॥ ३२ ॥

**क्षत्रमर्दनं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ८ | १ | २ | ७ |
| ६ | ३ | ४ | ५ |
| २ | ७ | ८ | १ |
| ४ | ५ | ६ | ३ |

**क्षत्रमर्दन यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ६ | १५ | १ | १२ |
| ३ | १० | ८ | १३ |
| १६ | ५ | ११ | २ |
| ९ | ४ | १४ | ७ |

**क्षत्रमर्दनं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १२ | १ | १५ | ६ |
| १३ | ८ | १० | ३ |
| २ | ११ | ५ | १६ |
| ७ | १४ | ४ | ९ |

साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य ततः परम् ।
पूर्वोक्तविधिना लेख्यं वह्निकोष्ठविभेदतः ॥ ३३ ॥
साध्यमत्र महेशानि ! कामाक्षी परमेश्वरी ।
पूर्वोक्तैरेव तैर्द्रव्यैर्विलिखेत्साधकोत्तमः ॥ ३४ ॥
धारयेद्दुंदुभे वीरे जयो भवति निश्चितम् ॥ ३५ ॥
इदं यन्त्रं मया प्रोक्तं सर्वक्षत्रविमर्दनम् ।
गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं मम प्रिये ॥ ३६ ॥

इति क्षत्रमर्दनं यन्त्रम् ।

कन्याप्रदं महायन्त्रं शृणु पार्वति साम्प्रतम् ।
वसुमान्सुभगां कन्यां विवाहयितुमिच्छति ॥ ३७ ॥

**कन्याप्रदं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३ | ६ | ५ | ४ |
| १ | ८ | ७ | २ |
| ५ | ४ | ३ | ६ |
| ७ | २ | १ | ८ |

तदर्थं यन्त्रराजस्ते कथ्यतेऽद्भुतकारणम् ।
रन्ध्रं रन्ध्रे कुद्वितीये तृतीये बाणसंमितम् ॥ ३८ ॥

चतुर्थे कोष्ठसंख्यातं पंचमे चन्द्रसंमितम् ।
षष्ठे नागमितं चांकं सप्तमाष्टमरन्ध्रकम् ॥ ३९ ॥
नवमे दशमे रन्ध्रं शिवेग्निर्द्वादशे रसः ।
त्रिंशे मुनिमितं लेख्यं भुवनेनेत्रसंमितम् ॥ ४० ॥
तिथौ विकारे रन्ध्रं तु विलिख्य परमार्थवित् ।
साध्यसाधकयोर्वर्णनिकीकृत्य दलौ कुरु ॥ ४१ ॥
विलिख्य परमेशानि ! गुप्तसारशिवापदैः ।
साध्यमत्र सुरेशानि कौमारी परमेश्वरी ॥ ४२ ॥
पूर्वोक्तैरेव तैर्द्रव्यैर्विलिख्य धारयेत्सुधीः ।
ध्वजोपरि तु संधार्यं मनोज्ञां लभते स्त्रियम् ॥ ४३ ॥
इति ते हि समाख्यातं यन्त्रं कन्याप्रदं शिवे ।
नाभक्ताय प्रदातव्यं दयं भक्तेस्य एव च । ४४ ॥

इति कन्याप्रदं यन्त्रम् ।

स्वामिवश्यकरं यन्त्रं प्रवक्ष्यामि समासतः ।
स्वामी प्रभुः स्त्रियो भर्ता पालको जनकः पिता ॥ ४५ ॥
ते सर्वे वशमायान्ति यन्त्रराजस्य लेखनात् ।
षष्ठ तुर्ये तिथौ चांके वह्नौ बाणे दिशाभिधे ॥ ४६ ॥
षोडशे विश्वसंख्याते रुद्रेण गोक्षिसंमिते ।
सूर्ये मनौ तथा चाद्ये सप्तमे च क्रमाल्लिखेत् ॥ ४७ ॥

**स्वामिवश्यकरं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १५ | १२ | ५ | २ |
| ६ | १ | १६ | ११ |
| ४ | ७ | १० | १३ |
| ९ | १४ | ३ | ८ |

साध्यसाधकयोर्वर्णनिकीकृत्य विधानवित् ।
अर्द्धीकृत्य समायोज्यं पूर्वकोष्ठविभेदतः ॥ ४८ ॥

साध्यमत्र महेशानि कौशिकी परमेश्वरी ।
पूर्वोक्तैरेव तैर्द्रव्यैर्विलिखेद्यन्त्रनायकम् ॥ ४९ ॥

धारयेद्बाहुयुग्मेन दक्षे वामे पुमान्स्त्रियः ।
धारणाद्यन्त्रराजस्य स्वामी वश्यतरो भवेत् ॥ ५० ॥

इदं यन्त्रं स्वामिवश्यकारकं समुदाहृतम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन नान्यथा मम भाषितम् ॥ ५१ ॥

इति स्वामिवश्यकरं यन्त्रम् ।

परयुद्धहरं यन्त्रं शृणु मत्तो वरानने ।
मनौ सूर्ये सप्तमे च प्रथमे रुद्रसंमिते ॥ ५२ ॥

त्रयोदशे तथा नेत्रे अष्टमे पंचमेऽपि च ।
तृतीये षोडशे पंक्तौ वेदे तर्के नवे तिथौ ॥ ५३ ॥

साध्यसाधकयोर्वर्णानिकीकृत्य दलीकृतान् ।
मनुकोष्ठाद्यतोलेख्यं पूर्व-पूर्वविभागतः ॥ ५४ ॥

**युद्धजयकरं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ४ | ७ | १० | १३ |
| ९ | १४ | ३ | ८ |
| १५ | १२ | ५ | २ |
| ६ | १ | १६ | ११ |

साध्यमत्र महेशानि भ्रामरी कुलिशात्मिका ।
पूर्वोक्तैरेव तैर्द्रव्यैर्लिखित्वा यन्त्रनायकम् ॥ ५५ ॥

धारयेत्स्वपताकायां परयुद्धनिवारणम् ।
पलायते महासैन्यं चतुरंगबलान्वितम् ॥ ५६ ॥

इदं ते कथितं यन्त्रं परयुद्धजयावहम् ।
पुत्राय भक्तियुक्ताय देयं नान्याय सुन्दरि ॥ ५७ ॥

इति युद्धजयकरं यन्त्रम् ।

अतः परं वरारोहे यन्त्रं गजभयापहम् ।
तवाग्रे कथयिष्यामि प्रथमं कल्पतः शृणु ॥ ५८ ॥

सप्तमे प्रथमे देवि मनौ सूर्येक्षि सभिते ।
नागे रुद्रे विश्वसंख्ये षोडशे दशमे तथा ॥ ५९ ॥

बाणे वह्नौ चांकमिते तिथौ तुर्ये रसे सुधीः ।
साध्यसाधकयोर्वर्णान् एकीकृत्य दलीकृतान् ॥ ६० ॥

गजभयहरं यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| २ | ५ | १२ | १५ |
| ११ | १६ | १ | ६ |
| १३ | १० | ७ | ४ |
| ८ | ३ | १४ | ९ |

सप्तकोष्ठात्समारभ्य पूर्वपूर्वविभेदतः ।
विलिखेद्यन्त्रराजं तु पूर्वोक्तैरष्टगन्धकैः ॥ ६१ ॥

धारयेत्सन्मुखे तस्य गजस्य परमेश्वरि ।
दर्शनात्स्पर्शनात्तस्य विमदो जायते गजः ॥ ६२ ॥

पलायतेऽथवा देवि विद्रुतो नैव लभ्यते ॥ ६३ ॥

इदं यन्त्रं समाख्यातं राज्ञां हितकरं मतम् ।
वनारण्यनिवासानां हितं परमुदाहृतम् ॥ ६४ ॥

इति गजभयहरं यन्त्रम् ।

कृत्याभयहरं यन्त्रं साम्प्रतं वच्मि सुन्दरि ।
येन विज्ञातमात्रेण डाकिनी नैव बाधते ॥ ६५ ॥

षोडशे दशमे बाणे वह्नौ नेत्रेष्टमे पुनः ।
शिवे विश्वे ततः पश्चान्नागगत्याग्रपूरणम् ॥ ६६ ॥

अंकानां तु विलोमेन विलिखेत्पूर्वपूर्वतः ।
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य दलीकृतान् ॥ ६७ ॥

हीनांकतो न्यूनमंकं पूर्वोक्तविधिना लिखेत् ।
साध्यमत्र महेशानि ! देवी शाकम्भरी परा ॥ ६८ ॥

**कृत्याभयहरं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १० | ५ | ४ | १५ |
| ३ | १६ | ९ | ६ |
| १३ | २ | ७ | १२ |
| ८ | ११ | १४ | १ |

पूर्वोक्तैरेव तैर्द्रव्यैर्लिखित्वा धारयेद्गले ।
कृत्याभयं न भवति यन्त्रराजस्य धारणात् ॥ ६९ ॥

इति ते हि मया ख्यातं यन्त्रं कृत्याभयापहम् ।
गोपनीयं पशुभ्यो हि देयं भक्तेभ्य एव हि ॥ ७० ॥

इति कृत्याभयहरं यन्त्रम् ।

अथ वक्ष्ये परं यन्त्रं महाग्रहभयापहम् ।
ग्रहाणां विमुख्याना बाधा नैव प्रजायते ॥ ७१ ॥

तमहं संप्रवक्ष्यामि यन्त्रराजं सुविस्तरात् ।
नानारसतुलानाना नानाजयवशानना ॥ ७२ ॥

**नवग्रहभयहरं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३ | ६ | २ | ७ |
| ६ | ३ | ७ | २ |
| ५ | ४ | ८ | १ |
| ४ | ५ | १ | ८ |

इष्टार्द्धयूनितं तेषु गुप्तसारशिवापदैः ।
साध्यसाधकयोर्वर्णनिकीकृत्य दलीकृतान् ॥ ७३ ॥

विलिखेत्पूर्वपूर्वाच्च यथाज्ञानं विशालधीः ।
साध्यमत्र महादेवि ! चण्डिका परमेश्वरी ॥ ७४ ॥

पूर्वोक्तैरेव तैर्द्रव्यैर्विलिखेद्धारयेत्ततः ।
कण्ठे वा मूर्ध्नि वा बाहौ वा दक्षे बाधा प्रशाम्यति ॥ ७५ ॥

इदं यन्त्रं महाप्राज्ञे ! तवाग्रे प्रकटीकृतम् ।
न देयं यस्य कस्यापि देयं शिष्येभ्य एव च ॥ ७६ ॥

इति नवग्रहभयहरं यन्त्रम् ।

उच्चाटनकरं यन्त्रं दुष्टोच्चाटाय कीर्त्तितम् ।
तं शृणुष्व महाप्राज्ञे ! यथावत्कथयामि ते ॥ ७७ ॥

प्रथमे तुर्यकोष्ठे च षष्ठे चैव तु सप्तमे ।
दशमे रुद्रकोष्ठे च विश्वाख्ये षोडशे पुनः ॥ ७८ ॥

**उच्चाटनकरं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १ | १६ | १५ | २ |
| १४ | ३ | ४ | १३ |
| १२ | ५ | ६ | ११ |
| ७ | १० | ९ | ८ |

षोडशाच्च विलोमेन शेषकोष्ठेषु-संल्लिखेत् ।
पूरयेदनया रीत्या यथा कोष्ठांक-संमितम् ॥ ७९ ॥

साध्यसाधकयोर्वर्णनिकीकृत्य विभाजितान् ।
अर्द्धीकृत्याद्यतो लेख्यं यन्त्रं तन्त्रविदुत्तमैः ॥ ८० ॥

साध्यमत्र महेशानि ! देवी कमलवासिनी ।
पूर्वोक्तैश्चाष्टगंधैश्च विलिखेद्यन्त्रमुत्तमम् ॥ ८१ ॥

धारयेत्कण्ठगं प्राज्ञः सर्वोच्चाटकरं परम् ।
उच्चाटनकरं यन्त्रमिदं ते कथितं मया ॥ ८२ ॥

गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं त्वया शिवे ।
दुष्टेभ्यः कथितं यन्त्रं दुःखदौर्भाग्यदायकम् ॥ ८३ ॥

इत्युच्चाटनकरं यन्त्रम् ।

शत्रुपीडाकरं यन्त्रमिदानीं शृणु पार्वति ।
प्रथमे च तिथौ भद्रे मनौ वेदे च भास्करे ॥ ८४ ॥
रसे मुनौ नवाख्येन नागे दिक्षु शिवात्मिके ।
पंचमे विश्वकोष्ठे च वह्नौ पक्षमितेतिमे ॥ ८५ ॥
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य दलीकृतान् ।
विलिखेद्यन्त्रकोष्ठे तु पूर्वपूर्वविभागतः ॥ ८६ ॥

ज्वरकरं यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| १ | १५ | १४ | ४ |
| १२ | ६ | ७ | ९ |
| ८ | १० | ११ | ५ |
| १३ | ३ | २ | १६ |

छर्दिकरं यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| १३ | ८ | १२ | १ |
| ३ | १० | ६ | १५ |
| २ | ११ | ७ | १४ |
| १६ | ५ | ९ | ७ |

शिरःपीडाकरं यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| १६ | २ | ३ | १३ |
| ५ | ११ | १० | ८ |
| ९ | ७ | ६ | १२ |
| १४ | १० | १५ | १ |

साध्यमत्र महेशानि वनदुर्गाप्रकीर्तिता ।
पूर्वोक्तैरेव तैर्द्रव्यैर्विलिखेद्विधिना प्रिये ॥ ८७ ॥
शत्रुगेहस्य देहल्यां यन्त्रं तत्र निखापयेत् ।
अथवा वामके बाहौ स्वके तुषि निधापयेत् ॥ ८८ ॥
धारणाद्यन्त्रराजस्य शत्रोः पीडा प्रजायते ।
ज्वरद्दर्दिशिरोगार्त्ति गुह्यपीडा महाभयम् ॥
जायते नात्र संदेहः सत्यं सत्यं वचो मम ॥ ८९ ॥
इदं यन्त्रं शत्रुपीडाकारकं कथितं मया ।
गोपनीयं त्वया भद्रे ! देयं सर्वस्वदायिने ॥ ९० ॥

इति शत्रुपीडाकरं यन्त्रम् ।

अथ वक्ष्ये परं यन्त्र जराहरणसंज्ञितम् ।
यस्य विज्ञानमात्रेण जरापलितवर्जितः ॥ ९१ ॥

गुह्यपीडाकरं यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| ४ | ९ | ५ | १६ |
| १४ | ७ | ११ | २ |
| १५ | ६ | १० | ३ |
| १ | १२ | ८ | १३ |

ज्वरापहरणं यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| ८ | १ | २ | ७ |
| ६ | ३ | ४ | ५ |
| २ | ७ | ८ | १ |
| ४ | ५ | ९ | ३ |

रन्ध्रं रन्ध्रं रस तुला रन्ध्रं रन्ध्रं पुनस्तथा ।
जाया च वशसंख्याता रन्ध्रं रन्ध्रं भवेत्प्रिये ॥ ९२ ॥

साध्यसाधकवर्णानिकोकृत्य दलीकृतान् ।
नागगत्या लिखेद्देवि ! पूर्वपूर्वविलोमतः ॥ ९३ ॥

रन्ध्रसंज्ञेषु कोष्ठेषु गुप्तसारशिवापदैः ।
साध्यमत्र महेशानि ! ललिता परमेश्वरी ॥ ९४ ॥

विलिख्य यन्त्रराजं तु पूर्वोक्तैश्चाष्टगन्धकैः ।
धारयेच्च शिखामध्ये कूर्चदेशेथवा प्रिये ॥ ९५ ॥

धारणाद्यन्त्रराजस्य शरीरं दार्ढ्यतामियात् ।
आकाशसदृशाः केशा जायन्ते भ्रमरोपमाः ॥ ९६ ॥

इद यन्त्रं वरारोहे मया तुभ्यं निवेदितम् ।
गोपनीयं त्वया देवि दातव्यं स्वप्रियाय वै ॥ ९७ ॥

इति जराहरणं यन्त्रं त्रयोदशम् ।

अथ वक्ष्ये महेशानि ! महाबलकरं परम् ।
यन्त्रराजं च यद् ज्ञात्वा नैर्बल्यं नैव जायते ॥ ९८ ॥

रोकं रोकं रस तुला रोकं रोकं पुनस्तथा ।
जपाश्च वशसंख्याता रोकं रोकं भवेत्प्रिये ॥ ९९ ॥

साध्यसाधकयोर्वर्णानिकोकृत्यदलीकृतान् ।
नागगत्या लिखेद् देवि पूर्वपूर्वविलोमतः ॥ १०० ॥

**बलकरं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ८ | १ | २ | ७ |
| ६ | ३ | ४ | ५ |
| २ | ७ | ८ | १ |
| ४ | ५ | ६ | ३ |

**सर्वरोगहरम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १ | १५ | १४ | ४ |
| १२ | ६ | ७ | ९ |
| ८ | १० | ११ | ५ |
| १३ | ३ | २ | १६ |

**छर्दिहरम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १३ | ८ | १२ | १ |
| ३ | १० | ६ | १५ |
| २ | ११ | ७ | १४ |
| १६ | ५ | ९ | ४ |

**शिरःपीडाहरं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १६ | २ | ३ | १३ |
| ५ | ११ | १० | ८ |
| ९ | ७ | ६ | १२ |
| ४ | १४ | १५ | १ |

रोकसंख्येषु कोष्ठेषु गुप्तसारशिवापदैः ।
साध्यमत्र महेशानि ! विज्ञेया लविका परा ॥ १०१ ॥

विलिख्य यन्त्रराजं तु पूर्वोक्तैश्चाष्टगन्धकैः ।
जायते बलवान्सोऽयं देहगं धारयन्सदा ॥ १०२ ॥

नवनागसहस्राणां बलं भवति तस्य हि ।
अजेयः सर्वसत्त्वानां यूनां बलवतां प्रिये ॥ १०३ ॥
युद्धे जयो भवत्येव यन्त्रराजस्य धारणात् ॥ १०४ ॥
इदं ते कथितं भद्रे महाबलकरं परम् ।
यन्त्रं सर्वार्थकरणं गोपनीयं त्वयानघे ॥ १०५ ॥

इति बलकरं यन्त्रं चतुर्दशम् ।

महागदहरं यन्त्रं शृणुष्वावहिता प्रिये ।
अष्टौ महागदाश्चान्ये नाशमायान्ति तत्क्षणात् ॥ १०६ ॥
प्रथमे च तिथौ शक्रे वेदेर्के रससंज्ञिते ।
स्वरे चांके वसौ पंक्तौ रुद्रे बाणे त्रयोदशे ॥ १०७ ॥
वह्नौ पक्षे लिखेदन्त्ये साधकः सिद्धिहेतवे ।
साध्यसाधकयोर्वर्णनिकीकृत्य दलीकृतान् ॥ १०८ ॥

**गुह्यपीडाहरं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ४ | ९ | ५ | १६ |
| १४ | ७ | ११ | २ |
| १५ | ६ | १० | ३ |
| १ | १२ | ८ | १३ |

विलिखेत्क्रमशो देवि पूर्वपूर्वविभेदतः ।
साध्यमत्र महेशानि विज्ञेया बालसुन्दरी ॥ १०९ ॥
पूर्वोक्तैरेव तैर्द्रव्यैर्विलिख्य यन्त्रनायकम् ।
धारयेत्कण्ठगं तावद्यावद्रोगविनाशनम् ॥ ११० ॥
धारणाच्चास्य यन्त्रस्य रोगा यान्ति दिशो दश ।
इदं यन्त्रं गदहरं मया ते प्रतिकीर्त्तितम् ॥ १११ ॥
गोपनीयं तु दुष्टेभ्यो ह्यदुष्टेभ्यो न चैव हि ॥ ११२ ॥

इति गदहरं यन्त्रं पंचदशम् ।

अथ शूलहरं वक्ष्ये यन्त्रं शूलभयापहम् ।
वातशूलं पित्तशूलं कफशूलं तथा प्रिये ॥ ११३ ॥

मुष्कशूलं गुल्मशूल हृच्छूलं चापि यत्प्रिये ।
तत्सर्वं नाशमायाति यन्त्रराजस्य धारणात् ॥ ११४ ॥

नमो नभः शिव पदे वियत् वंच नभो नभः ।
गोप्तुः सुरा नमः रवं च विलिखेत्क्रमशः पुनः ॥ ११५ ॥

**शूलहरं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ५ | ४ | ३ | ६ |
| ७ | २ | १ | ८ |
| ३ | ६ | ५ | ४ |
| १ | ८ | ७ | २ |

इष्टार्द्धमूनितं तेषु गुप्तसारशिवापदैः ।
साध्यसाधयोर्वर्णनिकोकृत्य दलीकृतान् ॥ ११६ ॥

विलिखेत्पूर्वपूर्वाच्च मध्यकोष्ठविभेदतः ।
साध्यमत्र महेशानि ! विज्ञेया श्यामला शुभा ॥ ११७ ॥

पूर्वोक्तैश्चाष्टगंधैश्च विलिख्य सुरसुन्दरी ।
धारयेदुदरे तद्धि ततः शूलाद्विमुच्यते ॥ ११८ ॥

इदं यन्त्रं शूलहरं मया ते कथित प्रिये ।
परोपकाराय पुनस्त्वया गोप्यं सदैव हि ॥ ११९ ॥

इति शूलहरं यन्त्रम् १६ ।

अथ स्त्र्याकरणं यन्त्रं सर्वार्थपरिपूरकम् ।
तदहं संप्रवक्ष्यामि शृणु देवि यथातथम् ॥ १२० ॥

सुन्दरीणां भामिनोनां तथा च परदेशिनाम् ।
दूरस्थानां महेशानि ! स्त्रीणामाकर्षणं परम् ॥ १२१ ॥

नभोनभः शिवपदे वियत् खं च नभो नभः ।
गोसुः सुरा नभः खं च विलिखेत्क्रमशः पुमान् ॥ १२२ ॥

इष्टार्द्धयूनितं तेषु गुप्तसारशिवापदैः ।
साध्यसाधकयोर्वर्णनिकोकृत्य दलोकृता ॥ ने१२३ ॥

विलिखेत्पूर्वपूर्वाच्च मध्यकोष्ठविभेदतः ।
साध्यमत्र महेशानि ! विज्ञेया नारसिंहिका ॥ १२४ ॥

पूर्वोक्तैरेव तैर्द्रव्यैर्विलिखेत्साधकोत्तमः ।
धारयेत्कण्ठदेशे तु स्त्रियमाकर्षति क्षणात् ॥ १२५ ॥

**आकर्षणं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ५ | ४ | ३ | ६ |
| ७ | २ | १ | ८ |
| ३ | ६ | ५ | ४ |
| १ | ८ | ७ | २ |

इदं यन्त्रं सुरेशानि सर्वाकर्षणकारकम् ।
आकर्षयत्यंबुनिधेः सुमेरोश्च दिगन्ततः ॥ १२६ ॥

पातालादिन्द्रलोकादेर्हेमस्त्रीशैलमूरुहान् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन मम वाक्यं शुभं त्विदम् ॥ १२७ ॥

इत्याकर्षणं यन्त्रं सप्तदशम् ।

अथ वक्ष्ये महेशानि यन्त्रं सर्वार्थसाधनम् ।
पशुरक्षाकरं ह्येतत्सर्वारिष्टविनाशनम् ॥ १२८ ॥

वियन्नभः शिवपदे नभः खं च नभो वियत् ।
गोप्तुः सुरवियत् खं च विलिखेत्क्रमशः सुधीः ॥ १२९ ॥

साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य दलीकृतान् ।
इष्टार्द्धमूनितं तेषु गुप्तसारशिवापदैः ॥ १३० ॥

विलिखेत्पूर्वपूर्ववर्णाच्च यथाज्ञानं महेश्वरि ।
साध्यमत्र सुराधीशे विशाला भुवनेश्वरी ॥ १३१ ॥

पूर्वोक्तैश्चाष्टगंधैश्च विलिखेत्सुसमाहितः ।
धारयेद्दक्षिणे पार्श्वे पशो रक्षा परा मता ॥ १३२ ॥

अश्वानां हस्तिनां चैव महिषाणां गवामपि ।
उष्ट्राणां दंष्ट्रिणां चैव रक्षायाः कारकं परम् ॥ १३३ ॥

**पशुरक्षाकरं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३ | ६ | ५ | ४ |
| १ | ८ | ७ | २ |
| ५ | ४ | ३ | ६ |
| ७ | २ | १ | ८ |

इदं यन्त्रं मया तुभ्यं पशुरक्षाकरं स्मृतम् ।
गोपनीयं त्वया भद्रे देयं पुत्राय पार्वति ॥ १३४ ॥

इति पशुरक्षाकरं यन्त्रम् ।

अथ वक्ष्ये महिमदं महत्वपरिदायकम् ।
मान्यं सर्वत्र लोकेषु मानवः स च ॥ १३५ ॥
नभो वियच्छिवपदे खं नभश्च वियन्नभः ।
गोप्तुःसुरास्ततः प्रोक्तं वियत्खं च क्रमाल्लिखेत् ॥ १३६ ॥

**महिमदं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३ | ६ | ५ | ४ |
| १ | ८ | ७ | २ |
| ५ | ४ | ३ | ६ |
| ७ | २ | १ | ८ |

पूर्वपूर्वविभागेन कोष्ठकस्य विभेदतः ।
इष्टार्द्धमूनितं तेषु गुप्तसारशिवापदैः ॥ १३७ ॥
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य दलीकृतान् ।
विलिखत्पूर्वकोष्ठे तु पूर्वकोष्ठविभेदतः ॥ १३८ ॥

साध्यमत्र महेशानि ! ब्रह्माणी परिकीर्तिता ।
पूर्वोक्तैश्चाष्टगन्धैश्च विलिखेद्यन्त्रमुत्तमम् ॥ १३९ ॥
धारयेद्यन्त्रराजं तु बाहौ वा मस्तकेपि वा ।
धारणाच्च महत्त्वं तु जायते नात्रसंशयः ॥ १४० ॥

इति महिमदं २१ यन्त्रम् ।

जलस्तंभकरं चान्यद्यन्त्रं ते वच्मि साम्प्रतम् ।
येन विज्ञातमात्रेण जलस्तंभो भवेत्प्रिये ॥ १४१ ॥
नभो वियच्छिवपदे खं नभश्च वियन्नभः ।
गोप्तुः सुरा तथा प्रोक्तं वियत्खं च क्रमाल्लिखेत् ॥ १४२ ॥
इष्टार्द्धमूनितं तेषु गुप्तसारशिवापदैः ।
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य दलीकृतान् ॥ १४३ ॥
विलिखेत्पूर्वपूर्वाच्च मध्यकोष्ठविभेदतः ।
साध्यमत्र सुरेशानि ! विज्ञेया वैष्णवी परा ॥ १४४ ॥

**जलस्तम्भकरं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ४ | ५ | ६ | ३ |
| २ | ७ | ८ | १ |
| ६ | ३ | ४ | ५ |
| ८ | १ | २ | ७ |

पूर्वोक्तैरेव तैर्द्रव्यैर्विलिख्य सुरसुन्दरि ! ।
धारयेज्जलमध्ये तु प्रवाहस्य तु सन्मुखे ॥ १४५ ॥
जलं स्तंभयिते क्षिप्रं नात्र कार्या विचारणा ।
इदं यन्त्रं जलस्तंभकारकं समुदाहृतम् ॥ १४६ ॥
गोप्यं त्वया सदा भद्रे नाख्येयं यस्य कस्यचित् ।

इति जलस्तंभकरं यन्त्रम् ।

क्षेत्ररक्षाकरं यन्त्रं संप्रवक्ष्येऽधुना प्रिये ।
येन विज्ञातमात्रेण धान्यानां रक्षणं भवेत् ॥ १४७ ॥

वियन्नभः शिवपदे खं नभश्च नभो नभः ।
गोप्तुः सुरानन प्रोक्तं वियत् खं च सुरेश्वरि ॥ १४८ ॥

इष्टार्द्धमूनितं तेषु गुप्तसारशिवापदैः ।
पूर्वपूर्वविभेदेन साध्यसाधकयोस्तथा ॥ १४९ ॥

वर्णनिकीकृत्य तदा दलीकृत्य ततो लिखेत् ।
पूर्वपूर्वविभेदेन विलिखेद्यन्त्रनायकम् ॥ १५० ॥

**क्षेत्ररक्षाकरं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३ | ६ | ५ | ४ |
| १ | ८ | ७ | २ |
| ५ | ४ | ३ | ६ |
| ७ | २ | १ | ८ |

साध्यमत्र महेशानि ! उपांगललिता तथा ।
पूर्वोक्तैश्चाष्टगन्धैश्च विलिखेद्यन्त्रमुत्तमम् ॥ १५१ ॥

धारयेद्दक्षिणे पार्श्वे हलस्य परमेश्वरि ! ।
न तस्य जायते क्वापि भयं क्षेत्रसमुद्भवम् ॥ १५२ ॥

ईतेर्भयं नाशमेति परचक्रभयं न हि ।
जायते परमशानि सस्यानां परमास्थितिः ॥ १५३ ॥

इदं यन्त्रं वरारोहे क्षेत्ररक्षाकरं परम् ।
कर्षकाणां हितार्थाय तवाग्रे प्रकटीकृतम् ॥ १५४ ॥

इति क्षेत्ररक्षाकरं यन्त्रम् ।

चोरनाशकरं यन्त्रं शृणु मत्प्राणवल्लभे ।
द्वितीयेष्टमे कोष्ठे रुद्रे चैव त्रयोदशे ॥ १५५ ॥

षोडशे दशमे बाणे तृतीये च क्रमाल्लिखेत् ।
गजगत्या परानंकानेकीकृत्य दलीकृतान् ॥ १५६ ॥

पूरयेत्पूर्वपूर्वाच्च कोष्ठभेदात्सुरेश्वरि ।
साध्यसाधकयोर्वर्णान्विलिखेत्परमेश्वरि ॥ १५७ ॥

साध्यमत्र महादेवि ! कालिका परमेश्वरी ।
पूर्वोक्तैर्गन्धमिलितैर्द्रव्यैः सम्यग्विलेखयेत् ॥ १५८ ॥
धारयेत्कंठगं सम्यङ्निर्भयो जायते क्षणात् ।
चौरा विनाशमायान्ति मार्गस्था वनवासिनः ॥ १५९ ॥

**चौरनाशनं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १४ | १ | ८ | ११ |
| ७ | १२ | १३ | २ |
| ९ | ६ | ३ | १६ |
| ४ | १५ | १० | ५ |

यन्त्रस्य धारणाद्देवि जायन्ते सुखभागिनः ।
इदं यन्त्रं चौरनाशकारकं परिकीर्त्तितम् ॥ १६० ॥
गोपनीयं प्रयत्नेन सर्वथा परमेश्वरि ! ।

इति चौरनाशकरं यन्त्रम् २२ ।

अथ वक्ष्ये महेशानि ! कूटदुर्गहरं परम् ।
यन्त्रं ते संप्रवक्ष्यामि श्रुत्वा गोप्यं त्वयानघे ॥ १६२ ॥
नागे पक्षे विश्वमिते रुद्रे पंक्तौ च षोडशे ।
तृतीये पंचमे मन्त्री विलिखेत्क्रमशः सुधीः ॥ १६३ ॥

**कूटदुर्गहरं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १३ | २ | ७ | १२ |
| ८ | ११ | १४ | १ |
| १० | ५ | ४ | १५ |
| ३ | १६ | ९ | ६ |

नागगत्या परानंकान् शेषकोष्ठेषु संल्लिखेत् ।
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य दलीकृतान् ॥ १६४ ॥

विलोमगतिना पश्चाच्छेषांकान् पूरयेत्सुधीः ।
साध्यमत्र महेशानि ! मनः सिद्धिदा ॥ १६५ ॥

पूर्वोक्तैरेव तैर्द्रव्यैर्विलिखेद्यन्त्रनायकम् ।
धारयेद्दक्षिणे पार्श्वे घोटकस्य सुरेश्वरि ॥ १६६ ॥

समारुह्य हयं पश्चाद्दुर्गकूटे विशेत्पुनः ।
विजयो जायते देवि नात्र कार्या विचारणा ॥ १६७ ॥

इदं यन्त्रं कूटदुर्गहरणं परिकीर्तितम् ।
गोपनीयं सुरेशानि ! ममातिप्रियकारकम् ॥ १६८ ॥

इति कूटदुर्गहरं यन्त्रम् ।

व्याघ्रविद्रावणं चान्यं यन्त्रराजं शृणु प्रिये ।
अरण्ये निर्जने देशे व्याघ्राद्यैश्च समन्विते ॥ १६९ ॥

उपयोगि महायन्त्रं पाथानां दुर्गचारिणाम् ।
महापर्वतसंस्थानां हितदं भयनाशनम् ॥ १७० ॥

**व्याघ्रविद्रावणं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| २ | ५ | ४ | ७ |
| ३ | ८ | १ | ६ |
| ५ | २ | ७ | ४ |
| ८ | ३ | ६ | १ |

षोडशे दशमे बाणे वह्नौ नेत्रेष्टमे पुनः ।
शिवे विश्वे ततः पश्चान्नागगत्या प्रपूरणम् ॥ १७१ ॥

साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य प्रतिष्ठितान् ।
पूर्वपूर्वविलोमेन पूरयेद्देशिकोत्तमः ॥ १७२ ॥

साध्यमत्र प्रिये वाणी वीणापुस्तकधारिणी ।
पूर्वोक्तविधिना लेख्यं यन्त्रराजं विलेपनैः ॥ १७३ ॥

धारयेन्मूर्ध्नि हस्ते वा प्रकोष्ठे व्यंगुलीषु वा ।
धारणान्निर्भयो भूत्वा विचरेत्तु यथासुखम् ॥ १७४ ॥

न व्याघ्रवृकभल्लूक-गजसर्पजलूकजम् ।
भयं तु जायते क्वापि सत्यमेव वरानने ॥ १७५ ॥

इदं यन्त्रं व्याघ्रभयविद्रावणकरं स्मृतम् ।
सर्वथा गोपितव्यं ते मम वाक्यं महेश्वरि ॥ १७६ ॥

इति व्याघ्रविद्रावणं यन्त्रम् २६ ।

सर्वविघ्नहरं यन्त्रं विघ्नाधिपतये स्मृतम् ।
तत्तेहं सम्प्रवक्ष्यामि श्रुत्वा विघ्नैर्न बाध्यते ॥ १७७ ॥

नागे पक्षे विश्वसंख्ये रुद्रे पंक्तौ विकारके ।
बह्नौ बाणे लिखेत् पश्चान्नागगत्या ततः परम् ॥ १७८ ॥

साध्यसाधकयोर्वर्णनिकोकृत्य दलोकृतान् ।
विलिखेत्पूर्वपूर्वाच्च विलोमगतिना प्रिये ॥ १७९ ॥

**सर्वविघ्नहरं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ५ | २ | ७ | ४ |
| ८ | ३ | ६ | १ |
| २ | ५ | ४ | ७ |
| ३ | ८ | १ | ६ |

साध्यमत्र महेशानि ! रमा कमलवासिनी ।
अष्टगंधैः सुगंधैस्तु विलिखेद्यन्त्रनायकम् ॥ १८० ॥

लिखित्वा धारयेद्गेहे देहे बाहौ तथोदरे ।
धारणान्मानवो देवि ! न विघ्नभयभाग्भवेत् ॥ १८१ ॥

सुसंतुष्टेन च मया हेरम्बाय प्रदर्शितम् ।
तवाग्रहात्पुनरयं यन्त्रराजो मयोदितः ॥ १८२ ॥

इति सर्वविघ्नहरं २७ यन्त्रम् ।

भूतविद्रावणं यन्त्रं तथा प्रेतनिवारणम् ।
साम्प्रतं कथयिष्यामि सिद्धिपारददं परम् ॥ १८३ ॥

ममातिप्रेमदं यन्त्रं पारदं भवपारदम् ।
मनौ रवौ सरे चन्द्रे वेदे तर्कमितेंकके ॥ १८४ ॥

तिथौ लिखेत्क्रमानङ्कान् नागगत्या ततः परम् ।
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य दलीकृतान् ॥ १८५ ॥

विलिखेत्पूर्वपूर्वाच्च विलोमगतिना प्रिये ।
साध्यमत्र महेशानि ! रौद्री वृषभवाहिनी ॥ १८६ ॥

अष्टगन्धैः समालिख्यं पूर्वोक्तैर्विलिखेत्प्रिये ।
आरभेद्यन्त्रमध्याच्च पूर्वभागे विचक्षणः ॥ १८७ ॥

सिद्धिदं पारदं च यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| ४ | ७ | २ | ५ |
| १ | ६ | ३ | ८ |
| ७ | ४ | ५ | २ |
| ६ | १ | ८ | ८ |

पश्चात्क्रियां पारदस्य प्रकुर्यात्साधकोत्तमः ।
इदं यन्त्रं सिद्धिरूपं तुभ्यं सम्यक् प्रदर्शितम् ॥ १८८ ॥
अन्ते तु भेषजं सिद्धगुटिकाचूर्णकल्कजम् ॥ १८९ ॥

महापारदसिद्धिं च ददाति सुरसुन्दरि ।
गोपनीयं प्रयत्नेन कलौ कल्पद्रुमोपमम् ॥ १९० ॥

इति सिद्धिदं पारदं च यन्त्रम् ।

अथ अद्भुततरं यन्त्रं योगसिद्धिविधायकम् ।
तवाग्रे कथयिष्यामि योगिनां हितकाम्यया ॥ १९१ ॥

रवौ मुनौ विधौ पश्चात्स्वरे विश्वे शिवे गजे ।
पक्षे वह्नौ बाणमिते पंक्तौ षोडशके ततः ॥ १९२ ॥

तर्के तुर्ये तिथौ चाङ्के विलिख्य परमेश्वरि ।
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य दलीकृतान् ॥ १९३ ॥

पूरयेद्विधिनानेन पूर्वपूर्वविलोमतः ।
साध्यमत्र च देवेशि ! वाराही चक्रधारिणी ॥ १९४ ॥

अष्टगन्धैश्च पूर्वोक्तैर्विलिखेत्सुरवन्दिते ।
धारयेद्धृदये देवि ! पश्चाद्योगं समभ्यसेत् ।
योगसिद्धिमवाप्नोति सत्यं सत्यं वरानने ॥ १९५ ॥

योगसिद्धिदं यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| १४ | ९ | ८ | ३ |
| ७ | ४ | १३ | १० |
| १ | ६ | ११ | १६ |
| १२ | १५ | २ | ५ |

इदं यन्त्रं गोपनीयं योगसिद्धिदमद्भुतम् ।
योगिने साधवे देयं छात्रायाप्यथवा प्रिये ॥ १९६ ॥

इति योगसिद्धिदं यन्त्रमेकोनत्रिंशम् ।

सर्पाकरहरं यन्त्रमहितुण्डहितावहम् ।
धारणात्स्थाननिर्मोकवारणं विषमारणम् ॥ १९७ ॥
डंडकूर्तिमिडंडूक महाशी विषदारणम् ।
हरणं परमं यन्त्रं महाकौतुककारणम् ॥ १९८ ॥

सर्पहरं यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| २ | ५ | १२ | १५ |
| ११ | १६ | १ | ६ |
| १३ | १० | ७ | ४ |
| ८ | ३ | १४ | ९ |

रसे वेदे तिथौ नन्दे वह्नौ बाणे च दिङ्मिते ।
विकारे विश्वसंख्ये च शिवे वसुमिते द्वये ॥ १९९ ॥
भानौ मनौ तथा चन्द्रे स्वरे च विधिना प्रिये ।
साध्यमत्र महेशानि ! विज्ञेया वटयक्षिणी ॥ २०० ॥

पूर्वोक्तविधिना लेख्यं धारयेदङ्गसङ्गतम् ।
धारणाच्च पलायन्ते नागादश दिशोद्भुताः ॥ २०१ ॥
इदं यन्त्रं सर्पहरं गोप्यं तुभ्यं मयोदितम् ॥ २०२ ॥

इति सर्पहरं यन्त्रं त्रिंशत्तमम् ।

नवकोष्ठात्मकं यन्त्रं समष्टिफलदायकम् ।
नवरोगहरं ह्येतच्छृणुष्व गजगामिनि ॥ २०३ ॥
स्त्रीणामृतुकरं ह्येतत्तथा शोणितरोगहम् ।
राजयक्ष्महरं चैव महातीवसारनाशनम् ॥ २०४ ॥

**क्रतुप्रतिबन्धकरोगहरम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| २ | ५ | १२ | १५ |
| ११ | १६ | १ | ६ |
| १३ | १० | ७ | ४ |
| ८ | ३ | १४ | ९ |

**शोणितरोगहरम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १५ | १२ | ५ | २ |
| ६ | १ | १६ | ११ |
| ४ | ७ | १० | १३ |
| ९ | १४ | ३ | ८ |

**राजयक्ष्महरम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ९ | ४ | ६ | १५ |
| १४ | ७ | १ | १२ |
| २ | १० | १६ | ५ |
| ८ | १३ | ११ | २ |

**अतीसारहरम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ८ | १३ | ११ | २ |
| ३ | १० | १६ | ५ |
| १४ | ७ | १ | १२ |
| ९ | ४ | ६ | १५ |

**गलगण्डहरम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ८ | ३ | १४ | ९ |
| १३ | १० | ७ | ४ |
| ११ | १६ | १ | ६ |
| २ | ५ | १२ | १५ |

**पूतनापीडाहरम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ९ | १४ | ३ | ८ |
| ४ | ७ | १० | १३ |
| ६ | १ | ६ | ११ |
| १५ | १२ | ५ | २ |

**ज्वरादिशान्तिकरम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| २ | ११ | १३ | ९ |
| ४ | १६ | १० | ३ |
| २२ | १ | ७ | १४ |
| १५ | ६ | ४ | ८ |

**गुदरोगहरम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १ | १२ | ५ | २ |
| ६ | १ | १६ | ११ |
| ४ | ७ | १० | १३ |
| ९ | १४ | ३ | ८ |

**प्रमेहहरम् यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १५ | ६ | ४ | ९ |
| १२ | १ | ७ | १४ |
| ५ | १६ | १० | ३ |
| २ | ११ | १३ | ८ |

गलगण्डहरं चैव पूतनाशमनं तथा ।
शान्तिदं गुदरोगघ्नं मेहघ्नं समुदाहृतम् ॥ २०५ ॥
समष्टि नवरोगाणां नाशनं सम्यगीरितम् ।
स्वरे चन्द्रे मनौ भानौ पक्षे नागे शिवे तथा ॥ २०६ ॥

विश्वे च षोडशे पंक्तौ वाणे वह्नौ च मन्दके ।
तिथौ तुर्ये रसे चैव पूरयेद्देवि साधकः ॥ २०७ ॥

साध्यसाधकयोर्वर्णनिकीकृत्य दलीकृतान् ।
विलिखेत्पूर्वपूर्वाच्च विलोमविधिना प्रिये ॥ २०८ ॥

साध्यमत्र महेशानि ! विज्ञेया रजनीप्रिया ।
पूर्वोक्तैश्चाष्टगन्धैश्च विलिख्य परमेश्वरि ॥ २०९ ॥

धारयेद्दक्षिणांगे वा स्त्रीणां वामे तु धारयेत् ।
यत्र यत्र भवेत्पीडा तत्र तत्रापि धारयेत् ।
धारणान्नाशमायान्ति नवरोगाः सुरेश्वरि ॥ २१० ॥

इदं यन्त्रं नवकोष्ठफलदं परिकीर्त्तितम् ।
सत्यं सत्यं गोपनीयं नैवाख्येयं दुरात्मने ॥ २११ ॥

इति नवकोष्ठात्मकं यन्त्रम् ।

अथ वृष्टिकराण्यत्र तानि मत्तो निशामय ।
वर्णमात्राविभेदेन युगरूपप्रदं भवेत् ॥ २१२ ॥

अनावर्षणकाले तु कर्त्तव्यं यन्त्रमुत्तमम् ।
तदा वृष्टिकरं ज्ञेयं विपरीतार्ण-सम्भवम् ॥ २१३ ॥

अतिवृष्टिकरं ह्येतत्तथा वृष्टिनिवारणम् ।
वर्णाद्यमात्राभेदेन द्विधा ज्ञेयं विचक्षणैः ॥ २१४ ॥

वृष्टिकरं वृष्टिनिवारकं च यन्त्रं सपक्षानन्तरम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| १४ | १ | ८ | ११ |
| ७ | १२ | १३ | २ |
| ९ | ६ | ३ | १६ |
| ४ | १५ | १० | ५ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| १० | १ | ८ | १५ |
| ७ | १२ | ९ | २ |
| १३ | ६ | ३ | १२ |
| ४ | ११ | १४ | ५ |

पक्षे नागे शिवे विश्वे षोडशे पंक्तिसंमिते ।
वाणे वह्नौ लिखेद्देवि नागसंख्या ततः परम् ॥ २१५ ॥

साध्यसाधकयोर्वर्णनिकीकृत्य दलीकृतान् ।
विलिखेत्पूर्वपूर्वाच्च विलोमगतिना प्रिये ॥ २१६ ॥

साध्यमत्र वरारोहे महाभीमोग्रदंष्ट्रिणी ।
भीमादेवी समाख्याता पूर्वोक्तविधिना लिखेत् ॥ २१७ ॥

धारयेदम्बरे स्तम्भे ध्वजाग्रे वा स्वके गृहे ।
धारणाज्जायते वृष्टिः शमयेत्प्रतिमोचनम् ॥ २१८ ॥
इदं यन्त्रं मया प्रोक्तं निग्रहानुग्रहात्मकम् ॥ २१९ ॥

इति वृष्टिकरं वृष्टिनिवारकं च यन्त्रम् ३२ ।

दुर्भिक्षहरणं यन्त्रं वक्ष्येऽहं साम्प्रतं प्रिये ।
यस्य विज्ञानमात्रेण सुभिक्षं तत्क्षणात्भवेत् ॥ २२० ॥

चन्द्रे स्वरे तथा भानौ मनौ पञ्चदशे तथा ।
नवमे तर्कसंख्ये च तुर्ये चैव यथाक्रमम् ॥ २२१ ॥

**दुर्भिक्षहरं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १ | ११ | १४ | ८ |
| ३ | ७ | २ | १२ |
| ६ | १६ | ९ | ३ |
| १० | ४ | ५ | १५ |

विलिखेत्साधकश्रेष्ठो नागगत्या ततः परम् ।
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य दलीकृतान् ॥ २२२ ॥

विलिखेत्पूर्वपूर्वाच्च विलोमेन सुरेश्वरि ! ।
साध्यमत्र महेशानि ! देवी शाकंभरी परा ॥ २२३ ॥

पूर्वोक्तैरेव तैर्द्रव्यैर्यथाविभवसंभवैः ।
विलिख्य धारयेत्प्राज्ञस्तुलायां दण्डमण्डले ॥ २२४ ॥

सुभिसं तत्क्षणाद्भूयान्महादुर्भिक्षनाशनम् ।
सम्यक् कथितं तुभ्यं गोपनीयं प्रयत्नतः ॥ २२५ ॥

इति दुर्भिक्षहरं यन्त्रम् ३३ ।

कोष्ठत्रयात्मकं यन्त्रं शृणु मत्प्राणवल्लभे ।
नानोत्सवप्रदं चाद्यं द्वितीयं नगरप्रदम् ॥ २२६ ॥
तृतीयं राज्यदं चैव गुणत्रयमयात्मकम् ।
यन्त्रराजं समासेन वक्ष्यामि शृणु भामिनि ॥ २२७ ॥
नागे पक्षे विश्वसंख्ये रुद्रे पंक्तौ तु षोडशे ।
तृतीये पंचमे कोष्ठे विलिखेत्प्रोक्तमार्गतः ॥ २२८ ॥

**गुणत्रयं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १३ | २ | ७ | १२ |
| ८ | ११ | १४ | १ |
| १७ | ५ | ४ | १५ |
| ३ | १६ | ९ | ६ |

शेषांकान्नागगत्या तु विलिखेच्छेषकोष्ठके ।
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य दलीकृतान् ॥ २२९ ॥
दलीकृत्याद्य कोष्ठात्तु पूर्वपूर्वविलोमतः ।
साध्यमत्र महादेवि ! तोतलापरमेश्वरी ॥ २३० ॥
पूर्वोक्तैरेव तैर्द्रव्यैर्विलिख्य परमेश्वरि ! ।
धारयेदङ्गसंलग्नं कामनावांच्छितार्थदम् ॥ २३१ ॥
वर्णमात्राविभेदेन कार्यभेदं समाचरेत् ।
इदं यन्त्रं हि फलदं मया ते परिकीर्त्तितम् ॥ २३२ ॥
धारणाज्जायते राज्यं महानगरलाभदम् ।

इति गुणत्रयं यन्त्रम् ४३ ।

शत्रुराज्यं हरन्त्याशु शत्रुलक्ष्मीहरं परम् ।
फलद्वयप्रदं यन्त्रं संक्षपाच्छृणु पार्वति ! ॥ २३३ ॥
विश्वेरुद्रे वसौ नेत्रे वह्नौ बाणे च दिङ्मिते ।
षोडशे विलिखेत्पश्चान्नागगत्या ततः परम् ॥ २३४ ॥
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य दलीकृतान् ।
विलिखेपूर्वकोष्ठाच्च विलोमविधिना प्रिये ॥ २३५ ॥

साध्यमत्र वरारोहे ! विकटा परमेश्वरी ।
पूर्वोक्तैरेव तैर्द्रव्यैः सुगंधैश्चाष्टसंख्यकैः ॥ २३६ ॥

**शत्रुराज्यहरं शत्रुलक्ष्मीहरं च यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १० | ४ | ५ | ११ |
| ६ | १६ | ९ | ३ |
| १३ | ७ | २ | १२ |
| १ | ११ | १६ | ८ |

लिखित्वा धारयेत्प्राज्ञः शत्रुराज्यं पराजयेत् ।
शत्रुलक्ष्मीं च लभते नात्र कार्या विचारणा ॥ २३७ ॥

इदं यन्त्रं समाख्यातं महाप्रत्ययकारकम् ।
गोप्यं सदा त्वया भद्रे ! नाख्येयं हि दुरात्मने ॥ २३८ ॥

इति शत्रुराज्यहरं शत्रुलक्ष्मीहरं च यन्त्रम् ।

अथ काव्यकरं वक्ष्ये तथा मेधाविवर्द्धनम् ।
फलद्वयाकुलं यन्त्रं मत्तः शृणु वरानने ॥ २३९ ॥

षोडशे दशमे बाणे वह्नौ पक्षे वसौ शिवे ।
विश्वे स्वरे च प्रथमे मनौ भानौ तथांकके ॥ २४० ॥

तिथौ तुर्ये रसमिते पूरयेच्च समाहितः ।
पूरयेत्साककश्रेष्ठो नागगत्या ततः परम् ॥ २४१ ॥

साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य दलीकृतान् ।
विलिखेत्पूर्वकोष्ठाच्च पूर्वपूर्वविभेदतः ॥ २४२ ॥

साध्यमत्र महेशानि ! विज्ञेया रक्तदन्तिका ।
पूर्वोक्तलेख्यद्रव्येण विलिखेद्यन्त्रनायकम् ॥ २४३ ॥

धारयेत्कण्ठगं शश्वत्सदा तत्फलभाग्भवेत् ।
काव्यं तु कुरुते देवि ! घटिका-शतकं क्रमात् ॥ २४४ ॥

महाकविर्भवेन्मासान्महाबुद्धिमतां वरः ॥ २४५ ॥

काव्यकरं मेधाविवर्द्धनं च यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| १० | ५ | ४ | १५ |
| ३ | १६ | ९ | ६ |
| १३ | २ | ७ | १२ |
| ८ | ११ | १४ | १ |

इदं यन्त्रं फलद्वन्द्वजनकं समुदाहृतम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन नान्यथा मम भाषितम् ॥ २४६ ॥

इति काव्यकरं मेधाविवर्द्धनं च यन्त्रम् ।

अथ वक्ष्ये चतुःकोष्ठं यन्त्रं महिमवर्द्धनम् ।
महामृत्युहरं चैवमल्पमृत्यु हरं तथा ॥ २४७ ॥
अपमृत्यूहरं चान्यत्तथादुःस्वप्ननाशनम् ।
चतुष्कफलदं भद्रे ! मम चातिप्रियं करम् ॥ २४८ ॥
विकारे दशमे षाणे वह्नौ नेत्रेऽष्टमे पुनः ।
रुद्रे विश्वे लिखेद्देवि ! नागगत्या ततः परम् ॥ २४९ ॥

महामृत्युहरम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| १० | ५ | ४ | १५ |
| ३ | १६ | ९ | ६ |
| १३ | २ | ७ | १२ |
| ८ | ११ | १४ | १ |

अल्पमृत्युहरम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| ८ | १३ | ३ | १० |
| ११ | २ | १६ | ५ |
| १४ | ७ | ९ | ४ |
| १ | १२ | ६ | १५ |

अपमृत्युहरम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| १ | १४ | ११ | ८ |
| १२ | ७ | २ | १३ |
| ६ | ९ | १६ | ३ |
| १५ | ४ | ५ | १० |

दुःस्वप्ननाशनम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| १५ | ६ | १२ | १ |
| ४ | ९ | ७ | १४ |
| ५ | १६ | २ | ११ |
| १० | ३ | १३ | ८ |

साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य वलीकृतान् ।
पूरयेत्पूर्वपूर्वेण विलोमगमनेन च ॥ २५० ॥
साध्यमत्र महेशानि ! तथा संमोहिनी परा ।
पूर्वोक्तैश्चाष्टगन्धैश्च विलिख्य विधिपूर्वकम् ॥
धारयेद्वै सदा कण्ठे महामृत्युं विनाशयेत् ॥ २५१ ॥

इदं यन्त्रचतुष्कं तु महादेवि ! निवेदितम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन स्वयोनिरिव सुन्दरि ॥ २५२ ॥

इति चतुष्कोष्ठात्मकं यन्त्रम् ।

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि शतमल्लहरंत्विदम् ।
येन विज्ञातमात्रेण शतमल्लान् क्षणात्क्षिपेत् ॥ २५३ ॥

पञ्चमे भुवने रुद्रे तुर्ये वह्नौ रवौ तथा ।
विश्वे रसे विकारे च मुनौ चैव द्वितीयके ॥ २५४ ॥

**बलकरं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १४ | ११ | ५ | ४ |
| १ | ८ | १० | १५ |
| १२ | १३ | ३ | ६ |
| ७ | २ | १६ | ९ |

नवमे दशमे त्वाद्ये नागे पञ्चदशे पुनः ।
पूरयेत्परमेशानि ! पूर्वपूर्वविभेदतः ॥ २५५ ॥

साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य दलीकृतान् ।
पूर्वोक्तविधिना लेख्यं वर्णरूपविभेदतः ॥ २५६ ॥

साध्यमत्र महेशानि ! विज्ञेया शिवदूतिका ।
पूर्वोक्तगन्धैर्विधिवल्लिखित्वा धारयेत्प्रिये ॥ २५७ ॥

शिखायामथवा कण्ठे करे वा वामदक्षिणे ।
धारणाज्जायते शौर्यं शतमल्लविमर्दनम् ॥
बलं भवति तस्याशु नवनागसहस्रकम् ॥ २५८ ॥
इदं यन्त्रं सदा गोप्यं देयं पुत्राय साधवे ॥ २५९ ॥

इति बलकरं यन्त्रम् ।

प्रतिमाचालनं यन्त्रं शृणु चान्यत्वशानने ।
तदेव चाग्निसंस्तंभकारकं समुदीरितम् ॥ २६० ॥

रवौ वह्नौ रसे विश्वे मनौ बाणे चतुर्थके ।
रुद्रे त्वांघे पंक्तिसंख्ये तिथौ नागे स्वरे तथा ॥ २६१ ॥

षोडशे नवमे पक्षे संमिते क्रमशो लिखेत् ।
साध्यसाधकयोर्वर्णानिकीकृत्य दलीकृतान् ॥ २६२ ॥

विलिखेत्पूर्वपूर्वाच्च विधिना परमेश्वरि ! ।
साध्यमत्र महेशानि ! चामुण्डा शववाहिनी ॥ २६३ ॥

**प्रतिमाचालनकरमग्निस्तंभकरं च यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ९ | १६ | २ | ७ |
| ६ | ३ | १३ | १२ |
| १५ | १० | ८ | १ |
| ४ | ५ | ११ | १४ |

पूर्वोक्तैरेव तैर्द्रव्यैर्विलिखेच्चाष्टगन्धकैः ।
धारयेत्प्रतिमायास्तु मूर्धिन सा चलते क्षणात् ॥ २६४ ॥

इदमेव परं यन्त्रं विलोड्यजलमध्यतः ।
प्रोक्षयेदग्निसंदग्धं भवति प्रिये ॥
महान्तमग्निं शमयेद्दावानलमथापि वा ॥ २६५ ॥

इदं यन्त्रं मया प्रोक्तं प्रतिमाचालनं परम् ।
महाग्निस्तंभनं भद्रे ! सम्यगेव प्रकाशितम् ॥ २६६ ॥

इति प्रतिमाचालनकरमग्निस्तंभकरं च
यन्त्रमेकोनचत्वारिंशत्तम् ।

अथ सम्यक् शृणु प्राज्ञे यन्त्रं तु कुलवर्द्धनम् ।
येषां कुले संततिर्नो तेषां चातिहितं महत् ॥ २६७ ॥

वन्ध्यानां पुरुषाणां तु नारीणां तु विशेषतः ।
हितकारि मया प्रोक्तं यन्त्रं तन्त्रार्थकोविदे ॥ २६८ ॥

तुर्ये षष्ठेऽश्वगत्या च मन्त्रिगत्या नवात्मके ।
वाजिगत्या तिथौ लेख्यं गजगत्या मनौ लिखेत् ॥ २६९ ॥

सूर्ये तु वाजिगत्याथ सप्तमे मन्त्रिमार्गतः।
प्रथमे वाजिगत्याथ विलिखेत् साधकोत्तमः ॥ २७० ॥

तदंकाद्गजगत्या तु नागकोष्ठेषु संल्लिखेत्।
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य दलीकृतान् ॥ २७१ ॥

कुलवर्द्धनं यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| ८ | १५ | १० | १ |
| ९ | २ | ७ | १६ |
| ३ | १२ | १३ | ६ |
| १४ | ५ | ४ | ११ |

विलिखेत्पूर्वपूर्वात्तु विलोमगतिना प्रिये।
साध्यमत्र महेशानि ! पश्चपश्चात्मिका परा ॥ २७२ ॥

पूर्वोक्तैश्चाष्टगंधैश्च विलिख्य सुरसुन्दरि।
धारयेत्कटिभागे तु स्त्रियः कण्ठे तु बंधयेत् ॥ २७३ ॥

धारणाद्यन्त्रराजस्य कुलं वर्द्धति भामिनि।
अष्टपुत्रकुलं गेहे जायते पौत्रसंभवम् ॥ २७४ ॥

इदं यन्त्रं कुलकरं मया ते समुदीरितम्।
गोपनीयं प्रयत्नेन सर्वथा वीरवन्दिते ॥ २७५ ॥

इति कुलवर्द्धनं यन्त्रम्।

रथस्तंभकरं चैव गतिस्तंभकरं तथा।
शृणु प्राज्ञे प्रवक्ष्यामि नानाद्भुतविधायकम् ॥ २७६ ॥

रुद्रे त्रयोदशे पक्षे नागे बाणे तृतीयके।
षोडशे दशमे देवि पूरयेत्क्रमशः सुधीः ॥ २७७ ॥

तदङ्कान्नागगत्या तु नागकोष्ठानि पूरयेत्।
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य दलीकृतान् ॥ २७८ ॥

विलिखेत्पूर्वपूर्वाच्च विलोमगतिना प्रिये ।
साध्यमत्र महेशानि ! विज्ञेया शांभरी परा ॥ २७९ ॥
पूर्वोक्तैश्चाष्टगंधैश्च लिखित्वा धारयेत्करे ।
रथः स्तंभमयात्याशु वाजिवेगपुरस्कृतः ॥ २८० ॥

रथस्तम्भकरं यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| ४४ | ३ | ६ | ९ |
| ५ | १० | १५ | ४ |
| ११ | ८ | १ | १४ |
| २ | १३ | १२ | ७ |

शीघ्रगं च तथा पंगुं कुरु तेन विचारणा ॥ २८१ ॥
इदं यन्त्रं रथस्तंभगतिस्तम्भकरं स्मृतम् ।
गोपनीयं त्वया भद्रे ! निन्दकाय न दापयेत् ॥ २८२ ॥

इति रथस्तंभगतिस्तंभकरं यन्त्रम् ।

अथ वक्ष्ये महादेवि ! द्यूते विजयदायकम् ।
विवादे जयदं चैव शृणु देवि ! यथार्थतः ॥ २८३ ॥
पञ्चमे वह्निकोष्ठे च षोडशे पंक्तिसंमिते ।
तुर्ये रसे नंदमिते तिथौ सूर्ये स्वरे लिखेत् ॥ २८४ ॥

द्यूतविवादयोर्जयकरम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| १४ | ११ | २ | ५ |
| १ | ६ | १० | १५ |
| ७ | ४ | १६ | ९ |
| १२ | १३ | ८ | ३ |

द्यूतविवादयोर्जयकरयन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३ | ६ | १३ | १२ |
| १४ | ११ | ७ | २ |
| १० | १५ | १ | ८ |
| ५ | ४ | ९ | १६ |

द्वितीये विश्वसंख्ये तु मनौ प्रथमकोष्ठके ।
नागे शिवे क्रमाल्लेख्यं पंक्तिकोष्ठेऽप्युभे तथा ॥ २८५ ॥

साध्यसाधकयोर्वर्णानिकीकृत्य दलीकृतान् ।
विलिखेत्पूर्वपूर्वाच्च विलोमगतितोपि वा ॥ २८६ ॥

साध्यमत्र महेशानि ! विज्ञेया पञ्चभद्रिका ।
पूर्वोक्तैरेव तैर्द्रव्यैर्विलिख्य वरभामिनि ।
धारयेज्जानुमध्ये तु द्यूते विजयभाग्भवेत् ॥ २८७ ॥

विवादे कंठसंलग्नं यन्त्रं कुर्यात्सदानघे ।
विवादे विजयो जायेच्छत्रुनाशकरं परम् ॥ २८८ ॥

इदं यन्त्रं समुद्दिष्टं शुभायार्थकरं परम् ।
सदा गोप्यं त्वया देवि महाकौतुकदायकम् ॥ २८९ ॥

इति द्यूतविवादयोर्जयकरं यन्त्रम् ।

अथ वक्ष्ये शुभे देवि ! महानृत्यप्रदं परम् ।
इन्द्रजालकरं चान्यत्फलद्वयसमावृतम् ॥ २९० ॥

नटविद्याहितं चैव महाकपटकारकम् ।
पंक्तौ विकारे वह्नौ च बाणे नागे तु पक्षके ॥ २९१ ॥

विश्वे शिवे लिखेद्देवि नागगत्या ततः परम् ।
साध्यसाधकयोर्वर्णानिकीकृत्य दलीकृतान् ॥ २९२ ॥

नृत्येन्द्रिजालसिद्धिदम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| ९ | ६ | १३ | १६ |
| ४ | १५ | १० | ५ |
| १४ | १ | ८ | ११ |
| ७ | १२ | १३ | २ |

विलिखेत्पूर्वपूर्वात्तु विलोमगतिना प्रिये ! ।
साध्यमत्र महादेवि ! देवी वज्रेश्वरी परा ॥ २९३ ॥

पूर्वोक्तैरेव तैर्द्रव्यैर्विलिख्य विधिपूर्वकम् ।
धारयेच्चरणे दक्षे नृत्यारंभे सुरेश्वरि ॥ २९४ ॥

इन्द्रजालिकविद्यायां लोकान्संदर्शयेत्त्विदम् ।
लोकानां दृष्टिबन्धां च कुरुते नात्र संशयः ॥ २९५ ॥

इदं यन्त्रं नृत्यकरं तथेंद्रजालसिद्धिदम् ।
कथितं गोपनीयं ते स्वयोनिरिव पार्वति ॥ २९६ ॥

इति नृत्येन्द्रजालसिद्धिदं यन्त्रम् ४३ ।

महासारस्वतं यन्त्रं तथा मन्त्रस्य सिद्धिदम् ।
उभयं ह्येकतो वक्ष्ये सावधानं तथा शृणु ॥ २९७ ॥
मूर्खाणां तु हितार्थाय तथा विद्याभिवृद्धये ।
नानामन्त्रार्थसिद्धीनां फलदं विधिना स्मृतम् ॥ २९८ ॥
शिवे विश्वे बाणसंख्ये वह्नौ तुर्ये रसे मनौ ।
रवौ तु पूरयेद्देवि ! पूर्वं नागस्य मार्गतः ॥ २९९ ॥

**महासारस्वतप्रदं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १६ | ९ | ४ | ५ |
| ३ | ६ | १५ | १० |
| १३ | १२ | १ | ८ |
| २ | ७ | १४ | ११ |

साध्यसाधकयोर्वर्णनिकीकृत्यं दलीकृतान् ।
विलिखेत्पूर्वपूर्वाच्च विलोमगतिना प्रिये ॥ ३०० ॥
साध्यमत्र वरारोहे ! देवी त्रिपुरमालिनी ।
पूर्वोक्तैरेव तैर्द्रव्यैर्विलिख्य परिधारयेत् ॥ ३०१ ॥

कण्ठे सारस्वतप्राप्त्यै मन्त्रसिद्ध्यै तु मूर्द्धनि ।
धारणात्सर्वविद्यानां वेत्ता भवति भामिनि ॥
मन्त्रसिद्धिमवाप्नोति शीघ्रमेव न संशयः ॥ ३०२ ॥
इदं यन्त्रं समुद्दिष्टं महासारस्वतप्रदम् ।
मन्त्रसिद्धिकरं ह्येतद्गोपनीयं प्रयत्नतः ॥ ३०३ ॥

इति महासारस्वतप्रदं यन्त्रम् ।

चतुष्कोष्ठात्मकं यन्त्रं शृणु चान्यत्सुरेश्वरि ?
प्रथमं कोपहरणं घोरशब्दहरं परम् ॥ ३०४ ॥

षडीतिहरणं चान्यत् पाटच्चरहरं परम् ।
प्रवक्ष्यामि विभेदेन पूर्वपूर्वार्णभेदतः ॥ ३०५ ॥

रवौ मनौ तथा चन्द्रे स्वरे विश्वे शिवे गजे ।
पक्षे वह्नौ बाणमिते दशमे षोडशे रसे ॥ ३०६ ॥

तुर्ये तिथौ चाङ्कमिते विलिखेत्परमेश्वरी ।
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य दलीकृतान् ॥ ३०७ ॥

कोपह. यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३ | ८ | ९ | १४ |
| १० | १३ | ४ | ७ |
| १६ | ११ | ६ | १ |
| ५ | २ | १५ | १२ |

घोरश. यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| ५ | १६ | १० | ३ |
| २ | ११ | १३ | ८ |
| १५ | ६ | ४ | ९ |
| १२ | १ | ७ | १४ |

षडीति. यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| १२ | १५ | २ | ५ |
| १ | ६ | ११ | १६ |
| ७ | ४ | १३ | १० |
| १४ | ९ | ८ | ३ |

पाटच्च. यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| १४ | ७ | १ | १२ |
| ९ | ४ | ६ | १५ |
| ८ | १३ | ११ | २ |
| ३ | १० | १६ | ५ |

विलिखेत्पूर्वपूर्वाच्च कोष्ठसंख्याविभेदतः ।
साध्यमत्र महेशानि ! मालिनी परमेश्वरी ॥ ३०८ ॥

पूर्वोक्तैरेव तैर्द्रव्यैर्विलिख्य परिधारयेत् ।
बाहौ वा दक्षिणे कण्ठे धारयेद्यन्त्रनायकम् ॥ ३०९ ॥

धारणात्कोपहरणं घोरशब्दं च नाशयेत् ।
षडीतिहरणं क्षेत्रमध्यस्तंव विधारितम् ॥ ३१० ॥

पाटच्चरहरं मार्गे दृष्ट्वा यन्त्रं पुरो व्रजेत् ।
पाटच्चरभयं हित्वा सुखी चरति मार्गतः ॥ ३११ ॥

इदं यन्त्रं चतुष्कोष्ठसंज्ञकं परिकीर्त्तितम् ।
गोप्यं तु सर्वदा भद्रे ! नात्र कार्या विचारणा ॥ ३१२ ॥

इति चतुष्कोष्ठात्मकं यन्त्रम् ।

मृतकोत्थापनं चान्यद्विकलीकरणं तथा ।
यन्त्रं समष्टियोगेन कार्यद्वयसमावृतम् ॥ ३१३ ॥

नागे पक्षे तथा विश्वे रुद्रे पंक्तौ तु षोडशे ।
वह्निकोष्ठे बाणसंख्ये नागगत्या ततः परम् ॥ ३१४ ॥
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकत्र योजयेत्पुनः ।
दलीकृत्य विलोमेन पूरयेद्देशिकोत्तमः ॥ ३१५ ॥
साध्यमत्र वरारोहे ! देवी त्रिपुरभैरवी ।
पूर्वोक्तैश्चाष्टगन्धैश्च विलिखेत्पूर्वमार्गतः ॥ ३१६ ॥

**मृतकोत्थापकं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १३ | २ | ७ | १२ |
| ८ | ११ | १४ | १ |
| १० | ५ | ४ | १५ |
| ३ | १४ | ९ | ६ |

धारयेद्ब्रह्मरन्ध्रे च मृतकस्य वरानने ! ।
इदमेव रिपोर्गेहे निखनेद्देहलीतटे ॥
विकलीकरणं कुर्याद्यदासौ लंघयेद्धि तत् ॥ ३१७ ॥
वर्णमात्राक्रमभिदां ज्ञात्वा वै यन्त्रनायकम् ।
महाश्चर्यमयं देवि ! गोपनीयं प्रयत्नतः ॥ ३१८ ॥

इति मृतकोत्थापकं यन्त्रम् ४६ ।

इदानीं शृणु देवेशि ! षट्कोष्ठं तु महाद्भुतम् ।
यन्त्रराजं तु देवेशि ! सद्यः प्रत्ययकारकम् ॥ ३१९ ॥
धर्मप्रदं चार्थदं च कामदं मोक्षदं त्विदम् ।
ज्ञानदं लयदं ह्येतत्षट्कोष्ठं सकलार्थदम् ॥ ३२० ॥
विश्वे रुद्रे वसौ नेत्रे वह्नौ बाणे च दिङ्मिते ।
षोडशे चापरान्कोष्ठे नागगत्या समालिखेत् ॥ ३२१ ॥
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य दलीकृतान् ।
विलिखेत्पूर्वपूर्वाच्च विलोमगतिना प्रिये ॥ ३२२ ॥
साध्यमत्र महेशानि ! भीमचण्डीपरात्परा ।
पूर्वोक्तैरेव तैर्द्रव्यैर्यथांकार्यं विचारितैः ॥ ३२३ ॥

विलिख्य यन्त्रराजं तु धारयेद्दक्षिणे करे।
हृदये वाथ देवेशि ! सद्यः फलमवाप्नुयात् ॥ ३२४ ॥

धर्मदं यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| १५ | ४ | ५ | १० |
| ६ | ९ | १६ | ३ |
| १२ | ७ | २ | १३ |
| १ | १४ | ११ | ८ |

अर्थदं यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| ११ | २ | ६ | १५ |
| १४ | ७ | ९ | ४ |
| ११ | २ | १६ | ५ |
| ८ | १३ | ३ | १० |

कामदं यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| ८ | ११ | १४ | १ |
| १३ | २ | ७ | १२ |
| ३ | १६ | ९ | ६ |
| १० | ५ | ४ | १५ |

मोक्षदं यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| १० | १३ | ३ | ८ |
| ५ | १६ | २ | ११ |
| ४ | ९ | ७ | १४ |
| १५ | ६ | १२ | १ |

ज्ञानदं यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| ५ | १५ | १० | ५ |
| ९ | ६ | ३ | १६ |
| ७ | १२ | १३ | २ |
| १४ | १ | ८ | ११ |

लयदं यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| १४ | १ | ८ | ११ |
| ७ | १२ | १३ | २ |
| ९ | ६ | ३ | १६ |
| ४ | १५ | १० | ५ |

इदं यन्त्रं च षट्कोष्ठं कथितं तव गौरवात्।
गोपनीयं त्वया भद्रे ! त्वां शपे कुलनायिके ॥ ३२५ ॥

इति षट्कोष्ठात्मकं यन्त्रम्।

खेचरीसिद्धिदं यन्त्रं कथयामि फलप्रदम्।
इदं यन्त्रं तु सकलार्थप्रदं परिकीर्त्तितम् ॥ ३२६ ॥
फलद्वयप्रदं ह्येतत्कार्यगौरवलाघवात्।
नवमे च तिथौ वेदे रसे षोडशके पुनः ॥ ३२७ ॥
दशमे पञ्चमे वह्नौ पक्षे नागे शिवे पुनः।
विश्वे स्वरे चन्द्रमिते मनौ भानौ समालिखेत् ॥ ३२८ ॥
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य दलीकृतान्।
विलिखेत्पूर्वपूर्वाच्च विलोमगतिना प्रिये ॥ ३२९ ॥
साध्यमत्र वरारोहे ऋद्धिस्तु परमेश्वरी।
पूर्वोक्तैरेव तैर्द्रव्यैर्लिखित्वा यन्त्रनायकम् ॥ ३३० ॥
धारयेच्च स्वके देहे खेचरीसिद्धिभाग्भवेत्।
सकलार्थप्रदं ह्येतद्रहस्यं यन्त्रमुत्तमम् ॥ ३३१ ॥

## खेचरीसिद्धिदं यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| १४ | ९ | ८ | ३ |
| ७ | ४ | १३ | १० |
| १ | ६ | ११ | १६ |
| १२ | १४ | २ | ५ |

इदं यन्त्रं समाख्यातं युग्मकार्यार्थसाधकम् ।
गोपनीयं सदा देवि ! नात्र कार्या विचारणा ॥ ३३२ ॥

इति खेचरीसिद्धिदं यन्त्रम् ।

चतुष्कोष्ठात्मकं यन्त्रं समष्टिफलदायकम् ।
तवाग्रे कथयिष्यामि महाकौतुककारकम् ॥ ३३३ ॥
कामधेन्वभिधं चैतत्कल्पवृक्षाभिधं त्विदम् ।
चिन्तामणि-समाख्यंच रोहिण्याख्यं ततः परम् ॥ ३३४ ॥
चतुःकोष्ठं तु विज्ञेयं मनोभिलषितप्रदम् ।
सप्तमे प्रथमे देवि ! भुवने- भानुसंमिते ॥ ३३५ ॥
नवमे च तिथौ वेदे रसे बाणे तृतीयके ।
षोडशे दशमे रुद्रे त्रयोदशमिते लिखेत् ॥ ३३६ ॥
द्वितीये चाष्टमे मन्त्री गुर्वनुज्ञा पुरःसरम् ।
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य दलीकृतान् ॥ ३३७ ॥
विलिखेत्पूर्वपूर्वाच्च विलोमगतिना प्रिये ।
साध्यमत्र महेशानि ! मूलप्रकृतिसंभवा ॥ ३३८ ॥

**कामधेनुः**

| | | | |
|---|---|---|---|
| २ | १५ | १० | ७ |
| ९ | ८ | १ | १६ |
| ५ | १२ | १३ | ४ |
| १४ | ३ | ६ | ११ |

**कल्पद्रुमः**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १४ | ५ | ९ | २ |
| ३ | १२ | ८ | १५ |
| ६ | १३ | १ | १० |
| ११ | ४ | १६ | ७ |

**चिन्तामणिः**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ११ | ६ | ३ | १४ |
| ४ | १३ | १२ | ५ |
| १६ | १ | ८ | ९ |
| ७ | १० | १५ | २ |

**रोहिणीः**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ७ | १६ | ४ | ११ |
| १० | १ | १३ | ६ |
| १५ | ८ | १२ | ३ |
| २ | ९ | ५ | १४ |

पूर्वोक्तैश्चाष्टगन्धैस्तु विलिख्य सुरसुन्दरि ! ।
धारयेद्दक्षिणे बाणौ वांछितार्थप्रदायकम् ॥ ३३९ ॥

इदं चतुःकोष्ठमयं मनोभिलषितप्रदम् ।
गोप्तव्यं सर्वथा भद्रे ! नास्तिकेभ्यः सदैव हि ॥ ३४० ॥

इति चतुःकोष्ठाभिधं यन्त्रम् ।

अमरौघवशं नाम यन्त्रराजं शृणु प्रिये ! ।
यन्त्रस्यास्य प्रभावेण देवाः सर्वे वशंवदाः ॥ ३४१ ॥
पक्षे नागे शिवे विश्वे स्वरे चैव सुरेश्वरि ।
पुनश्चन्द्रे मनौ भानौ नंदके साधकोत्तमः ॥ ३४२ ॥
तिथौ वेदे रसे पश्चात्षोडशे दशमे शरे ।
वह्नौ लिखेत्क्रमेणैव पूर्वपूर्वविभेदतः ॥ ३४३ ॥

देववश्यकरं यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| ६ | १ | १६ | ११ |
| १५ | १२ | ५ | २ |
| ९ | १४ | ३ | ८ |
| ४ | ७ | १० | १३ |

प. देववश्यकरं यन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| ११ | १६ | १ | ६ |
| २ | ५ | १२ | १५ |
| ८ | ३ | १४ | ९ |
| १३ | १० | ७ | ४ |

साध्यसाधकयोर्वर्णनिकीकृत्य दलीकृतान् ।
विलिखेद्देशिकः सम्यग्विलोमगतिना तथा ॥ ३४४ ॥
साध्यमत्र महेशानि ! कंटकीवश्यकारिणी ।
गंधाष्टकैः पूर्वमुक्तैर्विलिख्य धारयेत्सुधीः ।
अमरौघा वशं यान्ति सद्य एव न संशयः ॥ ३४५ ॥
इदं यन्त्रं समुद्दिष्टं देवौघवशकारकम् ।
गोपनीयं त्वया देवि ! पशुभ्यः सर्वथाद्भुतः ॥ ३४६ ॥

इति देववश्यकरं यन्त्रम् ५० ।

अधुना शृणु देवेशि ! यन्त्रराजं महाद्भुतम् ।
फलस्य कारकं ह्येतन्महाकालाभिधं शुभम् ॥ ३४७ ॥
महारौरवसंज्ञं तु कालघ्नं नरकापहम् ।
दशमे पञ्चमे वह्नौ पक्षे नागे शिवे पुनः ॥ ३४८ ॥
विश्वेस्वरे चन्द्रसंज्ञे मनौ भानौ नवात्मके ।
तिथौ वेदे रसे पश्चात्षोडशे विलिखेत्क्रमात् ॥ ३४९ ॥

नरकघ्नम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| ९ | ४ | ३ | १४ |
| २ | १५ | ८ | ५ |
| १२ | १ | ६ | ११ |
| ७ | १० | १३ | १६ |

साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य दलीकृतान् ।
विलिखेत्पूर्वपूर्वाच्च विलोमगतिना प्रिये ॥ ३५० ॥
साध्यमत्र विजानीयात्कमला रक्तवाहिनी ।
पूर्वोक्तैश्चाष्टगन्धैश्च विलिख्य सकलार्थदम् ॥ ३५१ ॥
धारयेत्कण्ठगं शश्वत्कालघ्नं नरकं हरेत् ।
विहरेत्पूर्णवर्षायुर्न विघ्नैरभिभूयते ।
महापातककर्त्तापि नरकं नैव पश्यति ॥ ३५२ ॥
इदं यन्त्रं मया किंचित्संकोचात्प्रकटीकृतम् ।
गोपितव्यं मम वचो साधुभ्योथ प्रदर्शयेत् ॥ ३५३ ॥

इति नरकघ्नं यन्त्रम् ।

अथातः शृणु देवेशि ! ब्रह्मास्त्रं यन्त्रनायकम् ।
यस्य विज्ञानमात्रेण यन्त्रसिद्धिर्हि जायते ॥ ३५४ ॥
नन्दे पञ्चदशे वेदे रसे चैव तु षोडशे ।
दशमे पञ्चमे वह्नौ पक्षे नागे शिवे पुनः ॥ ३५५ ॥

ब्रह्मास्त्रयन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| १४ | ९ | ८ | ३ |
| ७ | ४ | १३ | १० |
| १ | ६ | ११ | १६ |
| १२ | १५ | २ | ५ |

विश्वे स्वरे भूमिमिते मनौ भानौ यथाक्रमम् ।
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य दलीकृतान् ॥ ३५६ ॥

विलिखेत्पूर्वपूर्वाच्च विलोमविधिना शिवे ।
साध्यमत्र तु सावित्री गायत्री पृथिवीति च ॥ ३५७ ॥

पूर्वोक्तगन्धवृन्देन विलिख्य हृदि धारयेत् ।
सर्वं फलति देवेशि ! पूर्वोक्तं यन्त्रमुत्तमम् ॥ ३५८ ॥

इदं यन्त्रं वरारोहे ! तवाग्रे प्रकटीकृतम् ।
गोपनीयं त्वया भद्रे ! सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥ ३५९ ॥

इति ब्रह्मास्त्रं यन्त्रं द्विपञ्चाशत्तमम् ।

अथोच्यते महेशानि ! यन्त्रराजो मनोहरः ।
नारसिंहं तथा यन्त्रं नारायणमथापरम् ॥ ३६० ॥

भवत्येव महादेवि ! यन्त्रैकं तु फलद्विभाक् ।
नारसिंहं भयहरं रक्षकं चापरं प्रिये ॥ ३६१ ॥

**नारसिंहं नारायणं च यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| ११ | १६ | १ | ६ |
| २ | ५ | १२ | १५ |
| ८ | ३ | १४ | ९ |
| १३ | १० | ७ | ४ |

नयने नागकोष्ठे तु शिवे विश्वमिते स्वरे ।
चन्द्रे मनौ रवौ नन्दे तिथौ वेदे रसे पुनः ॥ ३६२ ॥

विकारे दशमे बाणे वह्निकोष्ठे लिखेत्सुधीः ।
साध्यसाधकयोर्वर्णनिकीकृत्य दलीकृतान् ॥ ३६३ ॥

विलिखेत्पूर्वपूर्वाच्च विलोमेन सुरेश्वरि ।
साध्यमत्र महामाया देवी त्रिभुवनेश्वरी ॥ ३६४ ॥

पूर्वोक्तैरेव तैर्द्रव्यैर्विलिख्य सुरसुन्दरि ।
धारयेत्कंठगं वापि बाहौ वा दक्षिणे प्रिये ॥ ३६५ ॥

धारणान्निर्भयो देवि ! जायते मानवः प्रिये ।
रक्षितो देवतावृन्दैर्जायते परमेश्वरि ॥ ३६६ ॥

एष ते यन्त्रराजस्तु मया सम्यगुदीरितः ।
गोपनीयोऽशुभेभ्यो हि देयः शिष्येभ्य एव च ॥ ३६७ ॥

इति नारसिंहं नारायणं च यन्त्रम् ५३ ॥

अथ वक्ष्ये रौद्रसंज्ञं चान्यद्घोरमपूर्वकम् ।
विधिवत्कथयिष्येहं फलद्वयसमन्वितम् ॥ ३६९ ॥

षोडशे दशमे बाणे वह्नौ नेत्रे वसौ शिवे ।
विश्वे स्वरे चन्द्रसंज्ञे मनौ भानौ तथांकके ॥ ३७० ॥

तिथौ वेदे रसे पश्चात्षोडशाद्विलिखेत्क्रमात् ।
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य सुरेश्वरि ! ॥ ३७१ ॥

रौद्राघोरयन्त्रम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| १० | ५ | ४ | १५ |
| ३ | १६ | ९ | ६ |
| १३ | २ | ७ | १२ |
| ८ | ११ | १४ | १ |

दलीकृत्य पूर्वपूर्वाद्विलोमविधिना शिवे ।
साध्यमत्र सुरेशानि देवी श्रीधूम्रलोचना ॥ ३७२ ॥

पूर्वोक्तैरेवद्रव्यैर्विलिख्य परिधारयेत् ।
कण्ठे वा वामबाहौ वा हृदये मूर्ध्नि धारयेत् ॥ ३७३ ॥

धारणाज्जायते सौख्यं रौद्रं ग्लानिविनाशनम् ।
अघोराज्जायते देवि निग्रहानुग्रहक्षमः ॥ ३७४ ॥

मया तु धार्यते देवि यन्त्रराजः सुरेश्वरि ! ॥ ३७५ ॥
इदं यन्त्रं मम हितं गोपनीयं तु सर्वदा ॥ ३७६ ॥

इति रौद्राघोरयन्त्रम् ५४ ।

अधुना शृणु देवेशि ! यन्त्रराजाभिधं परम् ।
न कस्यचिन्मया प्रोक्तं दृष्टं वापि न केनचित् ॥ ३७७ ॥
तदिदं तव सम्प्रीत्या प्रसन्नोस्मि तवानने ।
अस्मात्परतरं नास्ति मम प्रेम्णो विवर्द्धनम् ॥ ३७८ ॥
नंदे तिथौ तथा वेदे रसे च षोडशे पुनः ।
दशमे पञ्चमे वह्नौ नेत्रे चैव वसौ शिवे ॥ ३७९ ॥
विश्वे स्वरे भूमिमिते मनौ सूर्ये लिखेद्बुधः ।
साध्यसाधकयोर्वर्णानेकीकृत्य दलीकृतान् ॥ ३८० ॥

**शिवसाम्यप्रदं यन्त्रम्**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १४ | ९ | ८ | ३ |
| ७ | ४ | १३ | १० |
| १ | ६ | ११ | १६ |
| १२ | १५ | २ | ५ |

विलिखेत्पूर्वपूर्वाच्च विलोमगतिना प्रिये ।
साध्यमत्र महेशानि भवानी भवतारिणी ॥ ३८१ ॥
पूर्वोदितैस्तथागंधैर्विलिख्य विधिना प्रिये ।
धारयेन्मस्तके भद्रे ! मम तुल्यो हि जायते ॥ ३८२ ॥
हर्ता कर्ता स्वयं पाता जायते मानवोत्तमः ॥ ३८३ ॥
इदं यन्त्रं यन्त्रराजाभिधं तुभ्यं प्रकाशितम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन स्वयोनिरिव पार्वति ॥ ३८४ ॥

इति शिवसाम्यप्रदं यन्त्रम् ॥

इति श्रीशिवताण्डवे सर्वतन्त्रोत्तमेदक्षिणामूर्त्ति-पार्वती संवादे षोडशकोष्ठयन्त्रकथनं नाम

चतुर्दशः पटलः ॥

# तन्त्रामोद एवं शिवताण्डव

## भाषानुवादसहित शिवलहरीव्याख्यायुक्त:

## आचार्यचक्रपाणि कृत

डॉ. महाप्रभुलाल गोस्वामी के द्वारा प्रणीत तन्त्रामोद एवं शिवलहरी व्याख्यासहित शिवताण्डवतन्त्र विषय का अपूर्व ग्रन्थ है इसमे दार्शनिक दृष्टि से तन्त्र विषयों के विश्लेषण के साथ काल तत्त्व का विस्तृत विवरण है। महाकाल और काली का तन्त्र में विशिष्ट स्थान है। श्रीरामकृष्ण परमहंस जी आदि आधुनिक सिद्धगण इनकी आराधना से ही भोग और मोक्ष उभय की प्राप्ति की और लोक का उद्धार किया इस ग्रन्थ में इनका मूल आधार कालतत्त्व का दार्शनिक विश्लेषण दिया गया है। इस में शिवलहरीव्याख्यासहित शिवताण्डव का भी समावेश लौकिक एवं अलौकिक सभी कामनाओं की सिद्धि के साधन यन्त्रों का सन्निवेश कर अब तक अप्रकाश्य विषयों को देकर जिज्ञासुओं के लिए एक अपूर्व जानकारी के साथ यन्त्रों का भी प्रकार निरूपण किया है। इसके प्रयोग बहुत सहज हैं, अत: आज ही इसका संग्रहकर अपनी कामना की पूर्ति करें।

शिवलहरीव्याख्यासहित शिवताण्डव का हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन प्रथम बार हो रहा है। यन्त्रों के प्रति जिज्ञासु एवं कामनाओं की पूर्ति के साधन के लिए इधर-उधर भटकने वाले व्यक्तियों के लिए यह एक अपूर्व संग्राह्य ग्रन्थ है। इसके प्रयोग के द्वारा सभी कामनाओं की प्राप्ति अनायास की जा सकती है तथा आर्तजनों की पीडा का भी सहज में निवारण किया जा सकता है। इस अमूल्य अपूर्व ग्रन्थ का आज ही संग्रह करें। इसके प्रयोग सर्वथा अनुभूत और गोपनीय है।

(का. सं. ग्र. २३८)

---

शाखाएं :

**चौखम्भा संस्कृत भवन**
पोस्ट बाक्स नं० ११६०
चौक, (दि बनारस स्टेट बैंक बिल्डिंग)
वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)

•

**चौखम्भा पब्लिकेशन्स**
४२६२/३ अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली-११०००२

॥ श्रीः
का. सं.
२३८
तन्त्रामोद एवं शिवताण्डव
डॉ. महाप्रभुलाल गोस्वामी